

पता-शास्त्रप्रकाश कार्यालय विहदूपुर जिला मुज

जोड़

सूर्यसिद्धान्त

अर्थात्

खगोलविद्या का अतिप्राचीन सर्वमान्य आर्षग्रन्थ

जिस को बने २१६५००० सौर वर्ष हुए

जिस को

श्रीयुत बा० शिवरामसिंह जी के कनिष्ठ पुत्र श्री

उदयनारायण सिंह "सर्वदर्शन संग्रह, सिद्धान्त

शिरोमणि और आर्यभटीय ज्योतिष

शास्त्र के अनवादक" ने अपने

देशीय भाइयों के उप-

कारार्थ लोकभाषामें

प्रकाशित

किया

आर्य संवत् १९३२-१९०० विक्रम संवत् १९६०

SURYA SIDDHANTA.

AN ANCIENT ASTRONOMY OF INDIA.

COMPILED ABOUT 2165000 YEARS AGO

AND TRANSLATED INTO HINDI AND PUBLISHED

BY

Udaya Narain Singh, Author of Sanskrit Pravesika,

Sarva Darshan Sangrah, Siddhant Shiromany and

Arya Bhattiya.

PRINTED AT THE SWAMI PRESS (WITH MACHINE) MEERUT

AND

Published at the Shashtra Prakash Office

P. O. BIDDOPUR DIST. MOZUFFERPORE.

First Edition 1,000 Copies.

ओ३म्

प्रस्तावना

भारतभूमि सर्वविध रत्नों की प्रसवित्री है। भारतवर्ष जगत् का प्रदर्श-
मागार कहकर भूमण्डल पर सुप्रसिद्ध है। भारतवर्ष प्रकृति का प्रियतम निके-
तन है, प्रकृति देवी की विभिन्न ग्रीष्म कान्त मूर्ति का एकत्र समावेश भारत
में पूर्णरूप से विकसित दृष्ट होता है। भारतवर्ष में किसी दृश्य का
अभाव नहीं। भारत विभिन्नभाषाभाषी, विभिन्न धर्मावलम्बी, विभिन्न
जातीय लोगों की आवास भूमि है। भारतवर्षभित्त भूमण्डल के कहीं
जाति, धर्म, भाषा, वर्ण, स्वभाव और आचारगत सम्पूर्ण वैसा दृश्य का दस
प्रकार सन्निवेश परिलक्षित नहीं। संक्षेप से भारतवर्ष की सुद्रावतन पृथिवी
कहने से भी अत्युक्ति दोष से दूषित नहीं होना पड़ेगा ॥

भारतवर्ष जिस प्रकार मनोमुग्धकर नैसर्गिक दृश्यादि में जगत् में सर्वश्रेष्ठ,
एक समय घन एव ज्ञान रत्न में भी भारत उसीप्रकार श्रेष्ठ आसन पर अ-
धिष्ठित था। महामूल्य घन रत्न की प्रसवित्री कहकर मिसरीय, फिनिमीया,
युहूदी, ग्रीक, रोमन, आरब और चैनिकप्रभृति नाना प्राचीन वैदेशिक जाति
वाणिज्य व्यवदेश से भारत में आगमनकर भारत के धनो से अपना २ घना-
गार परिपूर्ण करते थे। भारत के अतुल ऐश्वर्य पाने की दुराशा में विनोदित
होकर नामाजातीय, नाना देशीय दिग्विजयी गण भारत को अपने कर-
तल गत करने में विभिन्न समय में प्रयासी हुए हैं, एव निदारुण उत्पीड़न से
तिरीह भारतवासी को उत्तत्त, उत्पीड़ित और भयसन्त्रस्त कर खींचते थे।
विषयी एव विजातीय वैदेशिक दस्युदल के बारबार आक्रमण से भारतवर्ष
विध्वस्त, विपर्यस्त और परपदान्त होना आया एव भारत की अतुल-
नीय धनराशि बारबार विलुप्टित होती रही है ॥

प्राचीन भारत जिस प्रकार घन रत्न में जगत् में सर्वश्रेष्ठ था, धानरत्न
में भी उसीप्रकार अतुलनीय था। जिस समय पृथिवी का अधिकांश देश असभ्य
आमनासगोली, अरण्यधारी मनुष्यों द्वारा परिपूर्ण था। उस समय भारत
सभ्यता के उद्यतम शिखर देश में अधिष्ठित रहकर स्वीय सीमाव्य मभा ने
जगत् को सुग्ध और पुलकित करता था। जिस समय समस्त जगत् चोरतन

अज्ञानान्धकार में समाच्छन्न था, जिस समय ज्ञान एवं सभ्यता का क्षीणालोक भी यूरुप आदि महादेश में जनैः २ पादविक्षेप द्वारा प्रसृत नहीं हुआ था । उस समय भारत विद्या, युद्धि, ज्ञान और सभ्यता के पूर्ण आलोक से जगत् की आलोकित कर अविनश्वर गौरव महिमा में सर्वश्रेष्ठ गौरवान्वित हुआ था । क्या धर्म, क्या ज्ञान, क्या दर्शनशास्त्र, क्या गणित, क्या ज्योतिष, क्या भौतिक्य तत्त्व, क्या काल्य, क्या इतिहास, क्या क्लृप्त, क्या वाणिज्य, क्या भाषा, क्या साहित्य सर्वविध विषय ही में भारत जगत् के शीर्षस्थानीय था । जो आर्यजाति अतुल्य साहस, विक्रम, तेजस्विता और मनस्विता प्रभाय से भूमण्डल में अक्षयकीर्ति लाभ कर गई है, जो आर्य जाति एक समय पृथिवी में सब विषयों में सर्वश्रेष्ठ जाति कहकर परिगणित हुई थी, जो आर्यजाति ज्ञान और सभ्यता के विमल आलोक में जगत् की उद्भासित कर जगत् का शिक्षा गुरु बहुसम्मानार्ह वरणीय पद पर अभिरूढ़ थी, जिस आर्य जाति के गौरव के प्रभाय से भारतवर्ष जगत् के इतिहास के शीर्षस्थान में विराजमान हो रहा है, जिस आर्य जाति के वंशधर कहकर हम परपद-दलित होकर भी अब तक सभ्यसमाज में सम्मान से परिगृहीत होते हैं । उसी जगद्गुरु आर्यजाति की अपूर्व विद्या ज्योतिषशास्त्र आज अद्भुत चक्र के आवर्त्तन से कीर्तिविलीपकारी कराल काल की विस्मृति कवच में निहित है ॥

इस समय आर्यप्रतिभा पर कुछ कहूंगा । अधिकांश सभ्यजन पद में जो संख्या लिखने की प्रणाली चल रही है, भारतवर्ष ही उस की उत्पत्ति का स्थान है । एक से ८ संख्या एवं शून्य, एवं संख्या आदि आर्य ही लोगों ने पहिले सृष्ट की थी ॥

पाटीगणित की दशगुणोत्तर संख्या लिखने की प्रणाली आर्यों की सृष्टि है । अरबवासीगण ने भारतीय आर्यों के निकट से यह सीख कर युरोप में प्रचार किया । अरबवासियों ने स्पष्टतः इस विषय में अपने को आर्य शिष्य कहकर स्वीकार किया है । युरोपीय लोग इस बात का अनुमोदन करते हैं । जो निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध है ॥

(a.) "The Hindoos are distinguished in Arithmetic by the acknowledged invention of the decimal notation.".....P. 142, Elphinstone's History of India.

(b.) "The Hindoos invented the decimal notation. Arabians took hints from them, whence the Europeans came to know the figures."

S. W. JONES, in his Annals-Courses.

(c.) "Bahaiddin, an Arabian, ascribes the invention of the numeral figures in the decimal scale to the Indians. As the proof commonly given of the Indians being the inventors of these is only an extract from the preface of a book of Arabic poems, it may be as well as to mention that all the Arabic and Persian books of Arithmetic ascribe the invention to the Indians.

P. 184. Vol. XII Asiatic researches.

बीजगणित भी भारतवासी की सृष्टि । यूरोपीय लोगों ने बीजगणित को सुसलमानों से पाया था । बीजगणित का Algebra नाम 'आलजिबरा' शब्द से समुत्पन्न । खोटीय प्रयोद्घ शताब्दी के आरम्भ में डिउनाई ने सुसलमानों के निकट बीजगणित सीखकर, इस का यूरुप में प्रचार किया । सुसलमानों ने आलजिबरा चीन देश में दिक्ताइडन को सिखलाया, किन्तु सुसलमान लोगों ने इस विषय में आर्यभट्ट घराहनिहिर ब्रह्मगुप्त प्रभृति ग्रन्थों से शिक्षा की ७७३ ख्रीष्टाब्द में खलीफा आलमनमूर के राजत्वकाल में पहिले अरबी भाषा में भारतवर्षीय गणितशास्त्र अनुवादित हुआ । बहुत से लोगों की सम्मति यह है कि " ग्रीकदेशीय गणितविद दिक्ताइडन ३६० ख्रीष्टाब्द में प्रादुर्भूत हुआ । वह आर्यभट्ट से पहिले हुये" किन्तु कएडम पविहल के पहिले पराथर, गर्ग प्रभृति भारतीय गणितविद्गण ने ज्ञान ग्रहण किया था । १५०८ ख्रीष्टाब्द में यन्वेली ने बीजगणित प्रकाशित किया यही दिक्ताइडन का अनुवाद । यन्वेली ने स्पष्ट स्वीकार किया है जो आरय आदि के पहिले भारतवर्षीय लोग बीजगणित जानते थे । फलतः आरय लोगों के निकट यूरोपीय लोग अनेक विषयों में ज्ञानी एवं ये आरय लोग हम आर्यों के निकट पद २ में ज्ञानी हैं । इस विषय में यूरोपीय पविहल का जो लेख है उसे प्रकाशित करता हूँ ॥

"Leonard of Pisa introduced Algebra into Europe; he learned it at Beegin, in Baghary, where his father ascribe in the Custom House by appointment from Pisa; his is dated A. D. 1202." Owell's note to Elphinstone's History of India P. 115.

"Mohammed Ben Musa is recognized among the Arabians as the first who made Algebra known to them. He is the same who abridged, for the gratification of Almainum, an astronomical work taken from Indian system in the preceding age, under Almansur. He framed tables likewise, ground on those of the Hindoos, which he professed to correct. And he styled and communicated to his countrymen the India's compendious method of computation."

Colebrook's dissertation prefixed to his translations from Sanskrit Algebra.

"Priority seems their decision in favor of Greeks and Hindoos against

any pretensions on the part of the Arabians who, in fact, however, prefer none inventors of Algebra. They were avowed borrowers in science and by their own unvaried acknowledgement from the Hindoos, they learnt the science of numbers. That they also received the Hindoo Algebra, is much more probable than that the same Mathematician who studied the Indian Arithmetic and taught it to his Arabian brethren, should have hit upon Algebra unaided by any hint or suggestion of the India analysis."

Colebrook's dissertations.

"The first Arabian Mathematician translated a Hindoo book in the reign of the Khalif Almansur, A. D. 773."

Cowell's note to Elphinstone's History of India P. 145.

"The Arabs became acquainted with the Indian Astronomy and numeral science, before they had any knowledge of the writings of Grecian astronomers and Mathematicians, and it was not until after more than more century, and nearly two, that they had the benefit of an interpretation of Diophantus, whether version or paraphrase, executed by Mahammed Abul Waphs Al Buggana."

Colebrook's Dissertation P. XXI.

"We know of no Greek writer on Algebra, but Diophantus; neither he nor any known another of any age or of any country, has spoken directly or indirectly of any other Greek writer on Algebra has with a term to designate the science."

P 163, Vol. XII Asiatic researches

"In 1579 Bombulli published a treatise of Algebra, in which he says that he and a lecturer at Rome whom he names, had translated part of Diophantus adding that they had found that in the said work the Indian authors are often cited, by which they learnt that science was known among the Indians before the Arabians had it" P. 161, Vol. XII.

Asiatic researches.

वेकनसाहब कहते हैं कि खीष्ट के ४००० वर्ष पूर्व भारतवर्ष में गणित ज्योतिष की अत्युन्नति थी। वेळीनामक जनैक फरासी परिष्ठत ने लिखा है कि हिन्दुस्तान में ५००० वर्ष पहिले ज्योतिषशास्त्र उत्तम अवस्था में पाया जाता था।

ऐसे भारतीय प्राचीन ज्योतिषशास्त्रकी अमूल्य रत्न के अन्वेषण में निश्चेष्ट, निष्क्रिय, परपदानत भारतवासी आर्यसन्तान की प्रवृत्ति और उदासाह नहीं उत्पन्न होते ॥

जिस प्रकृत ज्योतिषशास्त्र के न जानने से भारतवासी वेद आदिसृष्टास्त्रों के गूढार्थ समझने में असमर्थ होकर वेद, ब्राह्मण, पुराण आदि प्रतिपादित ज्योतिष मूलक आलङ्कारिक छेत्तों का स्रष्टा निन्दित आशय समझकर

हमारे ऋषियों की गुरुतल्पगामी, किसी की चोर, किसी की इन्द्रिय पर-
 वश होकर नन्दन वन में रक्तादि अपवरा लेकर आइया की, कोई अभिमानी,
 कोई स्वार्थपर, किसी को लोभी, सब ही महापापी, सब ही दुबल, प्रह्ला
 ने अपनी लड़की के साथ भोग किया। श्री कृष्ण ने ब्रजाङ्गनाओं के साथ
 शाखविरुद्ध मैथुनादि कर्म किया, यमयमी संवाद, गौतम अहल्या कथा इत्यादि।
 चन्द्रमा ने अपनी ३३ स्त्रियों में से विशेषतः रोहिणी के साथ प्रीति की। पृथिवी
 का पुत्र मङ्गल, चन्द्रमा का पुत्र बुध, देवताओं का गुरु बृहस्पति आदि ॥

आज हम उसी वेद के उ. अङ्गों में से सर्वप्रधान सिद्धान्त ज्योतिष के अनुवाद
 करने को प्रयत्न हुए हैं। आशा है कि हमारे भारतवासी इस असूक्ष्म भारतवर्ष
 प्राचीन वेदाङ्ग ज्योतिषशास्त्र (सूर्यसिद्धान्त) के भाषानुवाद को पढ़कर वेद एवं
 अन्योन्य वैदिक एवं लौकिक ग्रन्थों का प्रकृत अर्थ समझ कर लाभ उठावेंगे॥

हम प्रथम ज्योतिष विषयक शृङ्खा समाधान प्रमाण एवं युक्ति पूरित
 'बृहद्भूमिका' लिखेंगे तदनन्तर सूर्यसिद्धान्त का अनुवाद आरम्भ करेंगे।
 इस समय धनाभाव से इस के साथ चित्र (नक्शा) नहीं उपधा सके। कारण
 यह है कि अनुमानतः चित्रों के छपने में ३०० रुपये लगेंगे, परन्तु यदि हमारे
 ऋषि सन्तान ने इस आवृत्ति के सूर्यसिद्धान्त को हाथों हाथ लेकर हमारे
 परिश्रम को सफल किया तो आशा है कि अगली आवृत्ति में अवश्य नविन
 सोदाहरण सू० सि० उपधायेंगे ॥

स्थान मधुरापुर

हाक-बिहृदपुर

जिला मुजफ्फरपुर

१८।१।८६

आप का शुभचिन्तक-

उदयनारायणसिंह (आर्य)

सूर्यसिद्धान्त-भूमिकास्थ विषयानुक्रमणिका सूचीपत्रम्

विषय	पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
ज्योतिष शास्त्र का लक्षण	१	सूर्य एक ही है	२४
ज्योतिषशास्त्र की वेदाङ्गत्व	१	सूर्य में कलङ्क	२५
सिद्धान्तज्योतिष के २२ ग्रन्थों के नाम	३	शुक्र ग्रह की सत्ता	२५
सूर्यसिद्धान्त की रचना आदि	४	शुक्र का चित्र (Venus) नाम क्यों ?	२६
ज्योतिषके सहिता स्कन्ध का विचार	८	शुक्र की काणा क्यों कहते हैं ?	२६
ज्योतिष के मुहूर्त ग्रन्थों का विचार	८	वेदोक्त अश्विनी	२७
मुहूर्त के ग्रन्थों के रचना कालादि	८	बुधग्रह की सत्ता	२७
ज्योतिष के होरा (जातक ताजक)		बुध चन्द्रमा का पुत्र क्यों ?	२८
शकुन केरल ग्रन्थों का विचार	१०	चन्द्रमा उपग्रह है	२८
ग्रन्थ तालिका	११	चन्द्रमा का भगणकाल	२८
धनारस के सुप्रसिद्ध महामहोपाध्याय		चन्द्रमा की सत्ता	२८
प० बापूदेव शास्त्री रक्त फलित ज्यो-		चन्द्रमा सूर्य से प्रकाशित होता है	२९
तिष विचार	१२	चन्द्रमा जलमय है	३०
नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह के लक्षण	१८	मङ्गलग्रहकीसत्ता एवं भगण काल	३०
ग्रह	१८	मङ्गल भूमि का पुत्र क्यों ?	३१
सामयिक नक्षत्र	१९	मङ्गल का लोहिताङ्ग क्यों नाम पडा	३१
रूपविकारी नक्षत्र	१९	बृहस्पति ग्रह की सत्ता	३१
यमल नक्षत्र	२०	बृहस्पति के देवपुरोहित देवगुरु	
आकाश गङ्गा	२१	क्यों नाम ?	३१
गगनमण्डल विभाग	२०	आङ्गिरस क्यों ?	३२
ग्रहों के विभक्त करने के नियम एवं		बृहस्पति ग्रह का रङ्ग	३३
वेदिक प्रमाण	२१	शनैश्चर ग्रह का भगण संस्था आदि	
नक्षत्र गण एक २ लोक विशेष है	२२	शनैश्चर, सीरि आदि नाम क्यों ?	
सूर्य ग्रह नहीं है किन्तु ग्रहपति है	२३	रोहिणी का शकटभेद और पद्म-	
सूर्य के सात घोड़े आदि	२३	पुराण की कथा	३५
वायु का कारण सूर्य	२४	प्रजापति (युरेनस) ग्रह की सत्ता	
ऋतु का कारण सूर्य	२४	आदि	३५

विषय	पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
चरुण(नेपचुन)यह की संस्था आदि ३५		नक्षत्रों की देवता	५५
उत्तर खण्ड के नक्षत्रों का वर्णन ३८		देवता ज्ञापक चक्र	५८
दिश्यमान, नीकापुत्र, } ३९		गति के लक्षण	५८
यम, अगस्त्य, त्रिशङ्कु }		चक्रावर्तया दृष्टाभास	५८
सप्तर्षि तारे और वा- } ४०		केन्द्रान्तिकर्षणी शक्ति	५९
हमीकीय रामायण }		केन्द्रापसारणी शक्ति	५९
की त्रिशङ्कु की कथा }		पृथिवी का गोलत्व, सूर्य	
देवमान ४२		का उदयास्त	६०
विद्यमान ४२		पृथिवी का आधार आकार	६२
शनिष्ठा, देवयानी आदि		पृथिवी के भ्रमण में मुक्तिपां	६५
नक्षत्र पुञ्ज ४३		पृथिवी आदि छोको के भ्र-	
मध्य खण्ड के नक्षत्रों का वर्णन ४३		मण में भारतवर्षीय ग्रन्थों	
राशिचक्र अचल है ४३		का प्रमाण	७१
सूर्योदय से सप्तम उग्र राशि		पृथिवी भ्रमण में आपुनिक	
में अस्त क्यों होता है ? ४५		ग्रन्थकारों की विरुद्ध सम्मति	७५
राशिचक्र का वेद में उल्लेख ४६		धनारस राजकीय संस्कृत का-	
अथर्व वेद से २८ नक्षत्रों का वर्णन ४८		लेख सुप्रसिद्ध ज्योतिष के	
फालीदास कृत ज्योतिर्विदा-		आचार्य महामहोपाध्य	
भरण से प्रत्येक २७ नक्षत्रों		५० वापूदेवशास्त्री कृत	
की आकृति आदि ४८		पृथिवी भ्रमण भीमांसा	७६
राशिचक्र का चित्र ५२		काल	८६
चन्द्रमा की स्त्री रोहिणी क्यों		कलि, द्वापर, त्रेता, कृतयुग	८७
३३ कन्याओं की अपेक्षा रो-		१४ मन्वाभ्तर	८८
हिणी में अधिक स्नेह क्यों ? ५५		प्रलय	९०
कार्तिक स्वामी की कथा ५५		श्रुत	९१
		दिनरात्रि	९५

विषय	पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
दिनमान	८६	श्रग्वेद में सूर्यग्रहण का उल्लेख	११०
वारपति, होरापति, भासा		सूर्यग्रहण कहीं न कहीं प्रतिदिन	-
धिय आदि	८७	होता है	११०
वारप्रवृत्ति	८७	अंतपयशास्त्रण आदिक वैदिकग्रन्थों	
मान	८८	का प्रमाण	१११
अधिमास	८८	ग्रहणसमय देशदेशान्तरों की	
१५ तिथिया	१००	पोंपछीछा	११६
चन्द्रकला हास्यद्वि	१०१	प्रज्ञाश्रुविचार	११७
तिथि	१०१	सयत् शक आदि २३ प्रकार के	
तिथिप्रमाण	१०२	सयत् का सक्षिप्त इतिहास	११८
अमावास्या	१०२	भूमकेतु	१२३
पौर्णमासी	१०३	उल्कापिण्ड	१२४
शुक्लपक्ष	१०३	उधार एवं भाटा	१२६
कृष्णपक्ष	१०३	वेध या पर्यवेक्षणिका	१२८
क्षयतिथि	१०४	भारतवर्ष में कहीं २ वेधशाला थी	१३१
सायन	१०४	भूगोल वर्णन	१३१
निरपण	१०५	वेदादि से भुवन संख्या का प्रमाण	१४२
सर्व शास्त्रसम्मत सायन पक्ष		भूगोल एवं खगोल रेखा विषयक	
ठीक है	१०६	आर्थ ग्रन्थों का प्रमाण	४४
ग्रहण	१०८	उपयोगिता शास्त्रोक्त कठिन शब्दोंका	
चन्द्रग्रहण के नियम	१०९	भाषार्थ	१४७
सूर्यग्रहण के नियम	१०९		



अथ सूर्यसिद्धान्तस्थ विषयानुक्रमणिका सूचीपत्रम्

विषय	पृष्ठ-श्लोक	विषय	पृष्ठ-श्लोक
मङ्गलाधरण	१	ग्रहस्पष्टाधिकार	१
ज्योतिष ज्ञान के लिये	२	ग्रहों का व्यासंस्कार	१४
मयासुर का तप वर्णन		ग्रहों का मन्दकेन्द्र संस्कार	३४
और घर पाना		ग्रहों का शीघ्र केन्द्र संस्कार	४०
सूर्यांश पुरुष की उत्प-	३	ग्रहों का नतिसाधन	४५
त्ति पूर्वक मय के राश		दिनमान रात्रिमान ज्ञान	५८
संवाद वर्णन		ग्रहों का नक्षत्रानयन	६४
काल भेद निरूपण	१०	योगों का लाना	६५
पुनमान सन्धि और सन्ध्यांशमान	१५	तिथियों का लाना	६६
मन्यन्तर मान	१८	करण का लाना	६७
कल्पमान	१९	इति स्पष्टाधिकार: २	६८
धराद्वै कालमान	२१	—३—	
ग्रहादि स्पष्ट करने के	२३	त्रिमश्राधिकार	१
लिये दर्पणानयन		दिग्ज्ञान	१
ग्रहों की गतिनिरूपण		जामाज्ञान	५
भगण स्वरूप	२७	अज्ञान	१३
अहर्गणसाधन	४५	अज्ञ से चलता का लाना	१६
भगणादि ग्रहानयन	५३	भुजसाधन	२२
संवत्सर का लाना	५५	स्वदेशोदयादि ज्ञान	४३
मध्य ग्रह का लाना	५६	काल साधन	४८
रेखा देश	६२	इति त्रिमश्राधिकार: ३	५०
वार मयुक्ति कालज्ञान	६६	—४—	
ग्रहों का तात्कालिक करना	६७	चन्द्र ग्रहण	१
इति सध्याधिकार: १	७०	पूर्व चन्द्र विम्बस्फुटीकरण	१

विषय	पृष्ठ-श्लोक	विषय	पृष्ठ-श्लोक
दोनों ग्रहण की संभूतिज्ञान	६	उदयास्ताधिकार	१
पात साधन	८	पांच ताराओं का पश्चिमास्त	
विम्ब प्रयोजन	९	और पूर्वोदय	२
ग्रह का लाना	१०	चन्द्रमा, बुध, शुक्र का	
मध्यग्रहण स्पर्शमोक्ष कालज्ञान	१६	पूर्वास्त और पश्चिमोदय	३-४
निमीलनोत्थान कालज्ञान	१७	इष्ट कालांश का लाना	४
सूर्यग्रहण में विशेषता	१९	वृहस्पति आदि का कालांश	६
ग्रह लाने के अनेक भेद	२०	कालांशमान द्वारा अस्तोदय	}
विम्बों की अङ्गुली यमाना	२४	का गतेऽप्यत्र ज्ञान	
इति चन्द्रग्रहणाधिकारः ४		मलग्रहों का अस्तोदय ज्ञान	
		इति नवमाधिकारः ८	
चन्द्रग्रहण से सूर्यग्रहण		—*—	
साधने में विशेषता	१	चन्द्रमा का अस्तोदय शङ्को-	
नति साधन	१०	कति निर्णय	१
इति पञ्चमोऽध्यायः ५ ।		चन्द्र शङ्कोकति परिलेख	१०
		इति पाताध्यायः १०	
सूर्य और चन्द्रग्रहण का परि-		—*—	
लेखाधिकार	१	कान्ति की समता लाना	२
इति षष्ठेऽध्यायः ६		स्पष्ट पातकाल ज्ञान	११
—*—		पञ्चाङ्गस्थ व्यतिपात ज्ञान	२०
युति भेद निरूपण	१	गण्डमास्त स्वरूपादिक	२१
दृक्मं निरूपण	३	अकांश पुरुष वाक्योपसंहार	२३
विम्ब काल का लाना	११	इति पाताधिकारः ११	
मुहु समागम निरूपण	१८	२४	
इति सप्तमोऽध्यायः ७		—*—	
—*—		भूगोल ज्ञानार्थं मयाधुर कृत मल	१
मलग्रह बुधक और शरज्ञान	१	सूर्यांश पुरुषोक्ति	११
योग तारा ज्ञान	१६	जगदुत्पत्तिक्रम	१२
इति मलग्रह ग्रहयुत्यधिकारः ८	२१	सूर्य ही सर्वात्मा	१५
—*—		महाभूतोत्पत्ति	२३

विषय	पृष्ठ-श्लोक	विषय	पृष्ठ-श्लोक
पञ्चतारोत्पत्ति	२४	ज्योतिषोपनिषन्निरूपण	१
शशि नक्षत्रोत्पत्ति	३५	गोलबन्धन विधि	३
रचित पदार्थों की संख्या	२१	अनेक प्रकार के मन्त्रों के साधन	१८
ब्रह्माण्ड गोल	२८	चपनिपट्ट कल श्रुति	२५
ग्रह भूगोलादिक का आकाश में परिस्रमण }	३०	इति त्रयोदशोऽध्यायः १३ नानाध्याय १	
सात प्रालय	३३	—○※○—	
मेरु स्थिति	३४	ब्राह्मण्यमान १	२
भूगोल में समुद्र का अवस्थान	३६	सौर मान २	३
भूगोल में प्रालय } कोटि लङ्का से एक } कुरु देश का वर्णन }	३८	चान्द्रमान ३	१२
देवासुर के दिन रात का निश्चय	४५	पितृमान ४	१४
गोलस्थिति का वर्णन	६२	मातृमान ५	१५
कक्षानिरूपण	७५	सायनमान ६	१८
आकाश कक्षा ब्रह्माण्ड- मार्गंत ब्रह्माण्ड कक्षा का नामान्तर बृहद्भूमि मान }	८०	द्वितीयमान ७	२०
सूचक		प्राजापत्यमान ८	२१
इति भूगोलाध्यायः १२		ब्राह्मण्यमान ९	२१
		ग्रन्थ की समाप्ति कर }	
		कलश्रुति कहना }	२२
		इति चतुर्दशोऽध्यायः १४	

सूर्यसिद्धान्तस्य भूमिकायाः शुद्धिपत्रम्

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ-पङ्क्ति
उपवेद	उपवेद,	२ ६
शास्त्रादऽस्मात्	शास्त्रादस्मात्	२ १०
वेदचक्षुः	वेदचक्षुः	२ २३
व्योतिष	व्योतिष	२ २७
अवेदव्योतिष	अवेदव्योतिष	३ २८
दत्त्वा	दत्त्वा	५ ४
सिद्धान्त	सिद्धान्त	६ ८
जातक	जातक या	१० ८
यवन	यवन	१२ २४
भूट	भूट	१४ २८
विद्वानो से	विद्वानो ने	१८ १
ब्रह्मानी	ब्रह्मानीन्तन	२० ४
कारणन	कारण	२२ ३
नक्षत्रे	नक्षत्रे	२२ ८
चित्रविचित्र	चित्रविचित्र के	२२ १८
कृत्ति	कृत्तिका	२२ २५
शक्र	शुक्र	२५ २२
सख्या	सख्या	२६ ११
गाढ	गह	३० २४
चलने वाला	चलने वाला)	३३ २४
छाह	छोड़	३८ २
पुष्ट	पुष्ट	३८ १०
परिप्यन्ति	परिप्यन्ति	४० २१

सानुवाद सूर्यसिद्धान्तस्य शुद्धाऽशुद्ध पत्रम्

		संख्या	
अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङ्क्ति
समय	मास	४	१५
को उत्तर निवासी के	के उत्तर निवासी	५	११
४३०००	४३२०००	६	६८
Circumfirence	Circumferance	८	२४
धाले	वाले	८	२६
Signa	Sign	९	५४
विकला	कुटिला	३२	१
प्रकार	प्रवस्था	३२	११
इस प्रकार इस प्रकार	इस प्रकार	४३	१४
वर्तमान वर्तमान	वर्तमान	४३	५५
केन्द्रकारक	केन्द्र करके	४७	१४
शुद्ध	शुद्धवर्ग	४८	१५
सूर्य	सूर्य	५८	२२
संख्या	संख्या	५८	५५
विमर्ह	विमर्दार्ह	६०	५५
यहण	यह	६१	८
गागा	होगा	६८	२०
पूर्व	पूर्ववत्	६८	६१
शलाका	शलाका	७१	३३
रुक्ताः	रुक्ताः	७६	२७
तदन्तर	तदन्तर	८४	११
राशपादि	राशपादि	८६	५३
शुद्ध	शुद्ध	८२	१० २२ ५४ ९

जी३म्

ज्योतिष शास्त्र

ज्योतिष शब्द का सामान्य अर्थ तारा आदिक प्रकाशमान वस्तु और शास्त्र का अर्थ बतलाने वाला "ज्योतिषशास्त्र" अर्थात् जिस के द्वारा सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्यान्य नक्षत्रादिकों की गति विधि प्रभृति का ज्ञान हो— जिसका लक्षण श्री भास्कराचार्य ने अपनी सिद्धान्तशिरोमणि में यों लिखा है:—

घ्रुयादिप्रलयान्तकालकलनामानप्रभेदः क्रमाञ्चारश्च
दुसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा सौत्तराः । भूधि-
ण्यग्रहसंस्थितेश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते सिद्धान्तः
स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधैः ॥ ६ ॥

भावार्थः—काल के सब से छोटे भाग को "घ्रुटि" कहते हैं। घ्रुटि से कल्प पर्यन्त काल की गणना, सौर, सावन, नाक्षत्रादि कालमान, एवं प्रत्यनु-कला से जगण पर्यन्त क्षेत्रपरिमाण, ग्रह एवं नक्षत्रादिकों की गति, व्यक्त तथा अव्यक्त गणित (Mathematics), प्रश्नोत्तर सहित एवं पृथ्वी आदि ग्रहों की संस्थिति और यन्त्रादिकों का वर्णन इत्यादि जिसमें हों ~~दुस~~ को पण्डित लोग "सिद्धान्त ज्योतिष" कहते हैं ॥ ६ ॥

कतिपय पण्डित लोग ज्योतिषशास्त्र के दो भाग मानते हैं एक पूर्वोक्त सिद्धान्त ज्योतिष एवं दूसरा कलित ज्योतिष। कलित का लक्षण "कलित विचार" में लिखा गया है, वही देखें ॥

ज्योतिष शास्त्र की वेदाङ्गत्व

प्राचीन इतिहासों से यह बात सर्वथा सिद्ध है कि दुनियां तर में वेद से प्राचीन धर्मपुस्तक दूसरा कोई नहीं है। इस अपौरुषेय वेद को (किन्ती व्यक्ति ने इसकी रचना नहीं की) अनादिकाल से हम मनुष्यों के हितार्थ ईश्वर ऋषियों द्वारा प्रत्येक सृष्टि की आदि में प्रकाशित करता है। वेद सच विद्याओं का भण्डार है। इस वेद के चार भाग हैं:—१ ऋग्वेद, २ यजुर्वेद, ३ सामवेद, ४ अथर्ववेद, एवं इनकी ११२३ शाखाएँ हैं ॥

इन वेदों को समझने व पढ़ने पढ़ाने के लिये हमारे महर्षियों ने ४

उपवेद, ६ अङ्ग, और ६ उपाङ्ग बनाये हैं। उपवेद-१ आयुर्वेद (वैद्यकशास्त्र)
२ धनुर्वेद (युद्धशास्त्र) ३ गान्धर्ववेद गानविद्या और ४ अथर्ववेद (शिल्प-
शास्त्र) हैं। अङ्ग-१ शिक्षा, २ कल्प, ३ व्याकरण, ४ निरुक्त, ५ ज्योतिष और
६ छन्दः शास्त्र है। और उपाङ्ग-१ वैशेषिकशास्त्र, २ न्यायशास्त्र, २ योगशास्त्र,
५ सांख्यशास्त्र, ५ पूर्वमीमांसा, ६ उत्तरमीमांसा वा वेदान्त हैं। जब तक इन
उपवेद अङ्ग और उपाङ्गों को प्रथम नहीं पढ़ ले तब तक वेदों का यथार्थ
तत्त्व समुप्य नहीं जान सकता। हमें इन छः अङ्गों में से यहां ज्योतिष
शास्त्र के विषय में ब्रह्मण्य है। ब्राह्मराचार्य ने लिखा है कि-

वेदास्तावदङ्गकर्मप्रवृत्ता यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण ।
शास्त्रादऽस्मात् कालबोधोयतः स्याद्वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्यो-
क्तमस्मात् ॥ ८ ॥ सिद्धान्तशिरोमणौ ॥

भावार्थः-जिस कारण वेदों में बहुधा यज्ञ का विधान है और यज्ञ करने
में समय निर्दिष्ट किया जाता है कि अमुक समय यज्ञ करना चाहिये, यज्ञ वेदी
इतनी लम्बी चौड़ी होनी चाहिये, यज्ञकुण्ड अष्टकोण, चतुष्कोण आदि
आकार का होना चाहिये, और यज्ञशाला इस २ प्रकार होनी चाहिये इत्यादि
ज्ञान बिना ज्योतिष शास्त्र के नहीं हो सकता-इस लिये ज्योतिषशास्त्र को
“वेदाङ्गत्व” है। अथ रूपकालङ्कार से वेद को अङ्गी एवं निरुक्तादि छः शास्त्रों
को इसके अङ्ग वर्णन करते हैं:-

“शब्दशास्त्रं मुखं ज्योतिषं चक्षुषी, श्रोत्रमुक्तं निरुक्तञ्च
कल्पः करी। या तु शिक्षास्य वेदस्य सा नासिका, पाद-
पद्मद्वयं छन्द आदौर्बुधैः ॥९०॥

“वेदचक्षुः किलेदं स्मृतं ज्योतिषं, मुख्यता चाङ्गमध्येऽस्य
तेनोच्यते । संयुतोऽपीतरैः कर्णनासादिभिश्चक्षुषाङ्गेन
हीनो न किञ्चित्करः ॥९१॥ सिद्धान्तशिरोमणौ ॥

भावार्थः-वेद (शरीर) के व्याकरण तो मुख, ज्योतिषशास्त्र नेत्र, शिक्षा
नासिका, और छन्दः शास्त्र पैर हैं। वेद के नेत्ररूपी ज्योतिषशास्त्र होने से छ अङ्गों में
सब से श्रेष्ठ ज्योतिष शास्त्र है-क्योंकि नेत्रहीन व्यक्ति अन्यान्य सब अङ्ग रहने पर

भी अन्यान्य अर्थों से नेत्र का काम नहीं ले सकता। इस लिये किसी कार्य के करने में असमर्थ होता है। इसी प्रकार विना ज्योतिष शास्त्र पढ़े वेद के यज्ञादिक कार्य तथा गृहनिर्माणादि कार्य नहीं हो सकते ॥

यहां ज्योतिषशास्त्र से "सिद्धान्त ज्योतिष" समझना चाहिये, कलित नहीं। कलित वस्तुतः ज्योतिषशास्त्र नहीं है और न उस का वेदोक्त यज्ञादिक कार्य से सम्बन्ध है, क्योंकि वेद या उस की शाखा में विधिवाक्य हैं कि "पुत्रेष्टि" आदि यज्ञ अमुक वयं, मास, ऋतु, पक्ष, तिथि, नक्षत्र में करना चाहिये और यज्ञ कुछ समस्ततुल्य आदि होना चाहिये, तथा यज्ञशाला आदि इतनी लम्बी चौड़ी होनी चाहिये। अब इस के अनुसार ज्योतिष शास्त्र से वयं, मास आदि यथोचित निर्धारित होता है, कलित ज्योतिष से नहीं ॥

इस में सन्देह नहीं कि कलित ज्योतिष से स्वार्थसिन्धु लोगों को टका कमाने का और भारत को भारत कर भारत बनाने का अच्छा बुविधा मिलता है। छींकना, मैथुन करना, धोती पहनना, पढ़ना, लिखना, बेचना, खरीदना, विवाह करना, बेचारी करना, परदेश जाना आदि जितने सांसारिक कार्य वा अकार्य हैं सब ही के लिये जैसी कीस दाखिल करें, वैसा मुहूर्त लीजिये ॥

सिद्धान्त ज्योतिष (Astronomy)

काल के सब से छोटे भाग को "वृटि" कहते हैं, वृटि से लेकर कल्प पर्यन्त काल की गणना, वीरगास, नक्षत्रादि कालमान, एवं बिकला से भगण पर्यन्त क्षेत्रपरिमाण तथा नक्षत्रादिकों की गति, व्यक्त एवं अव्यक्त गणित (Mathematics) प्रश्नोत्तर सहित एवं पृथिवी आदि ग्रहों की स्थिति और चन्द्रादिकों का घटन वृत्त्यादि विषय जिस में ही उस को परिचित गण "सिद्धान्त ज्योतिष" कहते हैं ॥

इस के निम्नलिखित प्रामाणिक ग्रन्थ हैं

१ अथ सिद्धान्त	८ अर्थ	सिद्धान्त	१५ इन्द्र	सिद्धान्त
२ सूर्य सिद्धान्त	९ व्यास	"	१६ सत्यविवेक	"
३ सोम सिद्धान्त	१० पराशर	"	१७ सार्व भौम	"
४ रोमक	११ भोज	"	१८ लघु आर्य	"
५ वसिष्ठ	१२ वराह	"	१९ बृहद् आर्य	"
६ पौलस्त्य	१३ ब्रह्मगुप्त	"	२० ऋग्वेद ज्योतिष	"
७ बृहस्पति	१४ सिद्धान्तशिरोमणि	"	२१ यजुर्वेद ज्योतिष	"
			२२ अथर्व ज्योतिष	"

सूर्य सिद्धान्त रचना काल

आधुनिक सूर्य सिद्धान्त में १४ अधिकार और ५०० अनुष्टुप्छन्द के श्लोक हैं। इस के आरम्भ के श्लोक में लिखा है कि सत्ययुग के अन्त में सूर्य की आज्ञा से सूर्याश पुरुष ने सय नामक अमुर को ज्योतिष का उपदेश किया जिस को देने आज शाके १८२५ तक २१६५००४ सौर वर्ष हुए ॥

परन्तु आधुनिक सूर्यसिद्धान्त कृत युगान्तकालिक नहीं है, इस विषय में महामहोपाध्याय श्री पण्डितमुधाकर द्विवेदी प्रोफ़ेसर संस्कृतकालिज बनारस ने पद्यसिद्धान्तिका की भूमिका में लिखा है, जिस का मैंने उपयोगी समझ कर यहां उल्लेख किया है:-

“सूर्यसिद्धान्तरचनाकालस्तु नित्यानन्देन सिद्धान्तराज-
कृता कलेः पट्त्रिंशच्छतमितेऽब्दगणे व्यतीते निगद्यते ।
स कालस्तु आर्यभट्टकृतसिद्धान्तस्य समकालिकएव सि-
ध्यति विभाति च तथ्यनित्यानन्देन प्रतिपादितमार्य भ-
ट्टीयसिद्धान्ते न कुत्रापि सूर्यसिद्धान्तमतप्रतिपादनात् ।
साम्प्रतं प्रचलितसूर्यसिद्धान्तः कृतयुगान्तकालिकस्तु
केतचिदन्येन प्रकल्पितो नवीन इति स्फुटमेव सूक्ष्मवि-
चारप्रवृत्तानां गणकानाम् । भारतवर्षे ऋषिप्रणीतानां
सिद्धान्तानामेव प्रमाणं नान्येपांतेन भारतवर्षीयाश्चिरं-
तना आचार्याः कमपि मुनिप्रणीतसिद्धान्तं स्वीकृत्य
तत्र बीजादिकं दत्वा स्वंस्वं सिद्धान्तं चक्रुर्यथा ब्रह्मगु-
प्तेन ब्रह्मसिद्धान्तं स्वीकृत्यात्मसिद्धान्तो विरचितः ॥

प्रसङ्गोक्तं ग्रहगणितं महता कालेन यत्सिद्धीभूतम् ।

अभिधीयते स्फुटं तज्जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन ॥

भास्कराचार्येणापि स एव ब्रह्मसिद्धान्तः स्वीकृतएव
नन्येऽपि सूर्यसिद्धान्तादीन् स्वीकुर्वन्ति तेन तत्तदाचार्य
इचितसिद्धान्तान् तत्तत्स्वीकृतमुनिसिद्धान्त नाम्ना व्य-

वहरन्ति तत्तदुत्तरकालीना विद्वांसोऽतएव वदन्ति घराह-
मिहिराचार्यः “ पञ्चभ्यो द्वावादौ व्याख्यातौ लाटदेवेन ”
अर्थात् लाटाचार्येण द्वौ पौलिशरोमकसिद्धान्तौ व्याख्या-
तौ तयोर्भगणादिषु बीजं दत्त्वा विस्तारितौ स्वकृतसिद्धान्ते
अत्रेदमुक्तं भवति - लाटाचार्येण पौलिश रोमक सि-
द्धान्तौ स्वीकृत्य तत्र बीजादिविशेषं विधाय रचितोऽन्यः
सिद्धान्तः । अत एव यथा मदीयं करणं सर्वजनस्वीकृतं भवे-
दिति बुद्ध्या पञ्चानां सिद्धान्तानां मतानि स्वीकृत्य रचिता
चाचार्येण पञ्चसिद्धान्तिका । एवमेव विष्णुचन्द्रादयो
वसिष्ठसिद्धान्तादीन् स्वीकृत्य स्वान् सिद्धान्तान् रचया-
मासुः न ते साक्षाद्वासिष्ठादिसिद्धान्तकर्तार इति मन्मतम्॥

भाषार्थः—सिद्धान्तराज ग्रन्थकार नित्यानन्द कहते हैं कि सूर्य्य सिद्धान्त
कलिपुग के ३६०० वर्षं पीतने पर बना । यह समय आर्यं ऋतु कृत आर्यं सि-
द्धान्त के समकाल प्रसिद्ध ही है और सत्य ही प्रतीत होता है । क्योंकि आर्य्य
सिद्धान्त में सूर्य्य सिद्धान्त का कहीं भी उल्लेख नहीं है । आधुनिक सूर्य्य
सिद्धान्त को सत्ययुगान्तकालिक मानना केवल लोयों की कल्पनामात्र है ॥

भारतवर्ष में अपिक्त सिद्धान्त ग्रन्थों ही का प्रमाण माना जाता—
औरों का नहीं, इस लिये भारतवर्षीय विरन्तन आचार्यों ने किसी मुनि प्र-
णीत सिद्धान्त को मान कर उसमें बीजादिक दे अपने २ सिद्धान्त को बनाया—
जैसे ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मसिद्धान्त मान कर अपना सिद्धान्त रचा ।

“ ब्रह्मोक्त ग्रहगणित बहुत काल होने से जो नष्टप्राय हो गया उसी
को जिष्णुपुत्र ब्रह्मगुप्त स्पष्ट करते है ”

। भास्कराचार्य ने भी उसी ब्रह्मसिद्धान्त को माना इसी प्रकार और लोग
भी सूर्य्यसिद्धान्तादिक को मानते हैं । इस कारण उन २ आचार्य्यरचित
सिद्धान्तों को उन २ के माने हुए मुनिकृतसिद्धान्तों के नाम से तदुत्तर-
कालीन विद्वान् लोग व्यवहार करते हैं । इस लिये घराह मिहिराचार्य्य कहते
कि पांच सिद्धान्तों में से प्रथम दो की व्याख्या लाट देव ने की है अर्थात्
लाटाचार्य्य ने पौलिश और रोमक सिद्धान्त की व्याख्या की है । इन के

भगणादि में बीज मित्राय विस्तारित कर अपना सिद्धान्त बनाया । यही यह कहा जाता है कि छाटाचार्य ने पीलिथ और रोमक सिद्धान्त को मान कर उन में बीजादि विशेष देकर अन्य सिद्धान्त रचा । अत एव मेरा बनाया करण (ग्रन्थ) तब लोगों से माना जावे इस बुद्धि से पांचों सिद्धान्तों के मत को मानकर आचार्य ने इस पञ्चसिद्धान्तिका नामक ग्रन्थ की रचा । इसी प्रकार विष्णुबन्ध्यादिक ने वसिष्ठसिद्धान्तादि को मानकर अपने सिद्धान्त को बनाया । वसिष्ठ आदि मुनियों ने स्वयं नहीं बनाया—यह मेरा मत है ॥

और आर्यभट्ट ने शाके ३८८ में जन्म लेकर २३ वर्ष की अवस्था में आर्य सिद्धान्त बनाया जिस का प्रमाण उसी ग्रन्थ से मिलता है—

“कालः पष्टधब्दानां पष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्रयुगपादाः ।

त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः ”

(आर्यसिद्धान्ते कालक्रियापादे)

अर्थात् शाके ४२१ में यह ग्रन्थ बना—इस में सूर्यसिद्धान्त का कहीं भी उल्लेख नहीं है । एव वराहमिहिराचार्य ने जिस का देहान्त शाके ५०८ में हुआ अपनी पञ्चसिद्धान्तिका ग्रन्थ में जिस सूर्यसिद्धान्त का उल्लेख किया है उस से और आधुनिक सूर्यसिद्धान्त से अन्तर पड़ता है—इस से अनुमान होता है कि जो सूर्यसिद्धान्त वराहमिहिर के समय में था वह प्रचलित सूर्यसिद्धान्त से भिन्न दूसरा था । पाठकों के अवलोकनार्थ जोड़ा सा दोनों सूर्यसिद्धान्तों का विषय नीचे लिखते हैं:—

महायुगीय भगण संख्या—

वराहमिहिर उल्लिखित सूर्यसिद्धान्त		आधुनिक सूर्यसिद्धान्त	
ग्रहगण	भगण	ग्रहगण	भगण
सूर्य	१७८३७०००		१७८३७०६०
शुक्र	७०२२३८८		७०२२३७६
मङ्गल	२२८६८३४		२२८६८३४
बृहस्पति	३६४२२०		३६४२२०
शनिधर	१४६५६४		१४६५६८

वराहमिहिर के देहान्त होने का (शाके ५०८ में) प्रमाण—

नवाधिक पञ्चशतसंख्यशाके

वराहमिहिराचार्यो दिवं गतः ॥

फलित ज्योतिष का विचार

A Lecture on astrology by Pandit Bapu Deva Shastri, Professor of Astronomy, Benares Sanskrit College, Honorary Member of the Royal Asiatic Society London &c, the Asiatic Society Bengal, Fellow of the Calcutta University

फलित उस को कहते हैं जिस में दृष्ट काल के ग्रहों की स्थिति पर से भूत भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों काल के शुभ और अशुभ फल जानने के प्रकार रहते हैं। यह दो प्रकार का है, एक सहिता और एक होरा ॥

सहिता उसे कहते हैं जिस में उस २ काल के ग्रहों की स्थिति पर से सु-निश्चित, दुर्निश्चित, सुदृष्टि, अतिदृष्टि, अग्नि भय, वा राजकीय उपद्रव इत्यादि सर्वसाधारण शुभ वा अशुभ फल जानने के प्रकार हैं और जिस में किसी काम का आरम्भ करने के लिये ऐसा काल ठहराने के प्रकार रहते हैं, कि जिस काल में उस कार्य का आरम्भ करने से यह काम सफल होजाये। ऐसे (ठहराये हुये) काल को संस्कृत (फलित ग्रन्थ) में " मुहूर्त " और भाषा में " साङ्गत " कहते हैं ॥

होरा अथवा जातक उसे कहते हैं जिस में हर एक प्राणी के जन्म काल के ग्रहों की स्थिति पर से उस के समग्र जीवन का वृत्तान्त समझने की विधि रहती है। इस होरा शास्त्र का और भी एक भेद है जिस को ताजिक कहते हैं। इस में प्राणी के जन्म काल से हर एक वर्ष मास आदि के आरम्भ काल के ग्रहों की स्थिति पर से उस २ वर्ष, मास आदि का वृत्तान्त समझने के प्रकार रहते हैं ॥

यह फलित शास्त्र का इस देश में जिस समय संस्कृत विद्या का सूर्य अस्तप्राय होता था जिस को लगभग "वर्षहुये" कि प्रकार होने लगा। इस में जातक के ग्रन्थों में तो कितने एक शब्द केवल यन्म अर्थात् पीक भाषा के। इस से स्पष्ट ज्ञान पड़ता है कि जातक शास्त्र के कुछ विषय यहां के ज्यो-

तिष के ग्रन्थकारों ने ग्रीक लोगों से लिये हैं और "ताजिक" के तो सब विषय

ग्रीकों से लिये हैं क्योंकि उस के सयसांकेतिक शब्द अरबी भाषा में हैं।

अधिकांश आर्य लोग इस फलित ज्योतिष को समझते हैं और प्रायः इस में जो लिखा है उस के अनुसार आचरण करते हैं। मुहूर्त के विषय में तो किसी काम का आरम्भ अच्छी साङ्गत देखे बिना नहीं करते। जो किसी को कुछ

ब्राह्मणों को दान देता है और उन से जप होम इत्यादि करवाता है। यही घाल हिन्दू लोगो से है ॥

कल जानने के लिये गणित का ज्ञान अवश्य चाहिये, यही गणित या "सिद्धान्त ज्योतिष शास्त्र" का मुख्य उपयोग अधिकांश आर्य (हिन्दू) लोग समझते हैं। सिद्धान्त में जो जो लिखा है कि:-

ज्योतिःशास्त्रफलं पुराणगणकैरादेश इत्युच्यते,

नूनं लग्नचलाश्रितः पुनरयं तत् स्पष्टखेटाश्रयम् ।

ते गोलाश्रयिणोऽन्तरेण गणितं गोलोपि न ज्ञायते,

तस्माद्योगणितं न वेत्ति स कथं गोलादिकं ज्ञास्यति ॥

अर्थात्-पुराने ज्योतिषी लोग कहते हैं कि "आदेश" अर्थात् धृत भविष्यत् वर्तमान इन तीनों काल के शुभवा अशुभ का जो कहना है, सो ज्योतिष शास्त्र का प्रयोजन है। फिर आदेश लग्न के यल के आश्रय से है और यह लग्न स्पष्ट ग्रह से और स्पष्ट ग्रह "गोल" से ज्ञात होता है और बिना गणित के गोल समझ में नहीं आता, इस लिये जो गणित नहीं जानता सो गोल आदि कैसे जानेगा ॥

इस लिये बराहमिहिर ने अपनी संहिता में लिखा है कि:-

तन्त्रे सुपरिज्ञाते छायाभ्युयन्त्रसंविदिते ।

होराथं च सुरुढे नादौष्टुर्भरिती वन्ध्या ॥

अर्थात् जो गणित और सिद्धान्त को उत्तम प्रकार से जानता हो और शङ्कु की छाया और यही यन्त्र से लग्न जानता हो और जातक शास्त्र का सब अर्थ ठीक किया हुआ हो उस का कहा हुआ कल कभी व्यर्थ नहीं होगा ॥

इसी लिये यहां के बहुत लोग जो समझते हैं कि ये अंग्रेज लोग जो गणित और सिद्धान्त में बहुत प्रवीण होते हैं और जो बड़े २ यन्त्रों से सूहन चेप करके ग्रहों की स्थिति उत्तम प्रकार से जानते हैं, वे कलित में अवश्य बहुत अच्छे होंगे और इस लिये वे अच्छी सहायत पर मुहुरत करते होंगे सभी उन का सर्वत्र जप होता है ॥

और जो कोई उम्र से कहे कि अंग्रेज लोग कलित नहीं मानते तो ये यह कहना भूट समझते हैं और जो किसी को इस कहने पर विश्वास ही जाये तो उस को बड़ा ही आश्चर्य होता है, जो अंग्रेज लोग कलित नहीं मानते

तो ये गणित में ग्रहों की स्थिति जानने में इतना व्यर्थ परिश्रम क्यों करते हैं। परन्तु पहिले बिलायत में भी सिद्धान्त विद्या का फलित ही के लिये था। अनुमान १७५ वर्ष पहिले जर्मनी देश में केप्लर नामक एक बड़ा ज्योतिषी हुआ। उस ने एक ग्रन्थ में यों लिखा है कि “सिद्धान्त विद्यारूप विदुषी माता की फलित विद्यारूप एक मूर्ख बेटी है और माता का जीवन केवल उसी मूर्ख से है। परन्तु आश्चर्य का विषय है कि हिन्दुस्तान में फलित विद्या का प्रचार बहुत है और सिद्धान्त विद्या जो फलित को बहुत आवश्यक है सो बहुत लीन हुई है, उस का पोंछा सा अंश प्रसिद्ध है। यहां त्रिभ को ज्योतिषी होने की इच्छा होती है वह केवल “पत्रा” (पञ्चाङ्ग+जन्मत्री) बनाने की एक सारणी (Table) ग्रन्थ पढ़के और दो चार फलित के ग्रन्थ पढ़ लेता है। इतना पढ़ के ज्योतिषी बन के लोगों की जन्मपत्री और वर्ष फल लिख के अपना निर्वाह करता है और जो जन्मपत्री वा वर्षफल में फल मिलता रहता है, कही मिलता और कही नहीं मिलता। वह फल न मिलने का दोष अपने ऊपर न आवे इस लिये ज्योतिषी लोग जन्मपत्री की आदि में प्रायः यह श्लोक लिखते हैं:-

जनुपः समये धृतं न यन्त्रं
न मया च निवेशिता च नाडी ।

अपरैरुपदिष्टजन्मकाला-

ज्जनिपत्रीह विलिख्यते मयैषा ।

अर्थात्-(जन्मपत्री लिखने वाला ज्योतिषी कहता है कि) मैंने जन्म-काल ठीक जानने के लिये उस समय कोई तुरीय आदि यन्त्र लगाया नहीं था, न कोई पढ़ी भी वहां स्थापित की थी। दूसरे ने जो जन्मकाल कहा उस पर से मैं यह जन्मपत्री लिखता हूँ। इस लिये विश्वगुणादश नामक पुस्तक में ज्योतिषी का वृत्त लिखा है कि:-

विलिखति सदसद्वा जन्मपत्रं जनानां

फलति यदि तदानीं दर्शयत्यात्मदाक्ष्यम् ।

न फलति यदि लग्नं द्रष्टुरेवाह मोहं

हरति धनमिहैवं हन्त दैवज्ञपाशः ॥

अर्थात् ज्योतिषी अच्छा वा बुरा किसी प्रकार का एक जन्मपत्र लोगों

को लिखा देता है। जो उस में लिखा हुआ फल मिल जावे तो सभी को अपना सामर्थ्य दिखलाता है और जो न मिले तो कहता है कि जन्मकाल देखने द्वारा चूका है। रोद की बात है कि इस प्रकार से कुत्सिन ज्योतिषी लोगों से द्रव्यहरण करता है ॥

ये हिन्दुओं में फलित की ओर ज्योतिषी की अवस्था है। मुसलमान लोग भी कहते हैं कि फलित विद्या सच्ची है। उन में शीआ लोग तो हिन्दुओं की नाई उस को मानते हैं। उसनी में कितने कितने एक ब्राह्मणों ने फलित विद्या पर मुसलमानों से लाखों रुपये पाये हैं। सुन्नी लोग विद्या को सच्ची समझते हैं परन्तु प्रायः अपनी जन्मपत्री और वर्षफल बनवाके शुभा-शुभ फल नहीं देखते ॥

अब पहिले लिखा है कि फल कहीं मिलता है और कहीं नहीं मिलता तिसपर फलित के आचार्य कहते हैं कि जो फल नहीं मिलता सो फलित शास्त्र का दोष नहीं है, परन्तु वह फल लिखने वाले ज्योतिषी का अज्ञान है। उस ने जो ग्रहों का गणित किया होगा सो चूका होगा वा फलित के विचार में कहीं भूला होगा इस में कुछ संशय नहीं है। यों ज्योतिषी की मूल से फलित शास्त्र भूठ नहीं हो सकता। क्योंकि इस शास्त्र के बनाने वाले जो आचार्य होगये हैं उन लोगों ने उस २ काल के ग्रहों की स्थिति पर से वह २ फल मिथ्य से होता है, यों बारम्बार परीक्षा करके फलित के सिद्धान्त लिखे हैं सो भूठ क्योंकर होगा? जैसे अमुक रोग पर अमुक औषध देने से वह रोग दूर होता है, यो वैद्यक के ग्रन्थकारों ने बार २ परीक्षा से ठहरा के यह औषध उस रोग का नाशक है, यों ग्रन्थ में लिख दिया है, फिर वैद्य लोग रोगियों को औषध देते हैं उस में कितने एक रोगियों का रोग दूर होता है और कितने एक का नहीं होता। उस में वैद्यकशास्त्र का दोष नहीं यह वैद्य का दोष है। उस रोग के दूर न होने में कारण यही है कि उस वैद्य को उस रोग की परीक्षा अच्छी भांति न हुई होगी वा औषध की मति अच्छी न घनी होगी परन्तु इस से वैद्यकशास्त्र भूठ नहीं हो सकता। इसी प्रकार से फलित भी भूठ नहीं है। जो कोई यों कहे कि आकाश में ग्रह और नक्षत्र पृथिवी पर से उस २ स्थान में दृष्ट हो तो वह २ फल होता है। यह जो सप्तम फलित में लिखा है इस में परस्पर दूरस्थित जो ग्रह और नक्षत्र हैं, इन में क्या सम्बन्ध हैं? और उन से वह फल क्योंकर होगा, इस में कोई युक्ति ही देख नहीं पड़ती। इस लिये यह फलित शास्त्र युक्तिशून्य है, यह सत्य नहीं हो सकता। इस पर फलित जानने वाले यह उत्तर देते हैं कि यद्यपि

आकाश में परस्पर दूर स्थित यह और नक्षत्रों के उस स्थान पर आने में और पृथिवी पर उस २ फल के होने में क्या सम्बन्ध है ? और फल होने में कारण है, यह हमारे ध्यान में नहीं आता । तथापि उस २ यह स्थिति के अनुसार यह २ फल स्पष्ट देख पड़ता है, तब उस का भूँठ नहीं कह सकते । जैसे अमायास्या, पूर्णिमा और अष्टमी इन चार तिथियों में सूर्य और चन्द्र आकाश में कुछ नियत अन्तर पर रहते हैं और जो बहुत रोगी होते हैं उन का रोग इन तिथियों में बढ़ता है और जो रोग चरणसन्न हो तो प्रायः उन के लगभग फाल में मर जाता है और जो कदाचित् ये तिथि धीत जायें तो रोग शान्त होता है । यह बार २ परीक्षा करके देखा है । यों सूर्य और चन्द्र के दृष्ट अन्तर से भूमि पर रोग की वृद्धि और ह्रास होता है । इस का कारण यद्यपि ध्यान में नहीं आता, तथापि फल स्पष्ट देख पड़ता है, वह भूँठ नहीं हो सकता । इसी प्रकार से और भी यह आकाश में उस उस स्थान में देख पड़ने से यह २ फल होता है, यह परीक्षा करके फलग्रन्थ बनाये हैं । इन में जो फल की उपलब्धि होती है वो ही युक्ति है, दूसरी नहीं है । यों ज्योतिषी लोग स्पष्ट कहते हैं और भी कहते हैं कि जैसे हल्दी पीली होती और धूमा शुभ्र होता है पर जो ये दोनों पानी में डकट्टे किये जायें तो उस निम्न द्रव्य का रङ्ग लाल होता है । यह रङ्ग होने में क्या कारण है ? यद्यपि मन में नहीं आता तो भी लाल रङ्ग को भूँठ नहीं कह सकते । इसी प्रकार से यही की स्थिति के अनुसार जो फल होता है उसे भूँठ नहीं कह सकते॥

इस पर फलित को न मानने वाले कहते हैं कि कलितो लोग ऐसी १ चाहे वतनी कलित की उपपत्ति दिखलायें परन्तु कलितशास्त्र किसी प्रकार से काम में लाने के योग्य नहीं है । यह शास्त्र सब परस्परविरुद्ध उक्तियों से भरा है। जैसा कि भायसाधन अनेक प्रकार का छिपा है उस से भावी पटना भिन्न २ प्रकार की प्राप्त होगी, उस में कौनसी सत्य कहनी चाहिये । इन्हीं प्रकार से आयुर्द्वय का गणित अनेक प्रकार का है तब कौन गणित पर से मनुष्य के आयुष्य का निश्चय होगा। योही ग्रन्थों में ग्रहों की दशा बहुत प्रकार की लिखी हैं तब यह यह की दशा का फल किसी प्रकार से नहीं ठहराया जा सकता, ऐसी २ अनेक विरुद्ध उक्तिवश में हैं तो फल का निर्णय क्योंकर होगा और भी पृथिवी पर एक ही समय में अनेक मनुष्य जन्मते हैं पर उन सबों की वृत्ति एकसी कभी नहीं होती । और एक इन का रजः उदाहरण यह है कि जो दो युगल जन्मते हैं उन के जन्म लग्न में तो बार पर नवम

में भी प्रायः भेद नहीं होता । इसलिये उन की जन्मपत्री एकही सी समझी है पर जो उन की जीवन की वृत्ति देखो तो दोनों की भिन्न २ प्रकार होती है सो उस जन्मकुण्डली से किसी प्रकार से ज्ञात नहीं हो सकता । तब फलितशास्त्र किस काम का होगा ॥

और श्री फलित की न मानने वाले कहते हैं कि यह भावी फल/पहिले ही कहदेना केवल व्यर्थ है, इतना ही नहीं है, यह प्रायः बाधक भी होता है । जैसा कोई मनुष्य किसी ज्योतिषी से पूछे कि जो मैं ठपापार करता हूँ उस में लाभ होगा या हानि होगी । तब जो ज्योतिषी कहदेवे कि इस में तुम को हानि होगी तो यह सुनते ही वह मनुष्य खिन्न होके उस ठपापार के काम में ढीला हो जावेगा और जो उस को उस ठपापार में लाभ भी होने वाला हो ती भी उस की ढीलाई से हानि ही होगी । इसलिये यह भावी फल का कयम उद्योगी मनुष्य को ढीला कर देता है । इस लिये फल के न मानने वाले स्पष्ट कहते हैं कि फलितशास्त्र का भरोसा न करके केवल ईश्वर के भरोसे पर सब काम प्रयत्न से करो, इसी में सब सिद्धि और वृद्धि है ॥

इस फलित विचार को श्रीमत् पा० बापुदेव शास्त्री ने जो ज्योतिष शास्त्र के आचार्य थे, सन् १८९२ ई० में संस्कृत कालिज बनारस में भारतेन्दु श्रीमत् बा० हरियन्द्र जी आदि महाशयों के अनुरोध से वक्तृत्वरूप से कहा था, जो श्रीमत् पा० हरियन्द्र जी की आज्ञा से सर्वसाधारण के लाभार्थ बनारस मेडिकलहॉलमें छाप कर प्रकाशित किया गया ॥

नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह

अन्धकार रात्रिसमय गगनमण्डल में जो असंख्य नक्षत्र दीखते हैं वे देखने में यद्यपि छोटे २ जान पड़ते हैं, परन्तु वस्तुतः वे छोटे नहीं हैं । ये नक्षत्र पृथिवी से अत्यन्त दूर पर अवस्थित हैं । इस कारण पृथिवी से कई गुणा बड़े होने पर भी छोटे २ दीखते हैं । इन नक्षत्रों की दिनरात्र एकही दशा रहती है, परन्तु दिन में सूर्य की किरणों की प्रखरता से हम लोग उन को नहीं देख सकते और रात्रि में देखते हैं । ये नक्षत्र सब एक प्रकार के नहीं हैं, जिन सब नक्षत्रों की दूरी परस्पर एक ही सी रहती है एव नित्य अपने ही स्थान में दीख पड़ते हैं अर्थात् किन्हीं लोकलोकान्तर की परिक्रमा नहीं करते, केवल अपनी ही पुरी पर घूमते हैं, उन्हीं को नक्षत्र कहते हैं । ये नक्षत्र दो प्रकार के हैं । एक अबल नक्षत्र, दूसरा चल नक्षत्र । अबल नक्षत्रों की संख्या

अद्यावधि आधुनिक विद्वानों से ५००१०, १००१० के लगभग देखे हैं। अचल नक्षत्र का वर्णन ऊपर हो चुका है ॥

चल नक्षत्र वा ग्रह

यहुत से नक्षत्र कभी गगनमण्डल के एक स्थान में कभी अन्य स्थान में अवस्थिति करते हैं। एवंकभी अचल अवस्था में रहते हैं, इन्हीं सब नक्षत्रों से थिक प्रकाश होता है। इस लिये इन को ग्रह कहते हैं। ये ग्रह सब सूर्य से प्रकाशित होते हैं अर्थात् इन में स्वकीय तेज नहीं। परन्तु पूर्वोक्त अचल नक्षत्र स्वयं प्रकाशमान हैं। उन में सूर्य का प्रकाश नहीं है ॥

आकाश में जो सब नक्षत्र दीखते हैं उन में से जो हम लोगों को दिन में सबसे अतिप्रभायुक्त दीखता है वही सूर्य है। पूर्वोक्त नियमानुसार सूर्य ग्रह नहीं है, क्योंकि यह किसी की परिक्रमा न करके अपनी ही धुरी पर घूमता है और स्वयं प्रकाशित होता है। भारतवर्षीय बहुतसे नवीन ग्रन्थों में सूर्य को ग्रह माना है, परन्तु वेदादि सच्चाओं में इस को ग्रहपति माना है अर्थात् ग्रहों के केन्द्र स्वरूप। वेद का प्रमाण आगे ग्रहप्रकरण में दिया जायगा। अमरकोषवाले ने सूर्य के नामों में एक नाम "विभाबलु" "ग्रहपति" लिखा है। इदानीं विद्वानों ने दूरबीक्षण यन्त्र द्वारा अनेक दूरस्थित नक्षत्रों को देख कर निश्चय किया है कि वे एक २ सूर्य हैं अर्थात् हमारे सूर्य की नाईं ग्रह, उपग्रह आदि के मध्य स्थित हो सब को प्रकाशित करते हुये अपनी धुरी पर घूमते हैं। इनके तीन भेद हैं। एक सामयिक नक्षत्र, दूसरा अन्तर्हित एवं तीसरा यमल वा मिथुनमाला नक्षत्र हैं ॥

सामयिक नक्षत्र

जो सब नक्षत्र किसी २ समय अतिउज्ज्वल, किसी समय अत्यन्त निम्न एवं कभी २ अदृश्य होते हैं उन को सामयिक वा गठपतारा कहते हैं ॥

अन्तर्हित वा रूपविकारी नक्षत्र

यहुतसे नक्षत्र पहिले अत्यन्त दीप्तिमान् होकर प्रकटित होते हैं और कुछ दिन पीछे उन की ज्योतिः क्रमशः न्यून होने लगती है एवं कुछ दिनों पीछे आकाश में अदृश्य होजाते हैं। ऐसे नक्षत्रों को अन्तर्हित नक्षत्र कहते हैं। यहुत दिनों के पीछे जो दृश्य होते हैं इस से अनुमान होता है कि वे अपनी गति से अपनी कक्षा में बहुत दूर तक भ्रमण करते हैं इसी कारण कुछ काल तक अदृश्य होजाते हैं ॥

वाले हैं, परन्तु उनके प्रकाश का क्षेत्र (इन्द्र)=(सूर्य) ने और लेलिपा अर्थात् उम नक्षत्रों की दूरता प्रयुक्त और सूर्य के प्रसर किरणों से हम लोग उन्हें एक २ तारे की नाइं (छोटे २) देखते हैं। इस कारण न उन्हें "नक्षत्र" (न=नहीं, क्षेत्र=सूर्य की नाइं प्रकाश) कहते हैं। आशय यह है कि प्राचीन समय में जिन नक्षत्रों का प्रकाश हम लोगो के निकट दूरता के कारण अत्यन्त न्यून पहुँचता एवं बहुत धोड़ी गति वाले हैं उन्हें नक्षत्र कहते थे और नक्षत्रों में जो देखने में कुछ बड़े जानपड़ते हैं उन्हें कहीं २ "नक्ष" कहते थे ॥

सलिलं वा इदमन्तरासीत् ॥ यदत्तरन् ॥ तत्तारकाणां तारकत्वम् ॥ योवा इह यजते ॥ अमुंसलोकं नक्षत्रे ॥ तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम् ॥ देवगृहा वै नक्षत्राणि ॥ यएवं वेद ॥ गृह्येव भवति यानि वाङ्मानि पृथिव्याश्चित्राणि ॥ तानि नक्षत्राणि ॥ तस्मादश्लीलनामंश्चित्रे ॥ नावस्येन्न यजेत ॥ तै० ब्रा० १।५।२ ॥

अर्थात्-वर्तमान सृष्टि की आदि में जल था। उस से जो सृष्टि होती हुई-सर्व पदार्थों में सब से निकट, एवं अधिक गति वाले हैं, वे ही तारे हैं, एवं जिस प्रकार यज्ञ करने वाले ऊँची गति को पाते हैं। इसी प्रकार जो अपेक्षाकृत ऊपर के "नक्षत्र" हैं उन्हें "नक्षत्र" कहते हैं। सौर जगत् में एक २ नक्षत्र नामो ग्रहादिक अन्यान्य विशेष गतिमान् सस्य पदार्थों के घर हैं। जिस प्रकार इस पृथिवी पर चित्रविचित्र घर हैं, इसी प्रकार आकाश में भी नक्षत्र पुष्प की आकृति भिन्न २ प्रकार की है ॥

प्रत्येक नक्षत्रादि एक २ लोक विशेष है। इस का प्रमाण वेदो में है:-
एतस्माद्वाओदनात्त्रयस्त्रिंशत् लोकान्तरिमिमीत प्रजापतिः ॥
(अथर्व ११।२।४।५२)

तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत ॥ ५३ ॥

अर्थात्-ब्रह्मा ने ३३ लोक। २७ अश्विनी से रेवती पर्यन्त और ६ कृत्ति नक्षत्र की योगतारा नक्षत्र ये ३३ नक्षत्र) रचे हैं। जिन के जानने के लिये यज्ञ का विधान है अर्थात् यज्ञ करने से सात्त्विक बुद्धि होने पर शीघ्र विद्याद्वारा इन लोकों का ज्ञान हो जावे। यह उपलक्षण मात्र कहा गया। इसी प्रकार जितने आकाशस्थ नक्षत्रादिक हैं वे सब एक २ लोकविशेष हैं ॥

सूर्य

सौर जगत् में सूर्य ही सब ज्योतिष्क पदार्थों में बृहत् एवं उत्ताप और आलोक का आकर है। सूर्य २५ दिन ८ होरा २२। फल में अपनी कक्षा पर पश्चिम से पूर्व को एक बार घूम आता है। सूर्य सौर जगत् में केन्द्र स्वरूप होने से यहाँ में इस की गणना नहीं, वेदादि सञ्छाखों में भी इस की यह नहीं माना है। एव सूर्य की बीच में और उस की चारों ओर अन्यान्य ग्रहों की संख्या लिखी है। अब हम उन प्रमाणों का उल्लेख करते हैं, जिन से पूरा २ निश्चय ही आयगा कि भारतवर्षीय लोग अनादि काल से सूर्यादि ज्योतिष्क पदार्थों की वास्तविक गति विधि आदि जानते थे ॥

उद्भवधमित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम् ।

हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय ॥ ऋग्वेद १।५०।११॥

अर्थात्-हे ईश्वर ! जिस प्रकार सूर्य का उदय होने से अन्धकार दूर होता है, इसी प्रकार मेरे हृदय के अज्ञानान्धकाररूपी रोग का नाश करो ॥

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वोवहति सप्तनामा त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः ॥ ऋ० १।१६४।२॥

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।

शोचिष्केशं विचक्षण ॥ सामवेद प्र० ६ । अ० प्र० ३।४०१४।१४

अर्थात् हे सूर्य ! तुम्हारे मण्डल में सात प्रकार की किरणें हैं ॥

सप्तयुञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वोवहति सप्तनामा ।

त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमाभुवनाधितस्थुः ॥ अ० १।५।११२

अवदिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः ॥ अ० १७।१०।१७।१॥

अर्थात्-सूर्य की सातों किरणें दिन में प्रकाशित होती हैं। पुराणों में सूर्य के ७ घोड़े अरुण नामक सारथी और रथ आदि की जो कथा लिखी है, यह वस्तुतः कुछ नहीं है। सूर्य के न कोई रथ, न घोड़े, न सारथी आदि हैं। यह आलङ्कारिक वर्णन से कहा गया है कि एक ही किरण (रश्मि) सात नामों (सात प्रकार के रङ्ग) से-सूर्यमण्डल (चक्र) में घास होता है। इस

अक्षय और प्रतिघ्न्य चक्र में तीन भाग हैं (उत्तरायण, दक्षिणायन और विषुवत्) वही सूर्यमण्डल (सौरजगत्) में सब लोक ठहर रहे हैं और (अमर्त्य) जिस सूर्य के रथ में घोड़ा नहीं है । हमारे पौराणिक परिचित लोग सूर्य को यहीं में गिनते हैं, परन्तु यह उन की भूल है क्योंकि प्राचीन प्रमाणों के अतिरिक्त अमरकोश में भी सूर्य की "ग्रहपति" लिखा है, ग्रह नहीं है ॥

विभावसुर्ग्रहपतिस्त्वपांपतिरहर्पतिः ॥ ३० ॥

(अमरकोश काण्ड १ कालवर्ग)

वायु के कारण सूर्य

सवितारं यजति यत्सवितारं यजति तस्मादुत्तरतः प-
श्चादयं भूयिष्ठं पवमानः पवते सवितृप्रसूतो ह्येव एत-
त्पवते । ऐ० ब्रा० २ । ७ ॥

यह वायु सूर्य की सेवा करता है । जिस लिये सूर्य की सेवा करता है, इस कारण सूर्य की उत्तर पश्चिम आदिमान से बारंबार वायु चलता है ॥

आशय यह है कि सूर्य से उत्पन्न होकर वायु बहता है ॥

ऋतु के कारण सूर्य

पूर्वानुप्रदिशं पार्थिवानामृतून् प्रशाद्विदधावनुष्टु ॥

(ऋ० सं० १ । ८५ । ३)

हे सूर्य ! तुम्हारे द्वारा पृथिवी पर पूर्वोदि दिशा की व्यवस्था होती है और ऋतुओं को उत्पन्न करते हो ॥

सौरजगत् में एक ही सूर्य है

एक एवाग्निर्वहुधा समिद्ध एकः सूर्याविश्वमनुप्रभूतः ।

एकैवोपा सूर्यमिदं विभाति । ऋ० ८ । ५८ । २ ॥

एक ही अग्नि बहुत प्रकार से जलाया जाता है और एक ही सूर्य सब लोकों को प्रकाश करने में समर्थ है और एक ही उपा (सूर्योदय से पूर्व छा-
लिमा से भी पूर्वकाल) सम्पूर्ण जगत् की सुशोभित करती है ॥

अनश्नो जातो अनभोशुरर्वा कनिक्रदत्पतयदूर्ध्वसानुः ।

(ऋ० सं० १ । १५२ । ५)

घोड़ा रहित ही सूर्य उत्पन्न हुआ परन्तु बिना घोड़े के बड़ा तेज एवं ऊपर की अपनी परिधि में चलता है* ॥

अंग्रेजों ने जो दूरबीक्षण यन्त्रद्वारा सूर्यमण्डल में फलङ्क देखा है और उत्तर दक्षिण किञ्चित् दबा हुआ निश्चय किया है यह विषय कई सदस्य वर्ष पूर्व ही से हमारे शास्त्रों में लिखा है:-

ह्रस्वोरुक्षोऽप्रशस्तश्च परिवेपस्तु लोहितः ।

आदित्ये विमले नीलं लक्ष्म लक्ष्मण दृश्यते ॥

(वाल्मीकीय रा० यु० सर्ग २४)

श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं कि हे लक्ष्मण ! सूर्यमण्डल सन्ध्या के कारण लाल है, एवं इस का अङ्ग कुछ रुश (दबा) है और नील रङ्ग का फलङ्क (चिह्न) दीखता है ॥

शुक्र

युध के अनन्तर शुक्र की संस्था है । यह ग्रह अन्यान्य ग्रहों की अपेक्षा अतिशय सुन्दर और बड़ा है । सूर्य के उदय और अस्तमन से पहिले अर्धरात्रि सन्ध्याकाल में एवं अरुणोदय के पहिले प्रातःकाल में यह ग्रह दृश्य होता है, इसी कारण सर्वसाधारण इस की प्रभाततारा या सन्ध्यातारा कहते हैं ॥

युध और शुक्र को जो हम लोग सम्पूर्ण रूप से नहीं देख सकते, इस का कारण यह है कि ये दोनों ग्रह पृथिवी के गमनीय पथ और सूर्य के मध्यस्थान हो कर गमन करते हैं । चन्द्रमा की भाँति शुक्र की फला भी भी वृद्धि और ह्रास होते हैं । इसी कारण कभी २ यह इतना सूक्ष्म हो जाता है, जो हम लोगों की ठीक २ दृष्टिगोचर नहीं होता । इसी कारण भारतवर्ष में शुक्र को “काणा” या दैत्याचार्य शुक्र एकाक्ष है, ऐसा कहते हैं । यह सो हदरतीतन विद्वानों ने अनुसृत किया है । वेद में भी इसी प्रकार एवं इस से विशेष लिखा है । अंग्रेजी में शुक्र का नाम वीनस (Venus) है । इस से अनुमान होता है कि हमारे वेदों में जो “वेनस” शुक्र का नाम है, उसी को लैटीन, ग्रीक आदि भाषा में भी लिखा है । वेदों के प्रमाण दिये जाते हैं:-

* किन्हीं लोगों की जो यह धारणा है कि सूर्य पृथिवी की परिक्रमा करता है यह एकमात्र अमूलक है क्योंकि वेदादि मत्पशास्त्रों में इस का प्रमाण नहीं पाया जाता है । देखो पृथिवीधमण विचार ॥

अयं वेनश्चोदयति पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायूरजसो विमाने ।
इममपां सङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न त्रिप्रा मतिभीरिहन्ति ॥

(ऋ० सं० १० । १२३ । १)

अयं—यह वेनस (शुक्र) और मति (बुध) सूर्य के पास शिशु (बालक) की नाई प्रतिदिन बढ़ते हैं, अपांत् चन्द्रमा की कला की हानि वृद्धि की सी इन की कला भी घटती बढ़ती हैं, परन्तु विम (बृहस्पति) ग्रह के लिये यह नियम नहीं है ॥

ककुभं रूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य

पुरोगाः । सोमः सोमस्य पुरोगाः ॥ यजु० अ० ८ । ४६ ॥

अर्थ—इस पूर्ण कलायुक्त शुक्र का सुन्दर रूप देखने में सुहावन है और इस की सख्या चन्द्रमा के पहिले एव इस के आगे (सामने) चन्द्रमा है ॥

अयं वेनः । चित्रं देवानाम् । यजु० अ० ३३ । ३३

अयं—यह वेनस् (शुक्र) स्वयं दिव्य यही में सब से सुन्दर है ॥

चक्षुषी ह वा अस्य शुक्रामन्थिनौ । तद्वा एष एव शुक्रो

य एष तपति तदपदेप एतत्तपति तेनैष शुक्रश्चन्द्रमा एव

मन्थी ॥१॥ इमामुहैके शुक्रस्य पुरोरुचं कुर्वन्ति । अयं

वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमान

इति तदेतस्य रूपं कुर्मो य एष तपतीति यदाह ज्योति-

र्जरायुरिति ॥ ८ ॥ शत० ब्रा० ४ । २ । १ ॥

आशय—सूर्य के दो नेत्रस्वरूप बुध और शुक्र हैं, या यह जो शुक्र प्रकाशित होता है, यह जो शुक्र तपता है, चन्द्रमा है (चन्द्र तुल्य है) इस की कोई चन्द्रमा का पुरोवर्ती कहते हैं । (चन्द्रमा के पहिले शुक्र की सख्या है) इस लिये शुक्र की प्रकाश का गम (जरायु) कहते हैं ॥

वस्व्यसि रुद्रास्यदितिरस्यादित्यासि शुक्रासि

बृहस्पतिस्त्वा सुम्ने ररावतु । तै० सं० १ । २ । ५ ॥

आशय—तू बखी है, रुद्रा है, जदिति है, शुक्रा है, चन्द्रा है, और बृहस्पति ग्रह के तुल्य तुम्हारे सुखमद भ्रदेश हैं (श्रेत हैं) ॥

इस मन्त्र में जो शुक्र के विशेषण खीलिङ्ग शब्दों में हैं। इस का कारण यह है कि शुक्र की सुन्दरता के वर्णन में है। इस लिये पुञ्जिङ्ग वाचक शब्द नहीं हैं एवं बुधग्रह के वर्णन में शुक्रका एकाक्ष होना आवि लिखा गया है यहीं देखना चाहिये। प्रायः चारों वेदों में बृहस्पति और शुक्र को "अश्विनी" नासत्य, दत्ता, स्वयंदा के बहुत से मन्त्र हैं उस का कारण यह है कि प्रातः-काल अर्थात् आधीरात के पीछे और सूर्य के अस्तोदय से पूर्व एव सम्ध्या-काल में सूर्य के पीछे ईश्वरोपासना का समय है जिस का नाम "उप.काल" और ब्राह्ममुहूर्त है। इस समय हमारे श्रमिण प्रायः सांसारिक कार्यों को छोड़कर नियमपूर्वक स्नानादि नित्यक्रिया कर ईश्वरोपासना, होम, वेदपाठ आदि ईश्वरोपासनासम्बन्धि कार्यों में व्यस्त रहते थे। सो ये दोनों ग्रह शुक्र और बृहस्पति जिन को हमारे देश के आयाल बहु खी पुरुष जानते हैं "शुक्रतारा" एवं "बृहस्पति तारा" प्रायः प्रत्येक वर्ष के जाये नहींनी में उदित होते हैं। इसी कारण उपःकाल एवं सम्ध्याकाल के वर्णन में मनुष्यों को ईश्वरोपासना विशेषतः करना चाहिये। शुक्र और बृहस्पति तारा देखने से नियत काल का निश्चय होता है ॥

बुध

यह ग्रह अन्याम्य ग्रहों की अपेक्षा अत्यन्त छोटा एवं सूर्य के अत्यन्त निकटवर्ती है। इस का वर्ष शुभ(सेत)सूर्य के उदय अस्त के किञ्चित् पहिले दृष्टि-गोचर होता है। बुध ग्रह ९७ दिन २३ होरा १५ निमिट ४६ सेकेण्ड में सूर्य की एक घार प्रदक्षिणा कर लेता है और अपनी कक्षा पर २४ होरा ५ निमिट में एक बार भ्रमण करता है। इस ग्रह की संख्या सूर्य के पश्चात् है (पार्श्वीय मतानुसार)। इसी प्रकारवेद में भी इस की संख्या लिखी है प्रायः चारों वेदों में उप काल (सूर्योदय के लालिना से पूर्वका काल) के ईश्वरोपासना विषयक मन्त्रों में आलङ्कारिक वर्णन द्वारा सूर्य के दो नेत्र स्वरूपबुध और शुक्र को माना है। प्रायः देखने में ये दोनों ग्रह इसी प्रकार जान पड़ते हैं। दोनों ओर बुध और शुक्र और बीच में सूर्य रहता है ॥

सूर्यस्य चक्षूरजसैत्यावृतं तस्मिन्नात्तस्युर्भुवनानि
विश्रामा॥१॥स्त्रियः सती तौ उमे पुंसआहुः पश्यदक्ष-
एवान्न वि चेदन्यः। कविर्यः पुत्रः ईमा चिकेत
यस्ता विज्ञानात् सपितुःपितासत्।अथर्वसं०८।५।८।१५

आशयः—शुक्र ग्रह का नाम अंग्रेजी में वीनस (Venus) है जिस का अर्थ अत्यन्त सुन्दर है (Goddess of buty) जिसे संस्कृत में “श्री” कहते हैं। एवं शुक्र ग्रह की काणा वा एकाक्ष श्री संस्कृत के ग्रन्थों में लिखा है वह इस कारण से कि दूरबीन यन्त्र द्वारा देखने से कभी २ शुक्र ग्रह इतना सूक्ष्म प्रतीत होता है जो उस का वास्तविक रूप नहीं दीखता (चन्द्रमा की नाई इस की कला बढ़ती घटती है) इस से इस को “काणा” भी कहते हैं। इस का मूल ऊपर के मन्त्र में पाया जाता है ॥

मन्त्रार्थः—सूर्य के दो नेत्र स्वरूप बुध और शुक्र ग्रह हैं (अत्यन्त निकट हैं) जिन में अनेक लोक बसते हैं। इन दो में एक तो पुरुष (बुध) और एक स्त्री (शुक्र) एवं नेत्र वाला (बुध) और एक नेत्रहीन (शुक्र) है। इन को जो विद्वान् जाने वह विद्वानों में श्रेष्ठ है ॥

इसी प्रकार बुध के नाम सौम्य, एवं रौहिण्य क्यों हैं इस का कारण नीचे व्याप्त किया जाता है। कभी २ बुध और शुक्र को चन्द्रमा पिधान (ढक लेता है) करलेता है और प्रायः तारा और ग्रहों का भी पिधान होता है। अनेक दिन हुए कि रौहिणी और चन्द्रमा के पिधान में बुध ग्रह आगया—या पुनः बुध चन्द्रबिन्दु से बाहर निकल गया या इसी कारण रौहिणी को रत्नी नाम कर और चन्द्रमा को पुरुष एवं रूपकालङ्कार से इन दोनों के समागम से बुध उत्पन्न होकर रौहिण्य और सौम्य कहलाया। इस को लेकर पुराणों में एक और कथा है कि चन्द्रमा ने गुरुपत्नी तारा को हरलिया या उसी से बुध का जन्म हुआ इत्यादि, परन्तु वह भी कल्पनानात्र है। वास्तविक पिधान ही होता और ग्रहों का भी इसी प्रकार विधान होता है परन्तु औरों की कथा इस प्रकार प्रसिद्ध नहीं हुई। भङ्गुल और शुक्र का क्रम से आपा-दाशू और नषाशू नाम विधान ही के कारण प्रसिद्ध हैं ॥

चन्द्रमा

यद्यपि चन्द्रमा ग्रहों में परिगणित नहीं परन्तु येशों में इस की संख्या का क्रम जिस प्रकार लिखा है उसी प्रकार शुक्र की संख्या के अनन्तर पृथिवी के उपग्रह रूप से इस की संख्या है। पृथिवी जिस प्रकार सूर्य का परिभ्रमण करती है उसी प्रकार चन्द्रमा भी पृथिवी की प्रदक्षिणा करता है २३ दिन ७ घंटा ४३ मिनट ११.५ सेकेण्ड में चन्द्रमा पृथिवी का एक बार परिभ्रमण कर लेता है। चन्द्रमा का रङ्ग कृष्ण, छाछ, गौर और श्वेत है। चन्द्रमा स्वयं

तेजस्वी नहीं, परन्तु पाश्चात्य पण्डितों ने यह भी निश्चय किया है कि चन्द्रमा एकमात्र निष्प्रसन्न नहीं है किन्तु उस में सन्दमप्ता है जो सूर्य की किरणों से विशेष रूप से प्रकाशित होता है। लाहंनर साहब कहते हैं कि बहुत परीक्षा द्वारा जाना गया है कि चन्द्रमा की किरणों में ताप नहीं और हम्बोल्ट साहब इसको विरुद्ध कहते हैं कि चन्द्रमा की किरणों में ताप है। चन्द्रमा में पर्वत, समुद्र, भूमि आदि हैं एवं कोई भाग ऊँचा कोई नीचा है। अब हम कम से वेदादि सञ्छाओं द्वारा उपरोक्त विषय को सिद्ध करते हैं:-

ककुभं रूपं वृषभस्य रोचते वृहच्छुक्रः शुक्रस्य

पुरोगाः। सोमः सोमस्य पुरोगाः॥यजु० अ० ८। मं० ४६

इस का अर्थ शुक्र के यज्ञ में किया गया है। परन्तु यहां चन्द्रमा की संस्था दिखलाने को लिखा गया है। शुक्र ग्रह के सामने (आगे) चन्द्रमा और चन्द्रमा के आगे शुक्र। अब चन्द्रमा में जो श्याम रङ्ग एवं ऊँचा नीचा आदि है, उस का प्रमाण:-

यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सुभूमौ यानि

नगेषु दिक्षु। प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति॥अथर्व० १६। ६। ११

अर्थ-जो नक्षत्र द्युलोक में (जहां सूर्य की संस्था है) और जो अन्तरिक्ष में (जहां चन्द्रलोक है) जहां के चन्द्रमोधिष्ठित पहाड़, जल, पृथिवी और वृक्षादि हैं उमर प्रदेश में जो नक्षत्र हैं। हे ईश्वर। सब से हम को सरा पहुंचे ॥ इस से सिद्ध हुआ कि चन्द्रमा में पहाड़ भूमि आदि सब हैं और इसी कारण चन्द्रमा में जो भाग नीचा है वहां सूर्य का प्रकाश ठीक नहीं पहुंचता जिस से श्याम रङ्ग प्रतीत होता है ॥

चन्द्रमा जप्स्वऽन्तरा सुपर्णी धावते दिवि ॥

सामवेद प्र० ५। अर्थ प्र० १। द० ४। मं० ६।

जलात्मक चन्द्रमा (रुष्णपक्ष और शुक्लपक्ष होने से पत्नी) पक्षित्यरूप आकाश में चल रहा है। चन्द्रमा में अपना भी प्रकाश है, जो लिखा है उस का भी प्रमाण हमारे वेदों में है:-

उदेनं भगो अग्रभीदुदेनं सोमो अंशुमान् ॥

अथर्व० ८। १। २

आयंसह ने अपने आर्यसिद्धान्त के गोलपाद में लिखा है कि-

चन्द्रो जलमर्कोऽग्निः मृदुभूमिश्छायापि तमस्तद्वि ॥

आर्या ३७ ।

अर्थात्-चन्द्रमा जल स्वरूप, सूर्य अग्निभय, एवं पृथिवी मृदमय जिस की छाया चन्द्रमा को ढक लेती है तो ग्रहण होता है ॥

कालीदास जो श्री महाराज विक्रम के नवरत्नों में से थे, अपने शकुन्तला ग्रन्थ में लिखते हैं कि:-

मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।

किमिव हिमधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

शकुन्तला १-१ । १८ ॥

हमारे शास्त्रों में जो चन्द्रमा के अमृत की प्रसिद्धि है वह वास्तविक सत्य है क्योंकि चन्द्रमा में ईश्वर ने कुछ ऐसा विलक्षण गुण दिया है जिस की किरणों से हमारे वैद्यकशास्त्रोक्त ओषधियां सब उत्पन्न होकर नाना प्रकार के गुण देती हैं । नाना प्रकार की दवाओं में होती है जिन का वर्णन चरकसुश्रुत एवं अन्यत्र वैद्यकशास्त्रों में है । इन्हीं ओषधियों के मूल कारण चन्द्रमा के होने से इस का नाम "ओषधीश" है और ओषधियों के विलक्षण गुणों के कारण उस के किरण का नाम अमृत हुआ है ॥

सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः । तै० सं० ३ । ४ । ७ । १

अर्थात्-चन्द्रमा सूर्य की किरणों से प्रकाशित होता है ॥

चन्द्रमा का आधा भाग हम लोग सदैव देखते हैं परन्तु इस का शेष दूसरा आधा नहीं दृश्य होता। इस को हमारे पूर्वज ग्रहियों ने पहिले से लिख रखा है:-

यथा हिमवतः पार्श्वपट्टं चन्द्रमसो यथा ।

न दृष्टपूर्वं मनुजैः ॥ महा० शान्ति पर्व अ० १०० ।

मङ्गल

पृथ्वी के अनन्तर पृथिवी की सस्या, तदनन्तर मङ्गल की संस्था है । यह गाढ़ अत्यन्त गाढ़ वायु में अनवरत अवस्थित है इसी कारण अन्यत्र ग्रहों की अपेक्षा इस का रङ्ग अतिशय रक्त है। मङ्गल का गमनीय पथ पृथिवी की कक्षा के बहिर्देश में है । इस ग्रह की दूरी सूर्य से १४५,००,००,०० माइल है एवं १ वर्ष ३१९ दिन १७ घंटा ३० मिनट ४१ सेकेण्ड में सूर्य की परिक्रमा एकबार कर लेता है ॥

हमारे भारतवर्षीय संस्कृत ग्रन्थों में मङ्गल ग्रह के नाम 'लोहिताङ्ग' 'अङ्गारक' छाल होने के कारण रखे गये हैं। जिस छालवर्ण को जानकर फलित ज्योतिषियों ने इस ग्रह की क्रूर ग्रहों में गणना की है। कभी २ पृथिवी के एक ओर सूर्य, दूसरी ओर मङ्गल आजाता है। एवं इस की कक्षा पृथिवीकक्षा के अनन्तर है। मङ्गल और पृथिवी के अनेक अंशों में सादृश्य है। इन कारणों से हमारे प्राचीन ग्रन्थों में इस के नाम 'महीधुत' 'कुज' 'भीम' हैं।

वेद में इस ग्रह का नाम और रङ्ग भी लिखा है—

असौ यस्ताम्री अरुण उत यधुः सुमङ्गलः । ये चैनं रुद्रा
अभितो दिक्षु श्रिताः सहशोऽवैपां हेड ईमहे ॥ य०अ०१६मं०६

अ.शयः—यह जो तामे के रङ्ग की भाँई अथवा पिङ्गलवर्ण सुमङ्गल वा अतिशुन्दर है, जिस के चारों ओर शुन्दर प्रकाश है ॥

बृहस्पति

यहाँ में बृहस्पति शय से बड़ा है। इस का व्यासपरिमाण ८८१०३ मैल और सूर्य से ८८५५८६००० मैल दूरावस्थित है। एवं इस की कक्षामङ्गल के पद्यात् है। सूक्ष्मगणना द्वारा जाना गया है कि यह ग्रह ११ वर्ष ३१४ दिन २० होरा २ निमट ९ सेकेण्ड में एक बार सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण कर आता है। जो स्थूल गणना से हमारे ज्योतिषग्रन्थों में १२ वर्ष लिखे हैं और इस ग्रह के चार उपग्रह हैं, इस ग्रह का नाम संस्कृत में गुरु, बृहस्पति, देवपुरोहित आङ्गिरस आदि हैं। अन्यान्य ग्रहों से इस में गुरुत्व अधिक होने से गुरु और बहिर्यन्त्री यहाँ में शुक्र की भाँई प्रभायुक्त होने से "पुरोहित" (पुरः=आगे+हित=रखा है) एवं तिष्य नक्षत्र से पिधान होने से "अङ्गिरस" "तिष्य सम्भव" नाम हैं। बृहस्पति की उत्पत्ति तिष्यनामक नक्षत्र से मानी जाती है उस का कारण यह है कि इस ग्रह का परमशर १ अंश ३० कला होता है, इस से २७ नक्षत्रों में से जिस के साय निकटपुति होनी सम्भव है वह केवल पुष्य, मघा, विशाखा, अनुराधा, शतभिषा और रेवती नक्षत्र हैं। इस कारण गुरु और तिष्य नक्षत्र की पुति होने पर, निकटता प्रयुक्त दोनों नक्षत्र और एकसा प्रतीत होने से मुक्तिकाल के पीछे जब गुरु बाहर हो गया हो तो तिष्य नक्षत्र से इस की उत्पत्ति मानी गई (रूपकालङ्कार से) प्रमाणः—

वृहस्पतिः प्रथमं जायमानः तिष्यं नक्षत्रमभिसंवभूव ॥ १॥

(तै० ब्रा० ३।१।१)

वृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन् ॥ २॥

(ब्रा० ४।५०।४)

वृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन् ॥ ३॥

(अथर्व० २०।८८।४)

ईमान्यद्वपुषेवपुश्चक्रं पर्यन्या नाहुषा युगा मन्हा रजांसि दीयथः ॥ ४ ॥

(ऋ० सू० ५।३३।३)

वृहस्पति एकवार सूर्य के परिभ्रमण में मनुष्य के १२ सौरवर्ष होते हैं अर्थात् १२ वर्ष में अपना चक्र पूरा करता है ॥ ४ ॥

वृहस्पति की सस्या दिव्य अन्यान्य शुक्रादि ग्रहों से ऊपर की है—

वृहस्पतिर्मा विश्वेर्देवैरुर्ध्वायादिशः पातु ॥ अथ० २।१७।१०

जिस समय आधीरात का आकाश में वृहस्पति उदित होता है या सूर्योदय समय जब यह ग्रह अस्तमित होता है एवं सूर्यास्तकाल में जब इस का उदय होता है। उस समय यह शुक्र की भाँति पृथिवी के अत्यन्त निकटवर्ती होकर हम लोगों को शुक्र ग्रह की भाँति अति चञ्चल ज्ञान होता है। इसी कारण वेदों में “अश्विनी” नाम से प्रातःकालीन एवं सन्ध्याकालीन कर्त्तव्य विधायक मन्त्रों में इन का वर्णन बहुत स्थलों में आया है ॥

और भी इस ग्रह के विषय में वेदों के प्रमाण —

आवेधसं नीलशृष्टं वृहन्तं वृहस्पतिं सद्ने सा-

दयध्वम् । सादद्गोनिं दम आ दीदिवांसं हिरण्य

वर्णमरुपं सपेम ॥ ऋग्वेद सं० ५।४३।१२ ॥

इस मन्त्र से वृहस्पति का बड़ा होना, नीला, लाल, रमणीय, श्वेतवर्ण अर्थात् नाना रङ्ग का होना एवं देदीप्यमान होना सिद्ध होता है ॥

वृहद्भवयो वृहते तुभ्यमग्ने धिया जुरोमिथुनासः

सधन्त ॥ ऋग्वेद सं० ५।४३।१५ ॥

जिस प्रकार यज्ञवेदी के दो ओर दो २ स्त्री पुरुष अर्थात् ४ मनुष्य मिल के यज्ञ करते हैं, इस प्रकार हे बृहस्पति ! चार पारिवारिक ग्रहों से सुशो-
भित हो रहे हो ॥

बृहस्पति का नाम आङ्गिरस क्यों है सो इस मन्त्र से सिद्ध होता है—
यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसां विप्र मन्मभि-
विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः ॥ ऋग्वेद सं० १। १२७। २ ॥

इस मन्त्र के भाष्य में सायण ने निरुक्त और ऐ० ब्रा० का प्रमाण दिया है—

अङ्गाराणां मध्ये ज्येष्ठं ज्वालायुक्तत्वात् ।

अङ्गिरा अङ्गारा इति यास्कः ॥ नि० ३। १७ ॥

ये अङ्गारा आसंस्तेङ्गिरसोभवन् । ऐ० ब्रा ३। ३४ ।

अर्थात्—बृहस्पति ग्रह सद्य ग्रहों से बड़ा होने और प्रकाशयुक्त होने से आङ्गिरस नामक है ॥

शनैश्चर

इस ग्रह की संस्था—बृहस्पति के अनन्तर है, यह सूर्य से अत्यन्त दूर पृथ्वी पर है । प्रायः ९०८९३००० माईल दूरी पर अवस्थित है । यह ९८ घण्टा १६६ दिन २३ घण्टा १६ मिनट ३२ सेकेण्ड में सूर्य की एक बार परिक्रमा कर लेता है । अत्यन्त दूर होने के कारण इस की किरणें पृथिवी पर अतिशय भाव से प्रकाशित होती हैं । इसी से इस की आरुति स्पूलदृष्टि से गदाश्री की नाई छोटी जान पड़ती है परन्तु वास्तविक दूरबीनद्वारा जाना गया है कि इस में इतनी उष्णता है जो ग्रहों में इस की उष्णता की उपमा, नहीं हो सकती प्रत्युत द्वितीय सूर्य ही है अर्थात् सूर्य ही से इस की उपमा हो सकती है । सूर्यसदृश उष्ण होने से इस का नाम “सूर्य का पुत्र” संस्कृत ग्रन्थों में लिखा है एवं अत्यन्त मन्द गति होने से “शनैश्चर” (शनैः=धीरे २ । चर=चलने वाला इस की आरुति विलक्षण भाव से दृष्टिगोचर हुई है अर्थात् तीन चर वा अङ्गुरीय के बीच में स्थित है । इन चक्र में दो यज्ञयज्ञ और एक दीप्तिहीन । एवं चक्रत्रय शनि से बहुत अवस्थित और परस्पर सलग्न नहीं हैं । इन तीन अङ्गुरीय के बाहर आठ उपग्रह हैं जो इन को गिर्य परिभ्रमण करते हैं । जैसे हमारी पृथिवी को रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशित करता है इसी प्रकार शनि आठ चन्द्रद्वारा रात्रि में आलोकित होता है । शनैश्चर

का रङ्ग नीला, पीला, पाहुर, तामे का रङ्ग अनेक प्रकार के रङ्ग प्रतीत होते हैं ।
अब हम ठीक इसी प्रकार छत्तणयुक्त पर्यटन का प्रमाण वेद में दिखाते हैं:-

आधर्णसिर्वृहद्विषो रराणो विश्वेभिर्गन्त्वोमभिर्हुवानः ।

भा वसान ओषधीरमृध्रस्त्रिधातु ऋद्धो वृषभो वयोधाः ॥

(ऋ० सं० ५ । ४३ । १३)

अर्थात्-यह सूर्य की नार्हें प्रकाशमान बहुत ऊपर तीन रङ्ग के बड़े २
विम्बों से वर्जित और अत्यन्त उवालायुक्त है ॥

सडजर्भुराणस्तरुभिः सुते गृभं वयाकिनं चित्तगर्भासु सुस्वरुः ।

धारवाकेष्वजुगाथ शीभसे वर्धस्व पत्नीरभिजीवोअध्वरे ॥

(ऋ० सं० ५ । ४४ । ५)

अर्थात्-हे सन्दर्गमिन् ! अनेक छोटे २ पर्वों (उपपर्वों) के बीच अवस्थित
अर्थात् शनिग्रह । तुम छोटे काम वाले पर्वों के बीच में कैसे शोभते हो, जिस
प्रकार ताराओं में चन्द्रमा । इस से शनि के उपग्रह सिद्ध होते हैं ॥

उषायांसमस्य यतुनस्य केतुन ऋषिस्वरं चरति यासु नाम ते ॥

(ऋ० ५ । ४४ । ८)

हे सूर्य ! जिस प्रकार सप्तर्षि तारे हैं, ऐसे तुम जान पड़ते हो, परन्तु
बड़े तेजस्वी और तुम्हारे अधिकांश गुण सूर्य की नार्हें हैं अर्थात् प्रकाश
उज्ज्वलता, गति और रोहिणी नक्षत्र का शकटभेद (देखो सूर्यसिद्धान्त अ० ८)
मायः शनि, मङ्गल और चन्द्रमा करते हैं अर्थात् रोहिणी नक्षत्र का आकार
गाड़ी की नार्हें है, जो इन शनि आदि के भ्रमण मार्ग में पड़ने से हम लोगों की
नेत्र की नार्हें आच्छादित हो जाने से छिप भिन्न दृष्टिगोचर होता है । इस
शकटभेद की फलित ज्योतिषी लोग अशुभ मानते हैं । यह शकटभेद बहुत
कम होता है । गणितद्वारा जाना गया है कि आज से ५००० वर्ष पूर्व रोहिणी
का शकटभेद शनि ने किया था ॥

वस्तुतः इस से कुछ शुभाशुभ फल हम लोगों को नहीं होता, न किसी
सद्व्यय में इस का उल्लेख है, परन्तु पौराणिक भाव्यों की किर भीका
मिछा भर के पद्मपुराणान्तर्गत काशीखण्ड में लिख मारा कि श्री महाराज
दशरथ जी के समय में शनि ने रोहिणी का शकटभेद किया था, जिस से उन
के राज्य में १२ वर्ष तक अनापृष्टि हुई तो श्री दशरथ जी ने आकाशमण्डल में
जाकर शनि से युद्ध किया तो शनि ने पराजित होकर राजा को वर दिया कि
तुम्हारे राज्य में अब मैं पीड़ा न दूंगा । अब इसी निर्यात कथा को लेकर

पौराणिक जी ने शनि की स्तुति रच ली ! ! ! क्या आश्चर्य की बात है ? कि वेदादि सद्ग्रन्थों में सूर्यादिक आकाशस्थ पदार्थों को तो जड़ माना है, परन्तु महाराज दशरथ जी ने उन से छद्माई की ! ! !

प्रजापति (युरेनस)

इस ग्रह का वर्णन वेद छोड़ कर किसी ज्योतिष के सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों में नहीं पाया जाता । इस की संस्था शनि के बाद है । सन् १७८१ में हर्शल साहय ने गगनमण्डल को देख कर इस का निश्चय किया था । इस ग्रह की सूर्य से प्रायः १८२२००:००० मैल दूरता है । एवं ठपास परिमाण इस का प्रायः ३४५०० मैल है । हमारे पृथ्वी वर्ष ५ दिन १५ होरा ४१ मिनिट ३६ सेकेण्ड में इस का १ वर्ष वा सूर्य को परिक्रमण करता है । इस का रङ्ग शुभ्र और कुछ नीला सा है और इस के = उपग्रह हैं । जिस प्रकार हमारे प्राचीन ग्रन्थों में यहाँ की आकृति आदिके अनुसार उन के नाम हैं उसी का अनुकरण ग्रीक और रोमन लोग भी करते हैं । उन में भी बृहस्पति की "जुपिटर" (दुपिटर) और शनि का "सटर्न" देव नाम रक्खा है । ये लोग शनि को बृहस्पति से बड़ा आकार वाला समझ कर बृहस्पति का पिता शनि को मानते हैं और बृहस्पति का पितामह (दादा) युरेनस को मानते हैं । इसी प्रकार यद्यपि हमारे आधुनिक ज्योतिष ग्रन्थों में इस ग्रह का उल्लेख नहीं पाया जाता, परन्तु सप्त लक्षणों के मिलाने से हमारे वेद में प्रजापति नामक यह से अधिक सा-दृश्य होता है । इस के अनेक उल्लेख वेद की संहिताओं में पाये जाते हैं, परन्तु मेरे पास सायणभाष्य न होने के कारण मन्त्रों का प्रमाण नहीं दे सका । सूर्यसिद्धान्तादि प्रचलित ज्योतिषके पुस्तकों में इस का कुछ भी वर्णन नहीं है ॥

वरुण (नेप्चुन)

प्रजापति (युरेनस) के अनन्तर वरुण की कथा है । इस का भी वर्णन ज्योतिष के सूर्यसिद्धान्त और आर्यभटीयादि ग्रन्थों में नहीं पाया जाता । परन्तु आधुनिक आखिरका सप्तलक्षणों के मिलाने से वेद में इस ग्रह का वर्णन पाया जाता है । जिस के अनेक प्रमाण दिये जाते हैं, परन्तु प्रथम इस का वर्णन जैसा कि अङ्कुरेजी ग्रन्थों में लिखा है, लिख कर पुनः वैदिक प्रमाणों से तुलना की जावेगी । पेरिसनगर निवासी ज्योतिर्विद् " लावेरीयर " प्रकृतिकतिपथ रचति इस प्रकार विचार कर कि युरेनस ग्रह के अनन्तर अवश्य ही कोई दुगुण ग्रह है, एवं उस अज्ञात ग्रह के आकर्षणद्वारा युरेनस की कक्षा

इस प्रकार विचलित होती है, इत्यादि प्रकार अनुभव करने लगे, एव कुछ काल के पीछे निश्चय किया, परन्तु उन के पास दूरबीक्षण यन्त्र नहीं था। इस कारण वे हम के स्थान को प्रकट नहीं कर सके। बर्लिन नगर के ज्यो-तिर्विद् डाक्टर गालसाहब को स्वीय ग्रहगणना विवरण सम्बलित इस प्रकार एक पत्र लिखा कि वास्तविक यदि किसी अज्ञात ग्रह की आकर्षण शक्ति से युरेनस ग्रह की कक्षा विचलित होती है तो यह ग्रह हम समय गगनमण्डल में अमुक स्थान में अवश्य रहेगा। आप इस स्थान को अनुसन्धान कर अवश्य देखेंगे।

डाक्टर सन् १८४६ ई० ता० २३ सेप्टम्बर की पत्र पाकर उसी रात्रि में आकाशमण्डल में विलिखित उत्कृष्ट दूरबीक्षण यन्त्रद्वारा निरीक्षण करने लगे और उसी रात्रि में इस अनाविष्ट ग्रह को उसी स्थान में पाया जहाँ डाक्टर गालसाहब ने पत्र में लिखा था। अब हम उसी नियम के अनुसार जो व्यास एव दूरी आदि का निश्चय हुआ है, लिखते हैं -

सूर्य से इस की दूरी २८५०००००० मैल है, एव हमारे वर्ष परिमाण से प्राय १६४ वर्ष २२६ दिन में यह सूर्य को एक बार परिभ्रमण कर लेता है। अब तक इस के दो उपग्रह जाने गये हैं। इस का व्यास ३६१८३ मैल है। हमारी पृथिवी पर जितनी सूर्य की किरणों की उष्णता होती है, उस के १००० वा भाग गर्मी इस ग्रह में पहुँचती है। इसी से "जल की देवता" अङ्गरेजों ने इसका नाम अमर्यर्च ही रक्खा है। अब वैदिक प्रमाण दिये जाते हैं -

ऋग्वेदादि संहिताओं में इस ग्रह का यणन पाया जाता है, परन्तु मेरे पास सायणभाष्य न होने से मन्त्रों का प्रमाण नहीं दे सका और प्रचरित सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों में इस का कुछ भी वर्णन नहीं है ॥



उत्तर खण्ड

पार्श्वार्थ परिवहती एव एतद्देशीय नक्षत्रसित लोगो का ऐसा निश्चय है कि भारतवर्षीय ज्योतिषग्रन्थों में इस खण्ड के नक्षत्रों का उल्लेख नहीं है और न इस देश के पूर्वज लोग जानते थे इत्यादि। यह कहना उन का एक मात्र अविश्वसनीय है। हम प्रमाण के साथ सिद्ध करते हैं कि जब वेदों में सब खण्डों के नक्षत्रादिकों का उल्लेख है तो अवश्य वेद की भासा एव आप (ज्योतिष) ग्रन्थों में होगा -

विश्वकर्मा सप्तऋषिभिरुदीच्यादिशः पातु । अथर्वश्रुति १७।७
अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुहचिद्विवेयुः ॥

(अथर्व सं० १ । २४ । १०)

सप्तर्षीन् ह स्म वै पुरक्षा इत्याचक्षते ॥ श्रुति १७।७ । १।२।४०

अथर्ववेद की ऋचा में स्पष्टतया सप्तर्षि तारा की संख्या उत्तर दिशा में लिखी है और ऋग्वेद की ऋचा में “ऋक्ष” शब्द से सप्तर्षि का उपदेश है। अर्थात् ये जो रात्रि में घड़े २ नक्षत्र उत्तर ओर हैं । इस समय (दिन में) कहां हैं। शतपथ ब्राह्मण में “ऋक्ष” शब्द से और सामान्यतः सब नक्षत्र सप्तर्षि तारा अर्ध लेने के लिये पुष्ट प्रमाण है। यों ऋक्ष का अर्थ भालु है और अंग्रेजी में भी सप्तर्षि तारों को ‘ग्रिटीअर’ अर्थात् बड़ा भालुक लिखा है, जो उत्तर दिशा में है ॥
विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरः सह पङ्क्त्याश्रितः ॥

(अथर्व सं० १३ । ३ । ३ । ५)

अर्थात् ‘हंस’ नामक नक्षत्र, (विराट्) ब्रह्महृदय, (परमेष्ठी) प्रजापति, अग्नि ये चारों नक्षत्र राशिचक्र (वैश्वानर) की पंक्ति से उत्तर में हैं ॥ अङ्गरेजों ने भी दूरबीन द्वारा देखकर ठीक ऐसा ही लिखा है ॥

सउदतिष्ठत उदीचीं दिशमनुव्यचलत् । तं श्यैतं च
नौधसं च सप्तर्षयश्च सोमश्च राजानुव्यचलत् ॥

अथर्व वे० १५ । १ । २ । २२

उत्तर दिशा में जाकर भुव नामक नक्षत्र (श्यैत) और भुवमत्स्य (नौधस) एवं सप्तर्षि नक्षत्रों को देखे ॥ इन्हीं दो नक्षत्रपुलों को (जिन में ७ सात नक्षत्र हैं) अङ्गरेजी में पोल स्टार Pole Stars कहते हैं ।

सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपोदेवीः प्रजापतिम् ॥

(अथर्व सं० ११ । ४ । ६)

अपस्पुत्रासो संविशध्वमिमं जीवधन्याः समेत्य ॥

(अथर्व सं० १२ । ३ । ३ । ४)

अर्थात्—आपनामक नक्षत्र एवं प्रजापति और अपांविस्स नामक नक्षत्र राशिचक्र के पास हैं ॥

इस खण्ड में सप्तर्षि नक्षत्रों के पास एक अरुन्धति नामक नक्षत्रपुल है।

जिस की अंग्रेजों ने "केवशिपिमा राजमहिधी" नामक नक्षत्र लिखा है। सप्तर्षि नक्षत्रों के नाम अत्रि १, अक्षुरा २, वसिष्ठ, ३, मरीचि ४, पुलह ५, पुलस्त्य ६ और क्रतु ७ ये नाम वेद में नहीं। इन नामों से नक्षत्रों का दूसरा प्रयोजन नहीं। ये केवल उन २ ऋषियों द्वारा वेदोत्तरकालीन समय में जाने गये हैं और दूसरा प्रकार यह भी है। जैसे महर्षियोग अपने उत्तम कर्मद्वारा नक्षत्रों को लाभ कर अचल सुख में निगमन हुये इसी प्रकार ये (अतिगतिस्त्री) एवं स्थिर धिराजते हैं ॥

ध्रुवमरुन्वती सप्तर्षीनिति दृष्ट्वा वाचं विसृजेत ॥

आश्वलायन गृह्य सू० १।७।२२

अर्थात् ध्रुव, अरुन्वती, सप्तर्षिनक्षत्रगण इन की देख कर बोलें। आश्वय यह है कि जिस प्रकार ये नक्षत्र उज्ज्वल एवं अचल हैं इसी प्रकार जो बात कहें वह हूट अविचल एवं उत्तम हो ॥

सप्तर्षीन्पृष्ठतः कृत्वा युध्येयुरचला इव ॥ १९ ॥

महाभारत शां० रा० ध० अ० १८०

अर्थात् जिस प्रकार सप्तर्षि नक्षत्र अचल हैं (अतिगतिवाले) इस प्रकार अपने को अजर अमर वीर समझ कर युद्ध किया ॥

इस खण्ड में भी असंख्य नक्षत्र हैं जिन का उल्लेख वेदों में प्रायः कई स्थानों में है। विस्तरस्य से यहां नहीं लिखते ॥

गन्धर्वा एनमन्वायत् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः । पट् सहस्राः
सर्वान्स देवांस्तपसा पिपत्ति ॥ अथर्व० ११।३।५।२ ॥

३३ गन्धर्व अर्थात् राशिचक्रान्तर्गत नक्षत्रपुत्र मध्य खण्ड में एवं उत्तर खण्ड में ६३० नक्षत्र हैं। जिस प्रकार बड़े तपस्वीगण अपने पुण्यकर्म द्वारा दिव्य लंक बोल सुख को पाते हैं, इस प्रकार प्रकाशित हैं। नक्षत्रों की गन्धर्व संज्ञा है। इस का प्रमाण—

वातो वायनो वा गन्धर्वाः सप्तयिंशतिः ॥ यजु० अ० ६।७ ॥

अर्थात् ३० नक्षत्रों की गन्धर्व संज्ञा है ॥

दक्षिण खण्ड

इस खण्ड में अंग्रेजों ने बहुतसी ताराओं की गति आदि जान कर निश्चय

किया है और वे लोग तथा भारतवर्षीय नवशिक्षित आर्य ग्रन्थों से अनभिज्ञ लोग कहते हैं कि आर्यावर्त के ज्योतिष ग्रन्थों में मध्य खण्ड की छंड़ कर उत्तर, दक्षिण खण्ड के नक्षत्रों के विषय में कुछ उल्लेख नहीं है और उन के पूर्वज लोग नहीं जानते थे इत्यादि। यह कहना उन का कदापि मानने योग्य नहीं। यद्यपि हमारे सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों में इस खण्ड के नक्षत्रों का उल्लेख नहीं पाया जाता, परन्तु वेद ब्राह्मण वाल्मीकीय आदि आर्यग्रन्थों में इस का उल्लेख है। हमें जितने नक्षत्रों का पता लगा है उन को लिखते हैं:—
 घयातिनक्षत्रपुञ्ज, निरा नक्षत्रपुञ्ज और नीकापुञ्ज, ये रूपविकारी (पूर्वोक्त) हैं और वृषपर्व, शर्निष्ठा और देवपानी ये तीन नक्षत्रपुञ्ज नवपतारा हैं और सारधिनानक पुद्गु भी। एवं त्रिशङ्कुनामक नक्षत्रपुञ्ज, निपुनमाला तारा है। आकाशगङ्गा, यमुना, अगस्त्य, यम, दिव्यश्वान, कालकल्ला, व्याध, रघैः भवाः और दक्षिणक्षं ये नक्षत्र सप्त राशिचक्र के दक्षिण में हैं ॥

१ शुनो दिव्यस्य यन्महतस्तेन ते हविषा विधेम ॥ १ ॥

२ ये त्रयः कालकल्ला दिवि देवा इवश्रिताः ॥ २ ॥

(अथर्व ० सं० ६।८०)

३ यो ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ ॥ ३ ॥

(ऋग्वेद सं० १०।१४।११)

४ दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्तवन्तो रुमाहेमास्वस्तये ॥ ४ ॥

(ऋग्वेद सं० १०।६३।१०)

५ हिरण्ययी नौरचरद्विरण्ययन्धना दिवि ।

तत्रामृतस्य पुण्यं देवाः कुष्ठमयन्वत ॥ अ० सं० ५।४।४

अर्थात् राशिचक्र के दक्षिणखण्ड की यमलोकसंज्ञा है, क्योंकि वहाँ एक यमनामक नक्षत्र है। इस नक्षत्र के पास दो कुत्ते की आकृति वाले दो नक्षत्र हैं। जिन को यम के पास होने से “यमदूत” (यमरा, देवशुनी) प्रसिद्ध है दृश्यमगोल के दक्षिणखण्ड के अन्तिम भाग में जिस प्रकार उत्तर ध्रुव के पास चतुर्विंशति आदि नक्षत्र हैं। उसी प्रकार त्रिशङ्कु (त्रयः कालकल्लाः) नक्षत्र पुञ्ज हैं ॥ २ ॥ दो “दिव्य श्वान” नामक नक्षत्रपुञ्ज दक्षिणपथ में हैं ॥ ३ ॥ एवं “नीकापुञ्ज” नामक नक्षत्र जिस की अंग्रेजी में मैवीस (Naivs) कहते हैं। अंग्रेजों ने वल्ल “नीका पुञ्ज” को पुण्य नक्षत्र के पास देखा है। वेद में भी “पुण्य

देयाः" से पुण्य नक्षत्र से सम्बन्ध दिखलाया है (अर्थात् 'पुण्य' के पास हैं) ॥१॥ को अग्नेजी में केनीस मेजर (Canis major) नक्षत्र है वह हमारे यहां ठमाघ नक्षत्र है । देखो सूर्यसिद्धान्त अ० ८ और अग्नेजी में जिस को केनीस माइनर (Canis minor) लिखा है वही हमारे दोनों "दिठ्य श्याम" हैं । अगस्त्य नक्षत्र का वर्णन सूर्य० सि० अ० ८ में किया गया है, वहीं देखो । अब त्रिशङ्कु नक्षत्र के विषय में वाल्मीकीयरामायण में रुपकालङ्कार से लिखा है उसको हम यहां लिखते हैं:-

सृजन्दक्षिणमार्गस्थान्सप्तर्षीनपरान्पुनः । नक्षत्रवंशम-
परमसृजत्क्रोधमूर्च्छितः ॥ २१ ॥ दक्षिणां दिशमास्थाय
ऋषिमध्ये महायशाः । सृष्ट्वा नक्षत्रवंशं च क्रोधेन क-
लपीकृतः ॥ २२ ॥ अन्यमिन्द्रं करिष्यामि लोकी वा स्याद-
निन्द्रकः । दैवतान्यपि स क्रोधात्सृष्टुं समुपचक्रमे ॥ २३ ॥
ततः परमसंभ्रान्ताः सर्पिसंघाः सुरासुराः । विन्ध्यामित्रं
महात्मानमूचुः सानुनयं वचः ॥ २४ ॥ अयं राजा महा-
भाग ! गुरुशपपरिक्षतः । सशरीरो दिवं यातुं नाहंत्येव
तपोधन ! ॥ २५ ॥ तेषां तद्वचनं श्रुत्वा देवानां मुनिपु-
द्गवः । अब्रवीत्सुमहद्वाक्यं कौशिकः सर्वदेवताः ॥ २६ ॥ स-
शरीरस्य भद्रं वल्लिशङ्कोरस्य भूपतेः । आरोहणं प्रतिज्ञातं
नानृतं कर्तुमुत्सहे ॥ २७ ॥ स्वर्गोस्तु सशरीरस्य त्रिशङ्कोरस्य
शाश्वतः । नक्षत्राणि च सर्वाणि मामकानि ध्रुवाण्यथ ॥ २८ ॥
यावद्लोकाः परित्यजन्ति तिष्ठन्त्येतानि सर्वशः । मत्कृ-
तानि सुराः सर्वे तदनुज्ञातुमर्हथ ॥ २९ ॥ एवमुक्ताः सुराः
सर्वे प्रत्यूचुर्मुनिपुद्गवम् । एवं भवतु भद्रन्ते तिष्ठन्त्येता-
नि सर्वशः ॥ ३० ॥ गगने तान्यनेकानि वैश्वानरथाद्
बहिः । नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ ! तेषु ज्योतिःषु जाज्वलन्

॥३१॥ अवाविशरास्त्रिशङ्कुश्च तिष्ठत्वमरसंनिभः । अनु-
यास्यन्ति चैतानि ज्योतींषि नृपसत्तमम् ॥ ३२ ॥

बालकाण्डे ६० सर्गः

चकारान्यं च लोकं वै क्रुद्धो नक्षत्रसम्पदा ।

प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः ॥ ३४ ॥

(महाभारत आदिपर्व ७० १)

ब्रह्मराशिर्विशुद्धश्च शुद्धाश्च परमर्षयः ।

अर्विष्मन्तः प्रकाशन्ते ध्रुवं सर्वे प्रदक्षिणम् ॥

(वाल्मीकीय यु० सू० ४ । ४८)

त्रिशङ्कुर्विमलो भाति राजर्षिः सपुरोहितः ।

पितामहः पुरोस्माकमिक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ॥

वाल्मी० रा० यु० का० ४ । ४८

भावार्थः—राजा त्रिशङ्कु के ऊपर विश्वामित्र की कृपा एवं विश्वामित्र के राजपितृत्व के साथ वसिष्ठ ऋषि के ब्रह्मपितृत्व की तुलना दिखलाने के लिये त्रेतायुगीय वाल्मीकीयरामायण के कर्ता आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने आकाश के दक्षिणखण्ड के नक्षत्रों का आलङ्कारिक रीति पर वर्णन किया है ॥

राशिचक्र के उत्तरीय ध्रुव के पास सात विशेष तेज वाले नक्षत्र हैं जिन को सप्तर्षि कहते हैं । उन सात नक्षत्रों में एक वसिष्ठनामक नक्षत्र है । इसी प्रकार राशिचक्र के दक्षिण भाग में दक्षिणीय ध्रुव के पास सात नक्षत्र हैं, उन्हें भी सप्तर्षि नक्षत्र कहते हैं, एवं इन्हीं के पास त्रिशङ्कुनामक नक्षत्र, दक्षिणार्ध और अगस्त्य आदि हैं । ये सब नक्षत्र अनादिकाल से हैं । जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, एवं अन्यान्य नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदि हैं ॥

विश्वामित्र ने क्रुद्ध होकर दक्षिणभागस्थ सप्तर्षिनामक नक्षत्र, एवं अन्यान् नक्षत्र की रचना करते हुये कहा कि मैं “दूसरा इन्द्र (त्रिशङ्कु) रघूंगा या इन्द्र ही को लोक से निकाल दालूंगा, इस प्रकार नक्षत्रों की रचना करते देव सह-विर्गण और देवलोग विश्वामित्र के पास आकर बोले कि हे तपोधन ! यह राजा (त्रिशङ्कु) गुरु (वसिष्ठ) के शाप से पापी हो रहा है । इस लिये शरीर सहित स्वर्ग को जाने योग्य नहीं है ॥

इन की बात सुन विश्वामित्र बोले कि “त्रिशङ्कु शरीरसहित स्वर्ग को जाये ” इत्यादि प्रकार मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, यह निश्चय नहीं हो सकती ।

इस लिये सशरीर त्रिशङ्कु राजा के वास्ते शाश्वत स्वर्ग हो और ध्रुव नक्षत्र एवं अन्यान्य नक्षत्र जब तक सहिषर्त्तमान रहे, राजा के साथ रहें। इस प्रकार देवतों ने उन की बातें सुन कहा कि ऐसा हो हो। सो आकाश में वैश्वानर पप (अनादि राशिचक्र) के बाहर दक्षिणस्थ सब नक्षत्र बड़े प्रकाश वालों के बीच नीचे की ओर गिर किये त्रिशङ्कु देवतों की भाईं ठहरे उस के साथ अन्यान्य सब नक्षत्र भी जायें ॥

इसी प्रकार महाभारत के उलोक का भी आशय है और श्री रामचन्द्र जी ने युहुकाण्ड में कहा कि देखो किस प्रकार त्रिशङ्कु नक्षत्र प्रकाशित हो रहा है। एव सूर्य और ब्रह्मराशि (अभिजित्) नक्षत्र ध्रुव नक्षत्र के पास प्रकाशित हो रहे हैं ॥

उत्तर गोलार्ध की " देवलोक " या " देवमान " (पप) और दक्षिण गोलार्ध की पितृलोक या " यमलोक " वा " पितृमान " सच्चा है। इस का प्रमाण—
 वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः । ते देवा ऋतवः शरद्वेमन्तः
 शिशिरस्ते पितरः स (सूर्यः) यत्रोदगावर्त्तते । देवेषु
 तर्हि भवति ... यत्र दक्षिणो वर्त्तते पितृषु तर्हि भवति ॥
 शतपथ ब्रा० २ । १ । ३ ॥

अर्थात् जब सूर्य उत्तरायण में होता है, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा ऋतुओं में तो देवमान में दिन एवं शरद्व, हेमन्त, शिशिर ऋतुओं में जब सूर्य दक्षिणायन होता है तब पितृलोकस्थ (दक्षिण गोलार्ध के) प्राणिमों का दिन होता है।

इस प्रमाण से सिद्ध हुआ कि उत्तर गोलार्ध, देवलोक एवं दक्षिण गोलार्ध पितृलोक है। अब हम नक्षत्रों की संख्या कहां तक लियें अनेक स्थल में वेदों में उपलक्षण मात्र से कहीं लाख, कहीं सहस्र कहीं कोटिपर्यन्त नक्षत्रों का वर्णन है। याज्ञवल्क्यस्मृति में लिखा है कि—

पितृयानोऽजवीध्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम् । तेनाग्नि
 होत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥ १८५ ॥

तत्राष्टाशीतिसाहस्रा मुनयो गृहमेधिनः । सप्तार्षिनागवी-
 थ्यन्ते देवलोकं समाश्रिताः ॥ १८७ ॥ प्रायश्चित्ताध्याय

रूपफालङ्कार से आकाश में नक्षत्रों की घर, एवं अल्पपुञ्ज वाले समुदाय की ग्राम, इसी प्रकार नगर, एवं नगर के अन्तर्गत घीघी (मुहल्ला, वा पक्ष) का वर्णन वेद एवं अन्यान्य शास्त्रों में किया है। उत्तर गोलार्ध में "नाग"

के आकार की थी है जहाँ सप्तविं नक्षत्र हैं एवं अगस्त्य नक्षत्र के पास दक्षिणगोलार्ध में "अज" बकरी की नाईं थी (नक्षत्रपुञ्ज) है। इस दक्षिण-खण्ड में प्रायः ८८००० मुनितुल्य स्थिर नक्षत्र हैं—एय अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्म करने वाले इन्हीं दो मार्गों से अर्थात् देवयान और पितृयान से जाते हैं—देखो उपनिषद्। वस्तुतः पुराणों में जो ८८००० मुनियों की कथा है वह इन्हीं नक्षत्रों की लेकर कल्पना कर ली गई है।

. शर्मिष्ठा, देवयानी, आदि नक्षत्रपुञ्ज जिन का प्रमाण संस्कृत ग्रन्थों का नहीं दिया गया है उनका उल्लेख सहस्रहिता वराहमिहिरकृत ग्रन्थ में है विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखा गया ॥

अगस्त्य नामक नक्षत्र का उद्गम प्रायः वर्षाऋतु की समाप्ति और शरद-ऋतु के आरम्भ में होता है। और इस के पास ही इस से न्यून दीप्तिवाला "लोपामुद्रा" नामक नक्षत्र है। ये दोनों राशिचक्र के दक्षिण दिशा में हैं। इस का प्रथम वेद में भी पाया जाता है। जैसे:-

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दीपावस्तोरुपसेा जरयन्तीः ॥१॥

लोपामुद्रा वृषणं नीरिणाति धीरमधीरा धयतिश्वसन्तम् ॥१॥

(ऋ० सू० १। १३८)

अर्थ:-इस मन्त्र से ईश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्यो ! जिस प्रकार लोपामुद्रा नामक नक्षत्र अगस्त्य नामक नक्षत्र के पास अनेक शरदऋतु दिन रात से स्त्री पुरुष की नाईं बिराजती है। इसी प्रकार तुम अपनी स्त्री के साथ अच्छी प्रीति करो ॥

“प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः” ॥

(कालिदास)

अर्थ:-घड़े की नाईं आकारवाले अगस्त्य नामक बड़े प्रकाशमान नक्षत्र के उद्गम होते ही जल बरसा जाता है। आशय यह है कि जिस कारण अगस्त्य नक्षत्र के उद्गम होने से वर्षा की समाप्ति होती है इसी से लोगों में इस की कहावत प्रसिद्ध है कि “अगस्त्य” ऋषि ने अगूठे में समुद्र को रख कर सीख लिया “इत्यादि” ॥

राशिचक्र ।

सूर्य को ज्येष्ठ और आषाढ मास में पृथ्वी के उत्तरांश में और पौष मास में दक्षिणांश में जाते देखते हैं, उसको देख कर ऐसा समझना उचित नहीं कि सूर्य एकबार उत्तर और एकबार दक्षिण इस प्रकार जाया आया

करता है। वस्तुतः पृथ्वी की गति के अनुरोध से जिस समय उस का उत्तरमेरु सन्निकृष्ट प्रदेश सूर्य के सामने होता है उस समय हमको योध होता है कि सूर्य ही कुछ उत्तर की ओर जाता है, उसी समय का हम लोग "उत्तरायण" कहते हैं। अनन्तर जब पृथ्वी का दक्षिणमेरु सन्निकृष्ट प्रदेश सूर्य के सामने होता है, तब सूर्य को पृथ्वी के कुछ दक्षिण ओर जाते देखते हैं। उस समय को सब लोग दक्षिणायन कहते हैं। प्रतिवर्ष सूर्य की इस प्रकार उत्तरायण और दक्षिणायन जाते देखते हैं—इस सीमा को चिन्हित करने के लिये विद्वानों ने मूलपृष्ठ के ऊपर के भाग में दो रेखा कल्पना की हैं—उसकी उत्तररेखा को नाम उत्तरक्रान्ति या 'अयनान्तवृत्त'। दक्षिणरेखा का नाम दक्षिणक्रान्ति या दक्षिण अयनान्तवृत्त कहते हैं। ये दोनों क्रान्तिरेखा विषुवरेखा से उत्तर दक्षिण

की ओर २३. २८ अन्तर में है। (संस्कृत के ग्रन्थों में २४. लिखा है बहुत दिन होने से इतना अन्तर है) इन्हीं दो रेखाओं के बीच में पृथ्वी के मार्ग का जो अध पड़ता है—मेघादि १२ राशि उसके अन्तर्गत होती हैं इसी कारण गगनमण्डल के इस अंश को 'राशिचक्र' कहते हैं ॥

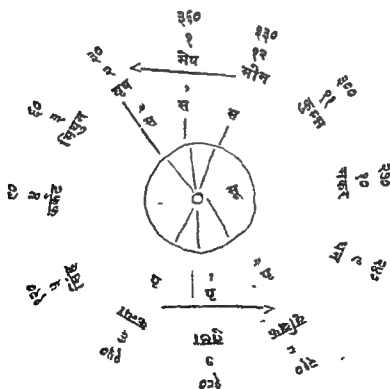
राशिचक्र की परिधि प्रायः नीची ठासी अर्बुद नाईल, एवं उसका व्यास प्रायः उन्नीस दण्ड नाईल, इसी चक्र के भीतर सूर्य अवस्थिति करता है। पृथ्वी सूर्य से नीची फोटी पचास लाख अन्तर में रह कर प्रति वत्सर एकवार सूर्य की प्रदक्षिणा करती है।

पृथ्वी सूर्य की प्रदक्षिणा करती है, पर योध होता है कि सूर्य ही १२ राशियों में क्रम २ से गमन करता है। आपाततः योध होता है कि सूर्य प्रत्येक राशि को २८ दिन से न्यून एवं ३१ दिन अधिक काल पर्यन्त भोग कर ३६५ दिन ६ होरा ८ मिनट १० सेकण्ड में वार्षिकगति समाप्त करता है। वस्तुतः सूर्य पृथ्वी की परिभ्रमण नहीं करता। पृथ्वी अपनी कक्षा में घूमती २ उसकी चारों ओर भ्रमण करती है। इसी से जब पृथ्वी राशिचक्र के उत्तरांश में मेघ, वृष, मिथुन प्रभृति राशियों में जाती है तो उस समय सूर्य को राशिचक्र के दक्षिणांश में तुला, वृश्चिक, धन, आदि राशि में अवस्थित देखते हैं अर्थात् पृथ्वी की गति ठीक विपरीत दिशा में सूर्य की गति अनुमान होती है। जिससमय पृथ्वी कन्या राशि में रहती है, उस समय सूर्य मेघ राशि में, जिस समय पृथ्वी वृश्चिक राशि में, उस समय सूर्य वृष राशि में है, ऐसा लोग समझते हैं। इसी कारण जिस समय पृथ्वी दक्षिणायन सम समय सूर्य उत्तर अयन हुआ योध होता है। पृथ्वी के उत्तरअयन अर्थात् पृथ्वी के मेघ राशि में प्रवेश करने पर सूर्य तुला राशिस्थ जान पड़ता

है। मेष राशि के परे पृथ्वी जब वृष राशि में आती है, सूर्य को वृश्चिक राशि में, एवं पृथ्वी जब मिथुन राशि में आती है तब सूर्य धनराशि में उपस्थित होता दीखता है। एतद्देशीय आधुनिक ज्योतिष में यह बात स्पष्ट नहीं, उस में केवल इतना ही लिखा है कि जिस राशि में जिस ग्रह का उदय होता उसके सप्तमराशि में उसका अस्त होता है। अर्थात् पृथ्वी जिस राशि में रहती है, उस से सप्तम राशि में सूर्य अवस्थित दीखता है॥

सूर्य का इस प्रकार विपरीत दिशा में जाते देखने का कारण यह है कि चल पदार्थ में अवस्थित होकर अचल वस्तु को देखने पर जिस प्रकार अपनी गति अनुभूत नहीं होती। एवं स्थिर पदार्थ ही की गति का भ्रम होता है। इसी प्रकार पृथिवी राशिचक्र में घूमती है, परन्तु हम लोगों को, अनुभव होता है कि सूर्यपरायण कम से एक २ राशि भोग करता है॥

राशिचक्र ज्ञापक चित्र



का नाम तथा इस का अवलम्ब वेदादि सध्याओं से दिखा कर पुनः राशिचक्र में मूल द्वारा क्योंकर दिन रात होते हैं लिखेंगे:-

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरिदौर्यावद्विववाधे अग्निः ।

ततः पष्ठामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभिपष्ठमन्हः ॥

(अथर्व ८।५।८।६)

अर्थात्-राशिचक्र (वैश्वानर) के ऊपर जो स्थान है उस से छः भाग सूर्य एक ओर दृश्य होता है, एवं छः भाग दूसरी ओर दृश्य होता है। जिस से एक छः भाग में एक बार दिन होता है (छः मास तक एव दूसरे भाग में रात और दूसरे भाग में अथ दिन तथा पहिले भाग में रात होती है) वैश्वानर शब्द से जो राशिचक्र अर्थ ग्रहण हुआ उस का प्रमाण:-

गगने तान्यनेकानि “ वैश्वानर ” पथाह्वयहि ।

नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ ! तेषु ज्योतिःषु जाज्वलन् ॥३१॥

(वाल्मीकीय रा० या० सर्ग ६०)

इस पर राम नामक टीकाकार ने लिखा है कि “अनादिज्योतिष चक्र मार्ग से बाहर में नक्षत्र सब प्रकाशित हैं” यह त्रिशङ्कु तारा के वर्णन में है, देखो त्रिशङ्कु वर्णन ॥

विश्वेदेवा द्वादशारेण जगतीमुदजयंस्तामुज्जयम् ॥

(यजु० पू० अ० ८।३३)

अर्थात्-जितने नक्षत्र ग्रह तारादि हैं सब ही राशिचक्र (द्वादशारेण) में अवस्थित होकर उदय और अस्त सम्पादन करते हैं ॥

भपञ्जरः स्थिरो भूरेवावृत्त्यावृत्य प्रातिदैवसिकौ

उदयास्तमयौ सम्पादयति नक्षत्रग्रहाणाम् ॥

(पृषुदकस्यामिहृतार्यभट्टवचनम्)

आर्यभट्टास्त नामक ज्योतिषग्रन्थ का वचन है। अर्थात् राशिचक्र स्थिर है और इस में पृथिवी के अमण के कारण गगन सध्यास्य नक्षत्रादिकों का दैनिक उदयास्त प्रतीत होता है। इस का विधेय प्रमाण पृथिवी के अमण में देखो। अब इस राशिचक्र में २७ नक्षत्र हैं (सर्वसाधारण जानते हैं) पाल्नु वेद में २८ नक्षत्र हैं, एवं इस समय ज्ञातिनी नक्षत्र से आरम्भ होकर देखती पर

समाप्त करते हैं, परन्तु वेद में रुक्तिका से आरम्भ होकर रेवती पर समाप्त हुआ है । प्रमाण -

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने
जवानि ॥ १ ॥ सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तुभद्रं
मृगशिरः शमार्द्रा ॥ पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानु-
राश्लेषा अयनं मघा मे ॥२॥ पुष्यं पूर्वाफाल्गुन्यौ चात्र
हस्तश्चित्रा शिवा स्वातिः सुखो मे अस्त ॥ राधे विशाखे
सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्टमूलम् ॥३॥ अन्नं पूर्वा
रासतां मे अपाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आवहन्तु । अभि-
जिन्मे रासतां पुष्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सु-
पुष्टिम् ॥४॥ आ मे महच्छतभिषग्वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठ-
पदा सुशर्म । आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे राये
भरण्य आवहन्तु ॥५॥ अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि
सहयोगं भवन्तु मे ॥ अथर्व वे० सं० १६ । १ । सू० ७१ । ८ ।

इन नक्षत्रों के नाम ही से इन के आकार का भी बोध होता है सो महा-
कवि कालिदासकृत ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थ में नक्षत्रों की आकृति वि-
धायक श्लोक लिखकर तब इन नक्षत्रों को अर्थात् इकट्ठा एकत्र करके लिखेंगे -

तारका त्रयमिते शराकृतौ केशवे गगनमध्यवर्तिनि ।

मत्तवारणगतेऽजलग्नतो निर्ययुर्गजमहीध्रलिप्तिकाः ॥१॥

मस्तकोपरि समागते धने मर्दलाकृतिनिपञ्चतारके ।

यान्ति कान्तिमति मेघलग्नतः सारसाक्षि रसधात्रलि-

प्तिकाः ॥२॥ मण्डलाभशततारकाकुले मध्यभाजिनभसः ।

प्रचेतसि ॥ वाणशैलधरणीमिताः कलाः शारदेन्दुमु-

पिताधुरैर्ययुः ॥ ३ ॥ मारमूर्त्तिभृतिकोपरिस्थिते पूर्व-

भाद्रपदमे द्वितारके । लिप्पिकाः करिकराक्षि सम्मिता
 निःसरन्ति वृषभोदयात् प्रिये ॥१॥ उत्तरे सुमुखि भारमूर्त्ति
 भृत्युत्तमाङ्गमिलिते द्वितारके । नीलचामरकचे नृयुग्मतो
 लोचनाचलकलाः पलायिताः ॥५॥ दन्तसंख्यभगणे भ्रूपा-
 कृतावस्त्यभे लसदनन्तमध्यगे । कोमलाङ्घ्रि जिमुभोद-
 यात्तदा कालखानलकलाः प्रियेऽचलन् ॥६॥ तन्वि घोटक-
 मुखाकृति त्रिते मस्तकोर्ध्व, भाजि वाजिनि । चारु चन्द्र-
 मुखि कर्कटोदयान् निर्गता गगननन्दलिप्पिकाः ॥ ७ ॥
 तारकात्रययुते त्रिकोणके मध्यगे दिविपदध्वनो यमे ।
 पङ्कजाक्षि मिलिताः कुलोत्तः शायकाक्षि भुज, लिप्पि-
 काः ॥ ८ ॥ हव्यवाहनशिखाकृतौ स्थिते मस्तकोपरि
 पङ्कक्षकेऽनले । सिन्धुसिन्धुरमिताः कला गताः कुन्त-
 दन्ति मृगनायकोदयात् ॥ ९ ॥ कम्बुकण्ठ शकटाकृतौ
 नभोमध्यमागतवति प्रजापतौ । पञ्चभे गजकुपक्षलि-
 प्तिका निःसृताः सुमुखि सिंहलग्नतः ॥१०॥ मूपिकाशन-
 पदाकृतौ विधौ व्योममध्यमिलिते त्रितारके । शार-
 देन्दुमुखि कन्यकोदयादीक्षणानलकलाः कलावति ॥११॥
 उज्ज्वलैकशतपत्रसुन्दरे शूलिनि त्रिदशवर्त्ममध्यगे ।
 निर्गताः खचरघसलिप्पिकाः पूर्णचन्द्रमुखि कन्यल-
 ग्नतः ॥ १२ ॥ मध्यवर्त्तिनि शरासनाकृतिन्यम्बरस्य
 सुरमातृभे गताः । लिप्पिकाः सुमुखि पञ्चतारके पक्षपा-
 वकमिता, घटोदयात् ॥ १३ ॥ रासपीठकठिनीरजःप्रभे
 मध्यमृच्छति विहायसो गुरौ । तौलिनः पृपतमार-

लोचने लोचनेन्द्रिकुमितागताः कलाः ॥ १४ ॥ मौलिगे
भुजगभे श्वपुच्छवदभङ्गराकृतिनि पञ्चतारके । मारकेलि-
रसिके तुलोदयादत्ययुर्जलधियाक्षि लिप्तिकाः ॥ १५ ॥
लाङ्गलाकृतिनि पञ्चतारके चारुकेशि पितृभे शिरोगते ।
नीलनीरजविनिद्रलोचने वृश्चिकाद्विगलितं कलाशतम्
॥ १६ ॥ दक्षिणोत्तरगते द्वितारके योनिभे मिलति मस्त-
कोपरि । कीटतः स्फुटसरोरुहानने निःसृता गजरसाक्षि
लिप्तिकाः ॥ १७ ॥ अर्यमण्यमरवर्त्ममध्यगे सौम्ययाम्य-
मिलिते द्वितारके । चापतश्चपललोचनाञ्जले कालपा-
वकमिताः कलागताः ॥ १८ ॥ मस्तकोपरि कराकृतौ करे
तिष्ठतीन्दुमुखि वाणतारके । लिप्तिकाः शरकुपक्षसंख्य-
काः शायकासनविलग्नतो गताः ॥ १९ ॥ एकमौक्तिकसमु-
ज्ज्वलप्रभे त्वष्टरीन्दुवदने खमध्यगे । आदितो मृगवि-
लग्नमादिशत्युल्लसन्मदनवाणलोचने ॥ २० ॥ कुङ्कुमारु-
णत्तरैकतारके वायुभे सुदतिमध्यमागते । शायकाम्बरच-
राधराः कलाश्चञ्जलाक्षि विययुर्मृगोदयात् ॥ २१ ॥ तोरणा-
कृतिनिपञ्चतारके तारकेशवदने विशाखभे तन्त्रि यान्ति
विद्युधाध्यमध्यगे कुम्भतो रसभुजाः कलाः प्रिये ॥ २२ ॥
पद्मगाकृतिनि सप्ततारके मित्रभे सुदतिमध्यगे दिवि ।
वन्ध्याहुपृथिवीमिताः कला निर्गता घटकुचे घटो-
दयात् ॥ २३ ॥ तन्त्रिकोलरवदनाकृतौ त्रिभे वासवे
वसति मस्तकोपरि । कालवाणवसुधा कलाश्च ख-
ञ्जनाक्षि कलशोदयादयुः ॥ २४ ॥ मौलिभाजि नवतार-

काङ्किते मूलभे सुदति शङ्खमूर्त्तिनि । लिप्तिकाष्टकमराल-
कुन्तले निज्जगाम पृथुलोमलग्नतः ॥ २५ ॥ सूर्यमूर्त्तिनि
शिरोगते चतुस्तारके करिकरोस्तोत्रभे । अन्त्यभाद्र-
मृतवाणि निर्गताः खेचराम्बरशशाङ्कलिप्तिकाः ॥ २६ ॥
शीर्षभाजि भच्चतुष्टयाङ्किते विश्वभे तरुणि सूर्यका-
कृतौ । भूतिरस्फुटमनोजकार्मुके यान्ति कालशरचन्द्र-
लिप्तिकाः ॥ २७ ॥ (ज्योतिर्विदाभरणे) ॥

रात्रिसमय जो नक्षत्र जिस समय ठीक माथे पर दीखेगा वदनुसार जिस
राशि के जितने दण्ड पलादि घूर्त्तने उन का भी ज्ञान इसी चक्र द्वारा होगा ।
१६० अंशों का एक चक्र होता है और प्रत्येक राशि ३० तीस तीस अंशों की एवं

एक एक राशि में सवा दो दो नक्षत्र एवं प्रत्येक नक्षत्र १३ २० में अवस्थित हैं ॥

वेदमन्त्रों में नक्षत्रों के नामों के साथ योग तारा का भी चट्छेरा है । परन्तु
प्रत्येक योगतारा की संख्या नहीं है, किन्तु कालिदास ने ताराओं की संख्या
दी है ॥ नक्षत्रयोग का प्रमाण वेद में-

शिक्षा विभिन्दो अस्मै चत्वार्ययुता ददत् । अष्टपरःसहस्रा

अ० सं० ० ८ । २ । ४१

अर्थात् ४८००० विक्ला जिस में ६० से भाग करने पर ८०० बका होती हैं । देखो
सूर्यसि० अ० १ । ६४

पूर्वोक्त श्लोक और अथर्ववेदीय मन्त्रों का अर्थ धरु द्वारा किया गया है ।

राशिचक्र

सूचना	मन्त्रों के नाम	योगतारा संख्या	क्षेत्र		मन्त्रों की आरुति	राशियों के नाम	क्षेत्र अंश	उदय लग्न का भुज		जिस राशि के कांड यीते हैं
			अंश	कला				दूर	पल	
१	अश्विनी	३	१३	२०	पोषा	{ मेघ १	३०	१	३०	कर्कट
२	मरुती	३	१३	२०	त्रिकोण	{ " २	३०	३	४५	" मिह
३	रुक्मिका	६	१३	२०	अग्निशिखा	{ ध्रुव ३	३०	१	२४	"
४	रोहिणी	५	१३	२०	गाही (शकट)	{ मिथुन ३	३०	३	३८	कन्या
५	मृगशीर्ष	३	१३	२०	विहाउपद	{	३०	०	३२	" तुला
६	आर्द्रा	१	१३	२०	उज्ज्वल	{	३०	०	५२	"
७	पुनर्वसु	५	१३	२०	धनुष	{	३०	३	२४	"
८	पुष्य	१	१३	२०	मणिक्क वण	{	३०	१	४०	वृश्चिक
९	आश्लेषा	५	१३	२०	कुत्ते का पुच्छ	{ सिंह ५	३०	३	२८	"
१०	मघा	५	१३	२०	झल की नाई	{	३०	१	४०	"
११	पूर्वाफाल्गुनी	२	१३	२०	दक्षिण उत्तर दिशा	{	३०	४	२८	धनु
१२	उत्तराफाल्गुनी	२	१३	२०	"	{	३०	०	३६	"
१३	हस्त	५	१३	२०	हाथ की नाई (पल्ले की नाई)	{ कन्या ६	३०	३	३५	"

राशिचक्र

संख्या	नक्षत्रों के नाम	योगतारा संख्या	क्षेत्र	नक्षत्रों की आकृति	राशियों के नाम	क्षेत्र अंश	उदय लग्न मा शुक्र दृश्य पल	जिस राशि के काल होते हैं
१४	चित्रा	१	१३	२०	मुला ३	२०	०	मकर
१५	स्वाती	१	१३	२०	कुम्भ ३	२०	१५	"
१६	विशाखा	५	१५	२०	धनिष्ठा ३	२०	३०	कुम्भ
१७	अनुराधा	७	१३	२०	शुभ ३	२०	३५	"
१८	ज्येष्ठा	३	१३	२०	मृगशिरा ३	२०	४०	"
१९	मूल	८	१३	२०	शत ३	२०	४५	मीन
२०	पूर्वाषाढा	७	१३	२०	मकर १०	२०	५०	"
२१	उत्तराषाढा	७	१३	२०	कुम्भ ११	२०	५५	"
२२	अभिजित	१	१३	२०	मीन १२	२०	६०	"
२३	अश्लेषा	३	१३	२०	वृष ३	२०	१०	मेष
२४	धनिष्ठा	५	१३	२०	मकर ११	२०	१५	"
२५	शतभिष्यक्	१००	१३	२०	कुम्भ ११	२०	२०	वृष
२६	पूर्वभाद्रपदा	२	१३	२०	मीन १२	२०	२५	"
२७	उत्तरभाद्रपदा	२	१३	२०	मीन १२	२०	३०	मिथुन
२८	रेवती	३३	१३	२०	मीन १२	२०	३५	"
३६०								

यह पूर्वाषाढा के मीन
तर है इसलिये १५ की
अश्लेषा अथ मीन से है

उल्लिखित नक्षत्रों के अतिरिक्त और भी नक्षत्र इस मध्यखण्ड में हैं। जिन का वर्णन वेदों में है परन्तु विस्तरभय से हम यहाँ नहीं लिखते। अग्नेजी ने जो इस खण्ड में केवल १०१ ताराओं का निश्चय किया है। उस से भी अधिक ताराओं का सल्लेख वेदों में पाया जाता है। एक नक्षत्र जिस को अग्नेजी में ओरायन (Orion) (इस से मिलता हुआ संस्कृत शब्द अपहायण है) कहते हैं इस का वर्णन ब्राह्मणग्रन्थ में है। जिस प्रकार अङ्कुरेजी ने इस को अनुसन्धान से यथावत् जाना है, उसी प्रकार वर्णन है। और वेद में भी ठीक ऐसा ही शब्द नक्षत्र वर्णन प्रसङ्ग में आया है -

आग्रयणश्च मे वैश्वदेवश्च मे वैश्वानरश्च मे ।

यजुर्वेद० पू० अ० १८ । २७

अर्थात् ओरायन या अपहायण (सुगशीर्ष) राशिचक्र के पास के नक्षत्र एवं राशिचक्र ॥

तमभ्यायत्याविद्धत्स विद्ध जध्वंउद प्रपेत तमेतं मृग इत्या-
चक्षते पर उ एव मृगव्याधः स उ एव सयो रोहित्सा रोहिणी
यो एवेपुष्टिकाण्डासो एवेपुत्रिकाण्डा तद्वा इदं प्रजापते
रेतस्सिक्तमधावत् तत्सरोभवत् ॥ ऐ० ब्रा० १३ । ६ ॥

अर्थात् रोहिणी ऊपर की हुई इस कारण रोहिणी नाम, एवं सुगशीर्ष नक्षत्र रोहिणी से विद्ध होकर रहा इसलिये सुगशीर्ष हुआ एवं जा। दोनों के घाण से विद्ध हुआ वह-व्याध वा लुपक हुआ। आग्रयण यह है कि प्रायः वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में रूपकालङ्कार से गगनमण्डलस्य दिग्ग पदार्थों का वर्णन है। रोहिणी और सुगशीर्ष नक्षत्र जो व्याध के ऊपर हैं उन की आकृति घाण की नाहें है इस से उक्त प्रकार वर्णन है। रोहिणी नक्षत्र के विषय में एक मनोहर रूपकालङ्कार के ब्रह्मण ग्रन्थ में वर्णन है कि ब्रह्मा ने अपनी ३३ कन्यायें चन्द्रमा को दीं परन्तु चन्द्रमा का अधिक स्नेह रोहिणी नामक कन्या से देखकर अवशिष्ट कन्यागण ब्रह्मा के पास जाकर कहने लगीं कि प्रगवन्! चन्द्रमा हम लोगों से अधिक स्नेह रोहिणी में करता है। इस पर ब्रह्मा ने चन्द्रमा और कन्यागणों को परस्पर शपथ देकर कहा कि सब मैं समान प्रीति रखो, सब ने स्वीकार किया। अनन्तर चन्द्रमा फिर भी रोहिणी ने अधिक स्नेह करने लगा। यह देख प्रजापति ने चन्द्रमा की

शाप दिया। इस से चन्द्रमा को यहमा-रोग हुआ, पुनः चन्द्रमा शापमर्षण का प्रार्थी हुआ और ब्रह्मा ने कहा कि सूर्य को चरु दोषी शाप से मुक्त होंगे, इत्यादि। ऐतरेय ब्राह्मण १३।८।१, १, १०॥

अब उक्त आठ्मायिका का सारांश यह है कि कृत्तिका, रोहिणी, पुष्य, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, शतभिषक्, रेवती इन १२ नक्षत्रों के साथ कभी २ चन्द्रमा का विधान (एक लेता है) होता है। इन १२ नक्षत्रों में जो अत्यन्त सूक्ष्म है, उसी का चन्द्रमा अधिक विधान करता है। इस प्रकार के नक्षत्र केवल मघा, ज्येष्ठा, चित्रा, रोहिणी इन में भी उत्तरोत्तर तेजस्वी हैं। अर्थात् मघा से ज्येष्ठा अधिक प्रकाशवाला, ज्येष्ठा से चित्रा, एवं चित्रा से भी अधिक रोहिणी तेजस्वी है। चन्द्रमा का विधान ती प्रायः उक्त नव नक्षत्रों के साथ होता है, परन्तु सब से तेजस्वी तारा रोहिणी का विधान अतिमनोहर होता है। इसी सुन्दरता के कारण केवल रोहिणी का विधान अधिक प्रसिद्ध है। इसी के वर्णन में उक्त आठ्मायिका है। यहाँ अश्विनी आदि २७ नक्षत्र और कृत्तिका की योग-तारा मिल कर ३३ कन्या हुईं। चन्द्रमा को शाप क्या उसमें जो फाला सा चिह्न दीखता है, उसी का वर्णन है। सूर्य को चरु क्या देना सूर्यद्वारा प्रकाशित होता है, सो कृष्णपक्ष में सूर्य अपना तेज ले लेता है। और शुक्ल में देता है। इसी का उस प्रकार वर्णन है। इसी कथा को मूल रूप से लेकर पुराणों में चन्द्रमा और रोहिणी विषयक अनेक कटपटाङ्ग कथा रची गई हैं। अब कृत्तिका नक्षत्र से पीराणिक माया फैली है। उस को लिखते हैं:-

कृत्तिका नक्षत्र की छ. योगतारयें हैं और यह नक्षत्र कार्तिक मास में अवश्य प्रातःकाल उदित होता है। इस की कार्तिक स्वामी नामक देवता नाम कर कार्तिक (स्नान) पूजादि का विधान पुराणों में लिखा है। कार्तिक स्वामी का नाम पाशमातुर, शक्तिधर, शरजन्मा आदि। छः योगतारा सानों उस की माता है। इसलिये "पाशमातुर" नाम जान कर आहम्बररचे हैं। वास्तविक यह पोपसीला मात्र है। अविद्या के प्रभाव से यह सब जाल फैला है ॥

नक्षत्रों की देवता

सैत्तिरीय ब्राह्मण एवं यजुर्वेद ज्योतिष में अश्विनी आदि २७ नक्षत्रों की भिन्न २ देवतायें लिखी हैं, परन्तु सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिष ग्रन्थों में इस

का कुछ भी वर्णन नहीं है। देखने से महाभारत, मिताक्षरा एवं वाल्मीकीय-रामायण आदि ग्रन्थ और भिलाने से खगोल के नक्षत्रों की अनुमान होता है कि एक सौर जगत् (जिस में हम लोग हैं) में बुध, शुक्र, मङ्गल, बृहस्पति आदि अनेक लोक हैं और एक २ लोक में अनेक छोटे विभाग हैं । हमारे शास्त्रों में ऐसे विभागों के अनेक उल्लेख पाये जाते हैं और ये विभाग नक्षत्रों की आकृति नक्षत्रपुङ्ख और दिशा आदि के अनुसार हैं । जैसे प्रत्येक अश्विनी आदि नक्षत्रों का नाम घोड़ा आदि आकृति के अनुसार है और पुनः प्रत्येक सवा दो दो नक्षत्र की एक एक राशि (पुङ्ख) रूप १२ विभाग हैं (जिन की मेघ आदि आकृति है) इसी प्रकार प्राचीन रीति से कृतिका नक्षत्र की देवता "अग्नि" है । सो यास्तविक दूरबीन से देखने से इस की आकृति अग्नि की नाईं मालूम होती है। इसी प्रकार अन्यान्य कई नक्षत्रों की देवता हैं । यह ती आकृतिपरक देवता हुईं । अब खगोल के विभाग के अनुसार देवयान आदि सत्ता । खगोल के उत्तरीय भाग की देवता देवयान सत्ता है और दक्षिण प्रदेश की पितृयान और यम सत्ता हैं । और अगस्त्य नक्षत्र के प्रदेश की "वीषी" सत्ता है । किसी की सर्प सत्ता है । इसी विभाग के अनुसार जिस २ विभाग में जो २ नक्षत्र पड़ा है, उस २ की वह २ देवता (आकाशस्थ समस्त चमकीले पदार्थ की देव) सत्ता है । इस विभाग के विषय में प्राचीन प्रमाण है:-

पितृयानोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम् । तेना-
ग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥ १८४ ॥
तत्राष्टाशीतिसाहस्रं मुनयोगृहमेधिनः । सप्तर्षिना-
गवीथ्यन्ते देवलोकं समाश्रिताः ॥ १८७ ॥

(याज्ञवल्क्यस्मृतौ)

आशय-जिस प्रकार एक भारतवर्ष के भीतर अनेक सूबे (धङ्गालादि) हैं । प्रत्येक सूबों में अनेक कमिश्नरी या जिल्ला सफरके हैं । एक सफरके में अनेक बड़े १ मुहल्ले हैं । एक २ मुहल्ले में अनेक बड़ी एवं छोटी गलियां हैं । इसी प्रकार खगोल में सौर जगत् के विभाग हैं । पितृयान, अजवीथी, देवयान, नाग-वीषी आदि । और भी प्रमाण:-

स (सूर्यः) यत्रोदगावर्त्तते देवेषु तर्हि भवति यत्र दक्षिणा
वर्त्तते तर्हि पितृषु भवति ॥ शत० ब्राह्मणे २ । १ । ३ ॥

अर्ध-वह सूर्य जब उत्तरायण होने पर उत्तर की ओर जाता दीखता है तो देवयान प्रदेश में होता है। एवं जब दक्षिणायन होता है तो प्रिवयान प्रदेश में होता है ॥

इसी प्रकार सूर्य के जो १२ नाम हैं वे भी आकाश के विभाग के अनुसार जित २ भाग में आकाश के जित जिस प्रदेश में सूर्य दीखता है, उस २ विभाग के अनुसार सूर्य के १२ नाम हैं। इन का वर्णन महाभारत के आदि-पर्व में है, हम यहाँ विस्तारमय से उन श्लोकों का उल्लेख नहीं करते हैं। इसी के अनुसार नक्षत्रों की देवता छसी है। प्रमाण -

कृत्तिका नक्षत्रमभ्यग्निर्देवताग्नेरुचस्थ प्रजापतेर्धातुः
सोमस्यर्चं त्वा रुचे त्वा द्युते त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा
रोहिणी नक्षत्रं प्रजापतिर्देवता मृगशीर्षं नक्षत्रं सोमो
देवतार्द्रा नक्षत्रं रुद्रो देवता पुनर्वसू नक्षत्रमदितिर्दे-
वता तिष्यो नक्षत्रं बृहस्पतिर्देवताऽऽश्लेषा नक्षत्रं सर्पा
देवता मघा नक्षत्रं पितरो देवता फल्गुनी नक्षत्रमर्य-
मा देवता फल्गुनी नक्षत्रं भगो देवता हस्तो नक्षत्रं
सविता देवता चित्रा नक्षत्रमिन्द्रो देवता स्वाती नक्षत्र
वायुर्देवता विशाखे नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवताऽनुराधा
नक्षत्रं मित्रो देवता रोहिणी नक्षत्रमिन्द्रो देवता विधृतौ
नक्षत्रं पितरो देवतापाठा नक्षत्रमापो देवतापाठा नक्षत्रं
विश्वे देवा देवता श्रवणा नक्षत्रं विष्णुर्देवता श्रविष्ठा
नक्षत्रं वसवो देवता शतभिषद् नक्षत्रमिन्द्रो देवता प्रो-
ष्ठपदा नक्षत्रमज एकपादेवता प्रोष्ठपदा नक्षत्रमहिवुं-
ध्र्यो देवता रेवती नक्षत्रं पूषा देवताऽश्वयुजौ नक्षत्र-
मश्विनौ देवता भरणीर्नक्षत्रं यमो देवता पूर्णापश्चा-
प्यन्ते देवा अदधुः। तैत्तिरीय ब्राह्मणे ४ । ४ । १०

इन मन्त्रों का अर्थ चक्रद्वारा किया गया है -

नक्षत्रों की देवता ज्ञापक चक्र

क्र.सं.	नक्षत्र	देवता	क्र.सं.	नक्षत्र	देवता
१	कृत्तिका	आग्नि	१५	अनुरोधा	मित्र
२	रोहिणी	प्रजापति	१६	ज्येष्ठा	इन्द्र
३	मृगशीर्ष	सोम	१७	मूळ	निर्ऋति
४	आर्द्रा	रुद्र	१८	पूर्वाषाढ़	आपः
५	पुनर्वसू	अदिति	१९	उत्तराषाढ़	विश्वेदेव
६	पुष्य	बृहस्पति	२०	श्रवण	विष्णु
७	आश्लेषा	सर्प	२१	दशमि	यक्ष
८	मघा	पितर	२२	शतभिषक्	वरुण
९	पूर्व फल्गुनी	भग	२३	पूर्व भाद्रपदा	अज एकपात्
१०	उत्तर फल्गुनी	अर्धमा	२४	उत्तर भाद्रपदा	अहिर्बुध्न्य
११	हस्त	सविता	२५	रेवती	पूषा
१२	चित्रा	त्वष्टा	२६	अश्लेषा	अश्विनी
१३	स्वाती	वायु	२७	मघा	यम
१४	विशाखा	इन्द्राग्नी			

गति

एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने का नाम गति है। जड़ पदार्थ निश्चेष्ट स्वयं एक स्थान से दूसरे स्थान में नहीं जा सकता। परन्तु इस में भी एक प्रकार की गति है। चला देने से चलता है। यही नियम संसार में अत्यन्त प्रादुर्भूत है, किन्ती जड़ वस्तु का चलना और रुक जाना तीन कारणों से होता है ॥

१-अपेक्षाकृत गुरुतर वस्तु के आकर्षण, वायुद्वारा अवरोध, एवं दूसरे वस्तु के नाश प्रयोजन। गुरुतर वस्तु का धर्म यह है जो अपने से छोटे वस्तु को आकर्षणद्वारा अपनी ओर ले आता है। जिस के द्वारा कोई वस्तु आकृष्ट होता है, उस को शक्ति कहते हैं। बिना शक्ति के गति नहीं होती। कोई वस्तु किसी निर्दिष्ट काल में जितनी दूर जाता है, उसको उस वस्तु का वेग कहते हैं। जड़ पदार्थ की गति का नाम "कार्य" है और जिस शक्ति से गति होती है, उस को "कारण" कहते हैं ॥

“चक्रावर्त्त” वा “वृत्ताभास”

जिस समय किसी वस्तु को चक्राकार या तदनु रूप पथ में चलते देखते

हैं तो उस समय अवश्य विचारना होगा कि इस वस्तु में दो शक्ति दी गई हैं। एक शक्तिद्वारा नियत निक्षिप्त एवं अपरशक्ति से नियत आकृष्ट होता है। इस में पहिली शक्ति अर्थात् जिस से केन्द्राभिमुख गति होती है, उस को केन्द्राभिकर्षणशक्ति और दूसरी शक्ति अर्थात् जिस से केन्द्र छोड़ कर उस को जाना पड़ता है उस को "केन्द्रप्रसारणी" शक्ति कहते हैं ॥

केन्द्राभिकर्षणी शक्ति वा मध्याकर्षण शक्ति

सूर्य की शुरुता के कारण पृथिवी उस के द्वारा आकृष्ट होकर सूर्य की ओर जाती है। दूसरी ओर नहीं जा सकती, इसी को केन्द्राभिकर्षणी शक्ति कहते हैं ॥

केन्द्रप्रसारणी शक्ति

जिस धर्म (स्वभाव) के प्रभाव से कोई पदार्थ स्वयंचालित नहीं चल सकता, एवं अन्य कर्तृक चालित होने पर अपने आप स्थिर नहीं हो सकता उस का नाम "अकर्षण" है। पृथिवी उस पदार्थ है, सुतरा इस में पृथिवीय ईश्वर ने जो अजुगमन शक्ति दी है, उसी के प्रभाव से यह सीधी चलती, परन्तु वह शक्ति सूर्य के आकर्षण से प्रतिहत होकर यत्नगति वा वृत्ताभास पथ में चलती है। पृथिवी के अजुगमनाय शक्ति ऊपर कही गई है वही "केन्द्रप्रसारणी शक्ति" है ॥

पृथिवी का गोलचक्र

पृथिवी का आकार गोल है जो अनेक युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध है, परन्तु किन्हीं आधुनिक ग्रन्थकारों ने पृथ्वी को समतल और चतुर्कोण लिया है जो प्राचीन शास्त्रों एवं युक्ति से विरुद्ध होने से मानने योग्य नहीं। गोल होने में जो युक्तियाँ दी जाती हैं वे प्रायः स्कूल एवं छोटी-छोटी पाठशालाओं के पाठ्य पुस्तकों में भी दी हुई हैं। इस लिये मैं केवल यहां प्रमाणों का उल्लेख करता हूँ ॥

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुभ्र-

मानाः । नहिन्यानासस्तिरुस्त इन्द्रं परिरूपसो अद-

धात्सूर्येण ॥ ऋग्वेदे १ । ३३ । ८ ॥

आशयः—पृथिवी गोलाकार है, एवं इस का आधा भाग अर्थात् द्यास गोल होने के कारण सूर्य से प्रकाशित रहता, एवं आधा भाग लब्धकारावृत्त रहता है और सूर्य के आकर्षण पर यह भूगोल टूटता है। पुनः—

आ प्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते

स्वाय धर्मणे । प्रवाहू असाहू सविता सवीमनि नि-

वेशयन्प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत् ॥ ऋग्वेदे ४ । ५३ । ३ ॥

आशयः—सूर्यं द्यौलोक एवं भूलोक आदि लोकों को अपने २ निषमों में रखता हुआ और दिन रात करता हुआ अपनी कील पर अवस्थित है। पुनः—

स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति तं यदस्तमेतीति मन्यन्तेऽह एव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते रात्रौ मेवावस्तात् कुरुतेहः परस्तादथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवावस्तात् कुरुते रात्रौ परस्तात् स वा एष न कदाचन निम्लोचति । ऐतरेय ब्राह्मणे १४ । ६ ॥

इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण में भी लिखा हैः—

स वा एष न कदाचनास्तमेयति । नोदयति । तद्यदेनं पश्चादस्तमयतीति मन्यन्ते । अह एव तदन्तं गत्वा थात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवाधस्तात् कृणुते रात्रौ परस्तात् । स वा एष न कदाचनास्तमयति नोदयति । तद्यदेनं पुरुस्तादुदयतीति मन्यन्ते । रात्रेरेव तदन्तं गत्वात्मानं विपर्यस्यते रात्रिमेवाधस्तात् कृणुतेऽहः परस्तात् । स वा एष न कदाचनास्तमयति न ह वै कदाचन निम्लोचति । गोपथ ब्राह्मणे ९ । १० ॥

अर्थ—सूर्य न कभी छिपता (अस्त) और न निकलता (उदय) है । जो लोग सूर्य का अस्त होना मानते हैं वे दिन के अन्त होने पर अर्थात् रात्रि में पृथिवी के घूमने से पश्चिम से पुनः पूर्व में सूर्य को देखते हैं और सूर्य पृथिवी के इस भाग में दिन और दूसरे भाग में रात्रि को करता है । तब लोग सूर्य का उदय मानते हैं। इसी प्रकार जब दिन के अन्त की प्राप्ति होकर सूर्य पश्चिम में दिखलाई देता है और भूमि के इस भाग में रात्रि और दूसरे भाग में दिन करता है तो लोग सूर्य का अस्त मानते हैं । इन्हीं उपरोक्त दोनों प्रमाणों से पृथिवी का गोलत्व, निराधारत्व एवं दिन रात का होना सिद्ध होता है। पुनः—

वृत्तमपञ्जरमध्ये कक्षापरिवेष्टितः स्वमध्यगतः । मृज्जल-
शिखिवायुमयो भूगोलः वर्तते सर्वतोवृतः ॥ ६ ॥

कुसुमेस्तद्वद्वि सर्वसत्त्वैर्जलजैः स्थलजैश्च
भूगोलः । आर्यसिद्धान्ते गोलपादे ॥ ७ ॥

अर्थ-नक्षत्र एक के भीतर कक्षा से घिरा हुआ आकाश में पञ्चभूतात्मक (सृष्टिका, अग्नि, वायु, जल, आकाश) भूगोल अवस्थित है ॥ ६ ॥ एवं इस की सब ओर जिस प्रकार कदम्ब के फूल के सब ओर पंखड़ी होती हैं, उसी प्रकार पृथिवी के सब भाग में जल और स्थल में उत्पन्न होने वाले प्राणी रहते हैं ॥ ॥ ॥ इसी प्रकार बराहमिहिर ने लिखा है-

पञ्चमहाभूतमयस्तारागणपञ्चरे महीगोलः ।

खेऽयस्कान्तान्तःस्थो लोह इवावस्थितवृत्तः ॥ १ ॥ -

तरुनगनगरारामसरित्समुद्रादिभिश्चितः सर्वः ॥

(पञ्चसिद्धान्तिका अ० १३)

अर्थ-सृष्टिका, वायु, जल, आकाश और पानी यह पञ्चतत्वात्मक भूगोल राशियुक्त के भीतर आकाश में गोलाकार अवस्थित है। जिस प्रकार सुम्बक के भीतर छोंहे का गोला रहता है। इस भूगोल के चारों ओर पृष्ठ भाग वृक्ष, पर्वत, नगर, वाटिका, नदी और समुद्रादिकों से आच्छादित है। सास्कराचार्य ने भी लिखा है:-

सर्वतः पर्वतारामग्रामचैत्यचयैश्चितः ।

कदम्बकुसुमग्रन्थिःकेसरप्रसरैरिव ॥

(सिद्धान्तशिरोमणि भुवन कोषे)

अर्थ-पृथिवी की सब ओर पर्वत प्राग्भीर ग्रामादि हैं जिस प्रकार कदम्ब के फूल की सब ओर पंखड़ी होती हैं ॥ पुनः-

समो यतः स्यात्परिधेः शतांशः । पृथ्वी च

पृथ्व्या नितरां तनीयान् ॥ नरस्य तत्पृष्ठग-

तस्य कृत्स्ना समेव तस्य प्रतिभात्यतः सा ॥

(सिद्धान्तशिरोमणी)

अर्थ-परिधि का शतांश (१०० वां हिस्सा) जिस प्रकार पृथिवीस्य पुरुष की समतल दीख पड़ता है। इस का कारण यह है कि पृथिवी समुद्र की

अपेक्षा बहुत बड़ी है। पुराणों में जो पृथिवी की चपटी लिखा है। उस का खण्डन भास्कराचार्य ने लिखा है—

यदि समा मुकुरोदरसन्निभा भगवती धरणी तरणिः
क्षितेः । उपरि-दूरगतोऽपि परिभ्रमन् किमु नरैरमरैरिव
नेक्ष्यते ॥ यदि निशाजनकः कनकाचलः किमु तदन्तरगः
स न दृश्यते । उदगयन्तनु मेरुस्थांशुमान्कथमुदेति च
दक्षिणभागके ॥ ११ ॥

अर्थ—यदि पृथिवी दण्डोदर घरातल के तुल्य चपटी है तो समुप्यो की ऊपर की भ्रमण करता हुआ सूर्य (सायङ्काल के पीछे) क्यों नहीं दीखता? यदि सूर्य मेरु की ओट में आजाता है तो मेरु क्यों नहीं दिखलाई देता? और यदि मेरु की आड़ से निकल कर सूर्य उदय होता है तो पूर्व उत्तर दिशा ही से सूर्योदय होना चाहिये क्योंकि मेरु उत्तर की ओर है। फिर (शीतकाल में) दक्षिणभाग से सूर्य का उदय क्यों होता है?

इस से यह सामना पड़ेगा कि पृथिवी हों की आड़ में सूर्य आजाता है। अर्थात् पृथिवी का जितना भाग सूर्य के सामने होता है उतने में दिन और जो ओट में आता है उतने में रात्रि होती है। इसी आशय का मन्त्र श्रवण में आया है जिस पर सायणाचार्य ने भी उचितव्याख्य की अनुकूल ही भाष्य किया है—

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्हुदेपि मानुषान् ।

प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ ऋ० सं० मं० १। सू० ५० मं० ५

भाष्यम्—हे सूर्य त्वं देवानां विशः मरुन्नामकान्देवान्मरुतो वै देवानां विश इति श्रुत्यन्तरात् । तान्मरुतसंज्ञकान्प्रत्यङ्हुदेपि प्रति गच्छन्नुदयं प्राप्नोषि तेषामभिमुखं यथा भवति तथेत्यर्थः । तथा मानुषान् प्रत्यङ्हुदेपि तेऽपि यथा अस्मदभिमुख एव सूर्य उदेतीति मन्यन्ते तथा विश्वं व्याप्तं स्वः स्वर्लोकं दृशे द्रष्टुं प्रत्यङ्हुदेपि यथा स्वर्लोकवासिनो जनाः स्वस्वाभिमुख्येन पश्यन्ति ।

तथा उदेपीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति लोकत्रयवर्त्तिनो जनाः सर्वे-
ऽपि स्वस्वाभिमुखेन सूर्यं पश्यन्तीति तथा चाम्नायते-तस्मा-
त्सर्व एव मन्यते मां प्रत्युदगादिति (तै० ब्रा० ६ । ५ । ४)

आशयः-पृथिवीस्य समस्त लोग जानते हैं कि सूर्य मेरे प्रति उदित हुआ
अगर पृथिवी गोल न होती एवं सूर्य अपनी ही धुरी पर न घूमता तो ऐसी
घटना कदापि न होती कि उत्तर मेरुनिवासी (देवता) लोग दक्षिण मेरु
निवासी एवं अन्यान्यप्रदेशस्थ व्यक्तिगण की प्रतीत होता कि सूर्य का उदय
मेरे सम्मुख होता है । उल्लाचार्य ने लिखा है कि:-

समता यदि विदते भुवस्तरवस्तालनिभा बहूच्छ्रयाः ।

कथमेव न दृष्टिगोचरं नुरहो यान्ति सुदूरसंस्थिताः ॥

अर्थ-यदि पृथिवी चपटी होती तो बहुत दूर स्थित ताड़ के समान ऊँचे
ऊँचे पेड़ पूरे दृष्टिगोचर क्यों नहीं होते ? अर्थात् दूरस्थित वृक्षों के केवल
ऊर्ध्व भाग दृष्टि पड़ने का कारण यही है कि उन का नीचे का भाग पृथिवी
की गोलाई की ओट में आजाता है ॥

पृथिवी का आधार

पृथिवी किस के आधार पर टहरी है इसमें अनेक मत हैं-कोई कहता
है कि 'पृथिवी शेषनाग के ऊपर है' कोई बैल पर बतलाता है। एवं कोई फून्म
के पीठ पर कहता है इत्यादि । परन्तु वेदादि सत्य शास्त्रों में एवं आधुनिक
विद्वानों ने निश्चय किया है कि सूर्य के आकर्षण से अपनी कक्षा में आकाश
में अवस्थित है । प्रमाणः-

सत्येनोत्तमिता भूमिः । अथर्ववेदे कां० १४ । १ । मं १ ।

अर्थ-परमेश्वर ने भूमि को धारण किया है । पुनः-

स दाधार पृथिवीम् । यजुर्वेदे

अर्थ:-उसी परमेश्वर ने पृथिवी को धारण किया है ।

“उल्ला दाधार पृथिवीमुत दाम् । ऋग्वेदे”

सूर्य (उल्ला) की आकर्षणशक्ति पर पृथिवी आकाश में है । इसी का अर्थ
न समझ कर किसी लोगों ने छिछदिया है कि पृथिवी बैल के सींग पर है ॥

“स नेमिचक्रमजरं विवावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षुरजसैत्यावृतं तस्मिन्नर्पितां भुवनानि विश्वा ॥

अथर्ववेदे १।१६४।१४

आशयः—सूर्य को केन्द्र (मध्य) करते हुये जितने लोक एवं पृथिवी दशों दिशा युक्त भ्रमण करती हुई अवस्थित है। इसी प्रकार सूर्य के अत्यन्त निकट बुध और शुक्र भी परिक्रमा करते हैं ॥

मित्रो जनान्यातयति प्रजानन्मित्रो दाधार

पृथिवीमत् दाम् । तैत्तिरीय ब्रा० ३।४।११ --

आशयः—सूर्य सब लोकों को (और जगत्) अपनी आकर्षण शक्ति से नियम में रखता हुआ एवं पृथिवी और द्युलोक को धारण करता है ॥ पुनः—

मूर्तो धर्ता चेद्दुरित्यास्ततोऽन्यस्तस्याप्यन्योऽस्यै-

वमन्नानवस्था । अन्त्ये कल्प्या चेत्स्वशक्तिः कि-

माद्रे किन्नोभूमेः साष्टमूर्त्तेश्च मूर्त्तिः ॥

(सिद्धान्त शिरोमणि भुवन कीपे)

अर्थः—यदि पृथिवी का कोई (जैसा कि पौराणिक लोग शेषनाग, मुचलमान लोग बैल पर मानते हैं) मूर्त्तिमान् धर्ता माना जावे तो उस धर्ता का कोई अन्य धर्ता मानना पड़ेगा और फिर उस का कोई दूसरा इनी प्रकार इस का कहीं अन्त न मिल पावेगा अर्थात् इस में अवस्था दोष लगेगा एवं अन्त में यही मानना पड़ेगा कि पृथिवी अपनी ही शक्ति से स्थित है ॥

आकृष्टिशक्तिश्च मही तथा यत्स्वस्थं गुरु स्वाभिमुखं
स्वशक्त्या । आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात्
क्षपतत्त्रियं खे ॥ (सिद्धान्तशिरोमणि भुवनकीपे)

अर्थात्—पृथिवी अपनी आकर्षण शक्ति से भूतल के साथ पदार्थों को अपनी ओर खींचती है इस लिये ये पदार्थ पृथिवी पर गिरते हुये दिगलार्ह देते हैं? जब पृथिवी के समीप हैं तब पदार्थ उसकी अपेक्षा बहुत छंटे होने के कारण उस की आकर्षण शक्ति से पृथिवी पर गिरते हैं तं पृथिवी कहां को गिर जावे ? इस लिये यह शङ्का कि पृथिवी बिना आधार के कैसे रह सकती है ? सर्वथा निर्मूल है ॥

पृथिवी का भ्रमण

पृथिवी की गति दो प्रकार की है—आन्विक और वार्षिक । रथचक्र जिस प्रकार भेद दण्ड के ऊपर नियत घूमता है, उस की इस गति का नाम दैनिक गति है । एवं वह इस प्रकार प्रतिदिन अपनी धुरी पर घूमती २ सूर्यके चारों ओर एक वर्ष में पुनः जहाँ से चली थी वहीं आश्रय इस की उस की वार्षिक गति कहते हैं ॥

इनहीं दो प्रकार की गतियों से दिया, रात्रि, ऋतु परिवर्तनादि माना प्रकार के नैसर्गिक व्यापार सम्पन्न होते हैं । पृथिवी का जो भाग जिस समय सूर्य के सम्मुख होता है उसी भाग में दिन होता है एवं उसके विपरीत भाग में रात्रि होती है । यह प्रतिदिन परिणम से सूर्य को अपनी धुरी पर होता है, परन्तु लोग कहते हैं कि गंगनस्थ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि पूर्व दिशा में उदित होते हैं एवं पश्चिम दिशा में अस्तमित होते देखे जाते हैं यस्तुतः सूर्यचन्द्रादि नक्षत्रों की जिस प्रकार उदित एवं अस्तमित होते देखते हैं, उन का उस प्रकार सद्-यास्त नहीं होता । केवल पृथिवी की गति के कारण ऐसा बोध होता है । किन्तु पृथिवी की यह गति हमारे दर्शन, श्रवण, स्पर्शन आदि किसी इन्द्रिय द्वारा अनुभूत नहीं होती । कोई उस को आस से घूमता नहीं देखता, कान से भी कोई उस की गति के शब्द को नहीं सुनता, एवं उस की गति को कभी कोई स्पर्शोन्मिय द्वारा स्पर्श नहीं करता । इसी कारण कितने ही अगभिज्ज लोग पहिले इस की गति को स्वीकार नहीं करते थे, एवं इस समय भी बहुत से लोग नहीं मानते । जो लोग किसी भी इन्द्रियद्वारा पृथिवी की गति का बोध नहीं करते वे पृथिवी की गति से दिया, रात्रि, ऋतु आदि न जान कर, सूर्यादि आकाशस्थ अगम्य पदार्थ की प्रात्यहिक गति स्वीकार कर उन्हीं के पर्या-कन से दिया, रात्री, ऋतुपरिवर्तनादि मानते हैं । जिस कारण इन दो मतों के भिन्न दूसरा कुछ जहाँ कहा जा सकता । अत्र विचारना चाहिये कि पृथिवी की गति से दिन रात्रि आदि स्वाभाविक घटना होती हैं या सूर्य एवं नक्ष-त्रादि आकाशस्थ पदार्थ प्रतिदिन पृथिवी की प्रदक्षिणा करते, इस से दिन रात आदि होते हैं किन्तु इन दोनों मतों को देखना चाहिये कि कौनसा मत असल (प्राकृत) है एवं कौनसा अप्राकृत है । एवं बहुत से ज्योतिर्विदोंने प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा इस की भीमांश करके सत्यसंस्थापन करने के लिये पदार्थ विद्या द्वारा जिन प्रमाणों का आश्रय लिया है उन में से कतिपय प्रमाण उल्लिखित किये जाते हैं ॥

(१) यदि पृथिवी को स्थिर मान के सूर्यादि पदार्थ की प्रात्यहिक गति स्वीकार की जाये तो प्रत्येक नक्षत्र, ग्रह, उपग्रहादि की भिन्न प्रकार की गति न मानने से दिन रात का पर्याक्रम से होना सम्भव न हो सकेगा। सूर्यादि जो गगनस्थ पदार्थ २४ होरा में पृथिवी की प्रदक्षिणा करते जान पड़ते हैं वे पृथिवी के समान स्थित नहीं हैं। सुतरां तब सब समानगति से एक ही समय में पृथिवी की प्रदक्षिणा नहीं कर सकते। ग्रहगण व नक्षत्रगण पृथिवी से जो जितनी दूरी पर हैं उस की परस्पर की गति तत्तत्परिमाण सत्वर वेग से सम्पन्न होती है। एक समय में आकाशस्थ सफल नक्षत्रादि पृथिवी की प्रदक्षिणा कर सकते हैं। किन्तु भिन्न भिन्न नक्षत्रादि की इस प्रकार भिन्न भिन्न गति सिद्ध होने से कैसा असङ्गत व कहां तक असम्भव है, इस की ओर ध्यान देने से पृथिवी को अवश्य भ्राम्यमाण ही मानना पड़ेगा। नक्षत्रादि पृथिवी से इतनी दूर पर हैं जो उस की गति मन में विचारना व संख्या द्वारा निर्देश करना कठिन है। किन्हीं ज्योतिर्विद पण्डितों ने गणित द्वारा देखा है कि जो ये सब दूरस्थित नक्षत्र जितने वेग से गमन करके पृथिवी की प्रदक्षिणा एक दिन में कर सकेंगे। उस से सम्पूर्ण ग्रहाण्ड पूर्ण होकर परमाणु रूप होजाये। अति दूरस्थित नक्षत्रादि की घात अलग रहे, निकटस्थ सम्पूर्ण नक्षत्र सूर्यादि प्रतिदिन पृथिवी की प्रदक्षिण करें, इस में जितने वेग की आवश्यकता है उस को मन में विचारना कठिन है। एवं सृष्टि की प्रणाली के विरुद्ध है। ज्योतिर्विद्या द्वारा निश्चित हुआ है कि पृथिवी सूर्य से प्रायः ९५०००००० मैल दूर स्थित है। एवं अति निकटस्थ नक्षत्र प्रायः ३००००००००००० मैल दूरस्थित हैं। अत एव यदि सूर्य २४ घण्टे में पृथिवी को एक बार परिभ्रमण करे तो एक मिनट में उस को चार लाख मैल भ्रमण करना पड़ेगा। एवं अति निकटस्थ नक्षत्र की एक मिनट में १६००००००००० मैल पथ पर्यटन न करने से किसी प्रकार सम्भव नहीं जो पृथिवी को एक बार परिभ्रमण कर सके। इसी प्रकार जो नक्षत्र जितनी दूर पर है वह यदि उतने वेग से न चले तो वह नक्षत्र किसी प्रकार पृथिवी को एक दिन में परिभ्रमण नहीं कर सकता। परन्तु वस्तुतः यदि नक्षत्रादि उस प्रकार महावेग से प्रतिदिन पृथिवी की प्रदक्षिण करता तो सम्पूर्ण ग्रहाण्ड उसी तेज से पूर्ण होजाता। किन्तु इस प्रकार अमूलक कल्पना जो सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की श्रद्धालु सृष्टि प्रणाली के साथ कितना असङ्गत एवं कहां तक असम्भव है सो कहना अनुक्ति होगी। जो ठपक्कि इस सुनिश्चय सृष्टिप्रणाली के प्रति एक बार किंचित

दृष्टिपात करके देखें तो वे पुनः कभी उक्त प्रकार अमूलक कल्पना नहीं कर सकते। जिस असीम ज्ञानवान् अनन्त शक्तिमय पुरुष ने अनिर्वचनीय सुन्दर-खल सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को रचना की है वह क्या इस क्षुद्र पृथिवी की किया सम्पादन के लिये उलटा नियम करेगा? यह किसी प्रकार विश्वास योग्य नहीं। जब केवल एक पृथिवी की आन्वहिक गतिद्वारा अनायास दिन रात मास ऋतु आदि सब घटना संचालित हो सकती हैं तो उस के लिये नभोमण्डलस्थ असंख्य भयानक प्रकारके नक्षत्रादि की ज्ञयङ्कर गति कल्पना करे वह आश्चर्य है। जो कार्य अनायास सिद्ध हो सकता है कोई उस की सिद्धि के लिये आह-म्वर नहीं रखता। एत एव जो सामान्य बुद्धि वाले पुरुष के लिये नितास्त अकतंभ्य व असङ्गत कह कर बोध हं'ता है उस को किस प्रकार सर्वशक्तिमान्, ज्ञानाकर, आदि पुरुष, विश्वकर्मा, जगन्निर्मापक, में अभ्यन्त्र दीप आरीपण करके अपराधी होने का साहस करेगा ॥

• (२) सूर्य यदि पृथिवी को प्रतिदिन परिभ्रमण करता तो यह प्रति नियत भूमण्डल के मध्यभाग अर्थात् निरक्ष प्रदेश को वेष्टनपूर्वक भ्रमण करता। पदार्थ विद्या द्वारा विशारद परिहस्यगण ने परीक्षापूर्वक निश्चय किया है कि जब तक एक जड़ पदार्थ अन्य जड़ पदार्थ को परिभ्रमण करता है उस समय दोनों पदार्थ समतलस्थिति अर्थात् परस्पर भ्रम प्रकार संस्थित रहते हैं जो मूत्र पास करने से दोनों एक ही रेखा में पतित होते हैं, एवं वेष्टनकारी आ-म्यमान पदार्थ मध्यस्थित स्थिर पदार्थ को नियत एक निर्दिष्ट स्थान में होकर परिभ्रमण करता है। अत एव सूर्य यदि पृथिवी को प्रतिदिन परिभ्रमण करता तो उन की कक्षा अवश्य ही भूमण्डल के ठीक मध्यस्थान के ऊपर होकर जानी एवं उसको प्रतिदिन पृथिवी के ठीक पूर्व ओर उदित होता और पश्चिम में अस्त होता देखा जाता। परन्तु वस्तुतः प्रतिदिन ऐसी घटना नहीं होती। एक वत्सर में केवल दोही दिन सूर्य को भूमण्डल के ठीक मध्यभाग से उदित होकर ठीक मध्यभाग में अस्तमित होते देखते हैं। तद्भिन्न उस को छः महीना पृथिवी के दक्षिण पश्चिमांश में अस्तमित होते देखते, एवं अपर अर्धांश में पृथिवी के पूर्व उत्तर में उदित एवं पश्चिम उत्तर में अस्तमित होते देखते हैं॥

सूर्य की प्रात्यहिक गति मानने से कभी उस का उदयास्त उक्त प्रकार से सिद्ध नहीं किया जा सकता। एवं तद्भिन्न विस्तार भ्रुव नक्षत्र का भी सूर्य की तरह उत्तरायण व दक्षिणायन देखा जाता है। अत एव यह सम्पूर्ण भ्रुव नक्षत्रगण के उत्तर दक्षिणायनद्वारा भी पृथिवी की प्रात्यहिक गति सिद्ध होती है ॥

(३) ग्रह वस्तु क्षुद्र वस्तु को कभी परिभ्रमण नहीं करता। जड़ पदार्थ की गति का ऐसा नियम है। बड़ा पदार्थ छोटे पदार्थ को क्यों नहीं परिभ्रमण करमकता, पदार्थ विद्यावित् पण्डितों ने चक्रावर्त गति प्रसङ्ग में विधि पूर्वक भिद्व किया है कि पृथिवी की अपेक्षा सूर्यमण्डल तेरह लाख गुण से भी अधिक बड़ा है। अत एव सूर्य को पृथिवी का परिभ्रमण करना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता, प्र-पुत पृथिवी की ही गति अनापाम सिद्ध होजाती है। एवं पृथिवी की गति स्वीकार न करने से दिन रात्रि आदि घटना सूर्य की पृथिवी की परिभ्रमण से भिद्व नहीं होती। पृथिवी घृताभाम पथ में व्यं में एक घंटे पर भ्रमण करती है। इसी लिये जलुपरिवर्तन होता है। पृथिवी की कक्षा यदि नगण्यकार होती तो व्यं में भिन्न २ प्रकार जलु की घटना न होती। सूर्य के चारों तरफ परिभ्रमणकाल में पृथिवी सूर्यसम्बन्ध में भिन्न २ स्थान अवस्थित होने से भी भिन्न २ प्रकार जलु की घटना होती ॥

(४) पण्डित लोगो ने साधारण गति के नियमों को समझ कर पृथिवी की आन्विक गति का एक प्रत्यक्ष प्रमाण दिखलाया है कि जब कोई पदार्थ घूमता है तो उस का वेग अपने केन्द्र प्रदेश (बीच) की अपेक्षा दूरतर प्रदेश में अधिक होता है। इसी कारण जब किसी व्यं पर से कोई वस्तु नीचे की गिराई जाये तो यह कुछ दूर पूर्वांश में गिरेगी। इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि यदि पृथिवी परिभ्रमण से पूर्वको भ्रमण न करती हो तो उच्चस्थान से द्रव्यादि जैकने से वह ठीक नीचे न पड़कर क्यों कुछ पूर्व और गिरता है ॥

(५) युध ग्रह सूर्य से कभी ५ अंश से अधिक दूर नहीं जाता। एवं शुक्र ग्रह कभी ४८ अंश से अधिक दूर नहीं जाता। किन्तु यद्यपि ये पृथिवी की मध्य में रहकर परिभ्रमण करते ती भी कभी २ सूर्य से १८०० पर्यन्त दूर में जाते किन्तु ऐसी घटना क्या पहिले परा अब कभी किसी से नहीं देखी ॥

(६) सङ्गण कभी पूर्व और कभी पश्चिम ओर जाते, चलेते हैं और उन के गगनीय मार्ग में किसी किसी अंश में वे त्रिम प्रकार स्थिर हो जाते हैं, ऐसा बोध होता है किन्तु उन की गति की इस प्रकार विचित्रता क्या यथापं ही होती है सो नहीं। पृथिवी युध शुक्र के गमन भाग के यहिभाग में रह कर सूर्य को परिभ्रमण करते हैं। इस लिये ऐसा बोध होता है। पृथिवी की गति हमारे द्रन्त्रियोचर नहीं होती। ऐसा समझ कर इस को अवल

समझ लेना किसी प्रकार गुह्यगुह्य नहीं । यदि कोई सुदृढ़ जीव किसी बड़े वस्तु पर सवार होता बड़े पदार्थ के घूमने या चलने से चढ़ा हुआ सुदृढ़ जीव अपने आप किसी प्रकार उस की गति अनुभव नहीं कर सकता । जब कोई जहाज पर चढ़ा हुआ पुरुष जहाज में घेरा है और जब जहाज समुद्र गमन करता है तो उस समय नौकास्थ पुरुष उस की गति को नहीं जान सकता । समुद्रतीरस्थ अपर किसी स्थिर पदार्थ को लक्ष्य न करके आरोही कभी अपने जहाज की गति नहीं जान सकता है । इस लिये हम लोग पृथिवी की दैनिक गति अनुभव नहीं कर सकते, इस से उस को स्थिर मानना किसी प्रकार मिथ्या नहीं हो सकता ॥

पृथिवी की आन्विक गति के कारण जो नृपं चन्द्रमा ग्रह नक्षत्रादि प्रति दिन पूर्व दिशा में उदित होकर पश्चिम में अस्तमित देखे जाते हैं इस के अनेक प्रमाण हैं ॥

जब कोई तरणी या शकटादि यान नुन वेग से गमन करते हैं तो सन्-मध्यस्थित आरोही तीरस्थ वा पार्श्वस्थ किसी वृक्षादि स्थिर पदार्थ के प्रति दृष्टिपात करने से वह अवश्य ही उन स्थिर वृक्षादि के अपनी विपरीत दिशा में जाते देखते हैं, इस में सन्देह नहीं । और संचल पदार्थ गति द्वारा जो अचल पदार्थ की गति का भ्रम होता है, इस में सन्देह नहीं ॥

कोई २ कहते हैं कि यदि पृथिवी प्रतिदिन घूमती जाती तो भूमण्डलस्थ जितने पदार्थ जीवजन्तु आदि हैं सब उस की गति से उलट पड़ते । यह शङ्का व्यर्थ है । श्वेत वस्तु सदैव छोटे वस्तु को आकर्षित करता है । पृथिवीस्थ जितने पदार्थ हैं उन की अपेक्षा पृथिवी बड़ी है एवं सब वस्तु पृथिवी में आकृष्ट होकर रहते हैं । पृथिवी घूमते समय चाहे जिस अवस्था में रहे उस के ऊपर अवस्थित जीव जन्तु व अन्योन्य पदार्थ नियत उस में आकृष्ट होकर रहेगा । पृथिवी घूमती २ चाहे जिस दिशा में जाये हम लोग सदा अपने पैरों के नीचे पृथिवी व मस्तकोपरि आकाश को देखते रहेंगे । सुतरां पृथिवी की आन्विक गति द्वारा किसी प्रकार हमारा अवस्थान्तर अनुभूत या घटने की सम्भावना नहीं ॥

कोई २ यह कहते हैं कि "पृथिवी की गति हाने से एक बड़ा भयानक शब्द होता" यह शङ्का एक मात्र अमूलक है ॥

हम लोग जो किसी वस्तु की गति का शब्द सुनते हैं उस का कारण यह है कि उस वस्तु का वायु के साथ घर्षण व असिधात होने से यह शब्द उत्पन्न होता है । यह शब्द उसी वायु के सहकार में हमारे कानों में सुन

पड़ता है। पृथिवी शून्य के ऊपर अवस्थित है, वहाँ वायु या अन्य कोई पदार्थ नहीं। सुतरां उस का किसी के साथ घर्षण वा अभिघात की सम्भावना नहीं एवं घर्षण वा अभिघात होने से भी वायु का प्रभाव होने से तत्तज्जनित शब्द हमारे कर्णों पर नहीं होता। शून्य में बाधकता शक्ति नहीं। यदि यह शक्ति रहती तो शून्य में पृथिवी न ठहर सकती। जब पृथिवी के अवस्थान में शून्य प्रति बाधकता नहीं उत्पन्न होती है। वह उस गति का प्रतिवादी नहीं हो सकता। एव गाड़ी, घोड़ा, नौका प्रभृति सवारी द्वारा गमन काल में जो प्रबल वायु का शब्द सुन पड़ता है। ऐसा समझ कर यह कहना कि पृथिवी की गति से भी शब्द होना चाहिये, यह असम्भव है। कारण यह है कि वायु की प्रचण्ड गति समय पर्वत, अट्टालिका, वृक्षादि जितने वस्तु हैं, अपनी २ अवस्थानुसार वायु की गति का अवरोधक (रोकने वाले) होते हैं-तो उन से अवश्य ही परस्पर द्रव्यों के संस्पर्शजनित शब्द उत्पन्न होते हैं। उस का प्रमाण यह है जो जम स्थान में अधिक वृक्षादि रहते हैं, वहाँ वृक्ष के साथ वायु के अभिघात से अधिक शब्द होता है। जहाँ वृक्षादि थोड़े होते हैं, वहाँ शब्द भी कम होते हैं ॥

पुनः लोग कहते हैं कि "यदि पृथिवी में गति होती तो पृथिवी के गति मार्ग के विपरीत ओर वायु की गति का अतिशय पराक्रम होता" यह शङ्का भी अप्राप्त है। यदि भूवायु स्थिर रहता और पृथिवी उस के बीच होकर या उक्त भूवायु की स्वतन्त्र गति एवं पृथिवी की स्वतन्त्र गति होती किंवा भूवायु पृथिवी के आकर्षण के आधीन न होता तो पृथिवी की गति मार्ग के विपरीत वायु का वेगवान् प्रवाह होना सम्भव होता। पृथिवी की मध्याकर्षण शक्ति में अन्यान्य वस्तु उस में जिस प्रकार आकृष्ट होती हैं उसी प्रकार वायु भी आकृष्ट होता है। पृथिवी के आकर्षणाधीन होने से पृथिवी की गति जिस प्रकार हो जाती है वायु की भी गति उसी प्रकार भित्त होने पर भी स्थिति की गति के विपरीत दिशा में वायु गति नहीं होती ॥

जब कोई पैदल या गाड़ी आदि पर चढ़ कर जाता है, उस समय जो गाड़ी आदि की गति प्रतिकूल वा अनुकूल में वायु की गति है अनुभव होती है उस का कारण यह है कि गाड़ी आदि की एवं वायु की भिन्न गति परस्पर में एक दूसरे के आधीन नहीं ॥

कोण २ यह कहता है कि "यदि पृथिवी प्रति सेकेण्ड एवं प्रति मिनट बहुत मेल पथ पर्यटन करती तो पृथिवीस्थ वड़े २ मन्दिर तथा मकानादि वा स्तम्भादि एवं किसी उच्च स्थान से कोई पदार्थ फेंकने से वह उम के जड़ में नहीं गिरता । पृथिवी की गति वशात् अवश्य ही वह उच्च स्थान से बहुत दूर अलग गिरता । एवं पक्षी प्रभृति उड़ने वाले सेवर जीव रात्र निम प्रवेश होकर उड़ते हैं, पृथिवी द्रुत वेग के अनुरोध से वे वहां से बहुत दूर पीछे पड़ जाते, जिन कारण वह फेंका हुआ पदार्थ उड़ड़ीपमान सेवर जीवगण पृथिवी के साथ समान वेगमें किसी प्रकार नहीं चल सकते । किन्तु यस्तुतः कभी ऐसी घटना दृष्टिगोचर नहीं होती। स्तम्भादि उच्च स्थान से कोई पदार्थ गिरने या किसी पदार्थ के फेंकने से वह उम की जड़ में गिरता है । एवं पक्षी प्रभृति सेवर प्राणी स्वयं आकाश मार्ग में उड़कर अनायास पृथिवीके साथ २ चले जाते हैं।"

यह अमूल्य जापत्ति किसी काम की नहीं । अथ दो पदार्थ एकत्र रहते हैं, तब एक की गति से दूसरे की गति सिद्ध होती है । घोड़े के गमन से अश्वारूढ़ का गमन सिद्ध होता है । जहाज के गमन से जहाज पर पड़े व्यक्ति का गमन सिद्ध होता है । एवं शूट की गति से गाड़ी पर सवार का गमन सिद्ध होता है । थोड़ा रथ नीका आदि से यदि कोई पदार्थ झूतल में या जल में गिर पड़े तो जय तक वह झूतल या जल में नहीं गिरता तब तक अश्व रथादि के साथ २ समान गति से चला जाता है, इसी कारण स्थिर रथ व जल नीका से कोई पदार्थ फेंकने से जैसे यह इस रथ व नीका के ठीक नीचे गिरता है । इसी प्रकार सचल नीका व गमनशील रथ से कोई वस्तु गिरने या फेंकने से भी यह ठीक उस के नीचे पड़ता है । इस लिये पृथिवी प्रतिहोरा पश्चिम से जितनी दूर पूर्व की ओर जाती है, पृथिवीस्थ सम्पूर्ण पदार्थ के प्रति होरा उतना ही दूर गमन सिद्ध होता है, स्तम्भ से गिरी हुई बंद उस के मूल में गिरती है, एवं आकाशस्थ सेवर जीव जन्तु सीछे नहीं उड़ते ॥

पृथिव्यादि लोकों का भ्रमण

पृथिवी के भ्रमण में सुक्तियां लिखी जा चुकी हैं, अथ प्रमाण लिखे जाते हैं—
वि सामना मिपिरामिन्द्रभूमिं महीमपारां सदने ससत्प ।
अस्तम्नादुदां वृषभीअन्तरिक्षमर्पन्त्वा परुचयेऽप्रसूताः ॥

(आग्नेदे ३ । ३१ । ८)

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरोवसन्तः । ऋ-
तवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥

(अथर्ववेद १२ । १८ । ३६)

आशय-हे भूमे ! तुम्हारी वार्षिक गति के कारण ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतु होते हैं ॥ और भी:-

आयं गौः पृश्निरक्रीदसदन्मातरं पुरः ।

पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ यजुर्वेदे अ० ३ । मं० ६ ॥

आशय-यह पृथिवी जल को प्राप्त होकर अर्थात् जल के सहित अन्तरिक्ष में आक्रमण करती है, अर्थात् अपनी घुरी पर घूमती है और सूर्य के भी चारों ओर घूमती है ॥ पुनः:-

या गौर्वत्तनिं पर्येति निष्कृतं पयोदुहाना व्रतनीर-
वारतः । सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुपे देवेभ्यो दाशदु-
विषा विवस्वते ॥ ऋग्वेदे अ० ८ । २ । व० १० मं० १ ॥

आशय-जो पृथिवी सदा अनन्त रस फल फूलादि पदार्थों से प्राणिमों को करती तथा अपने नियम का पालन करती, परमेश्वर की सहिता का उपदेश करती, दानी और अच्छे लोगों की और विद्वानों की नामा प्रकार के छुट दती, अपनी कक्षा में सूर्य की चारों ओर घूमती है ॥

पृथिवी के अन्यान्य नामों में "गौ" भी नाम है । जिस की निरुक्ति निरुक्त में की गई है-

गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद्दूरं गता भवतीति ॥

(निरुक्ते २ । २१)

आशय-"गौ" पृथिवी का नाम है, जो दूर तक चलाई जाती है (सूर्य के आकर्षण से) । इसी प्रकार मार्कण्डेय पुराण में लिखा है कि-

भ्रमतां सर्वजगतां नाभिभूतेन भास्वता । समुद्रादिवनो-
पेता सा रुरोह मही नमः ॥ गगनं चाखिलं ब्रह्मन् स-
चन्द्रग्रहतारकम् । अधोगतं महाभाग बभूवाक्षिप्तमा-
कुलम् ॥ मा० पु० अध्याय १०३ श्लोक ४२

अर्थ-सूर्य इस समस्त विचरणशील ज्योतिष्क गणों के नाभि (केन्द्र) स्थान में है और वह जय अपने केन्द्र पर भ्रमण करता है, तब अन्यान्य ज्यो-
तिष्कगण इस की आकर्षण शक्ति से आकृष्ट हो, अपने २ हिस्सों पर घूमते हैं।
अतएव समुद्र पर्यंत और वनादि समेत यह समस्त पृथिवी घूम के आकाश में
चढ़ जाती है और चन्द्र ग्रह तारागण विशिष्ट गगनमण्डल आसित और
आकुल होके नीचे के भाग में चला आता है ॥ इसी प्रकार आर्यभट्ट ने ती
अन्यान्य ग्रहों के भ्रमण वर्णन में पृथिवी का भी भ्रमण लिखा है -

युगरविभगणा.रयुघृशशिचयगियिदुशुल्लृ कुडिशि
चुरालूरवृष्टप्रांक ॥ (आर्यसिद्धान्ते देशगीतिकायाम्)

अर्थ-एक महायुग में पृथिवी के १५८-२० भ्रमण पूर्व से पश्चिम चलने में
होते हैं ॥ यदि पृथिवी न भ्रमण करती होती तो आर्यभट्ट इस के भ्रमण क्यों
लिखते । इस प्राचीन ज्योतिषशास्त्र के विरुद्ध अन्यान्य आधुनिक ज्योतिष के
ग्रन्थों में सप्त पृथिवी के भ्रमण को "सू भ्रमण" के स्थान में "भ भ्रमण" (न
सप्तभ्रमण) लिखे हैं अर्थात् पृथिवी को अबला एव राशिचक्र वा भवक्र को
संचल सिद्ध करने के लिये ॥

इसी प्रकार आगे चलकर आर्यभट्ट फिर लिखते हैं कि-

प्राणेनैति कलां भूः । आर्यसि० देशगी० आर्या ४ ॥

अर्थ-पृथिवी की गति कलान्तिका (Minute) होती है अर्थात् कला २ करके
चलती है । इस पाठ को आधुनिक ज्योतिष के ग्रन्थकारों ने बदल कर अपना
पक्ष सिद्ध करने के लिये ऐसा पाठ कर दिया है-"प्राणेनैति कला भू" अर्थात्
राशिचक्र (भू=राशिचक्र) कला २ करके चलता है ॥

यह पाठ ब्रह्मगुप्त के समय तक ठीक था, क्योंकि ब्रह्मगुप्त ने अपने ब्रह्म
सिद्धान्त में पृथिवी के भ्रमण का खण्डन किया है, उस में लिखा है कि-

प्राणेनैति कलां भूर्यदि कुतो व्रजेत् कमध्यानम् ।

आवर्त्तनमुर्व्याश्चेन्न पतन्ति समुच्छ्रयाः कस्मात् ॥

(ब्रह्मसिद्धान्त अध्याय ११)

अर्थात्-यदि पृथिवी कला २ करके चलती है तो किस रास्ते से कहा
जाती है ? यदि पृथिवी चलती है तो कोठे आदि ऊँच स्थान क्यों नहीं गिर
जाते ? ॥ पुन आर्यभट्ट लिखते हैं कि -

अनुलोमगतिर्नास्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत् ।

अचलानि भानि तद्वत् सपश्चिमगानि लङ्कायाम् ॥

(आर्यसिंह गोलपाद)

अर्थ—जिस प्रकार नौका में बैठा हुआ मनुष्य किनारे की स्थिर चीजों को दूसरी ओर को चलते हुये देखता है । ऐसे ही मनुष्यों को सूर्यादि नक्षत्र जो स्थिर हैं, पश्चिम की ओर चलते हुए दीखते हैं और पृथिवी स्थिर भा लूम होती है, परन्तु वास्तव में भूमि ही चलती है। पुन आर्यभट्ट लिखते हैं—

भपञ्जरः स्थिरोभूरेवावृत्यावृत्य प्रतिदिवसिकौ उदयास्तमयौ सम्पादयति ग्रहनक्षत्राणाम् । (आर्यसिद्धान्त गोलपाद)

अर्थ—सूर्यादि सब नक्षत्र स्थिर हैं, पृथिवी ही धार २ अपनी धुरी पर घूम कर प्रति दिवस इन के उदय और अस्त का सम्पादन करती है और अमरकोष में (अङ्गारक कुजों भीनों लोहिताङ्गो महीमुख) मङ्गल ग्रहके नामों में “महीपुत्र” या “महीज” नाम लिखा है, इस का कारण यही जान पड़ता है कि पृथिवी की कक्षा (भ्रमण मार्ग) के बाद मङ्गल की कक्षा है । इसलिये मही से उत्पन्न मङ्गल को लिखा है, यदि पृथिवी न चलती होती तो उस के भ्रमणमार्ग की व्यवस्था ऐसी की लिखी जाती ।

पृथिवी भ्रमण में अर्वाचीन ग्रन्थकारों की सम्मति
वराभिहित ने लिखा है —

भ्रमति भ्रमस्थिते क्षितिर्दिवसरे वदन्ति नोदुगणाः ।

यद्देवं श्याना न खात्पुनः स्वनिलयमुपेयुः ॥ ६ ॥

अन्यत्र—

भवेद्भूमैरहाम्रमरंहसाध्वजादीनाम् । नित्यं पश्चात्
प्रेरणं यथात्पगा स्यात् कथं भ्रमति ॥७॥ पञ्चसि० अ० १३॥

अर्थ—जिस प्रकार लोहार के भ्रमयन्त्र स्थित लोहे का गोला घूमता है । उसी प्रकार भ्रमयन्त्र में ठहरी हुई सी पृथिवी घूमती है, नक्षत्रगण नहीं । इस प्रकार बहुत से आचार्यों का मत है, (खण्डन) परन्तु यदि पृथिवी भ्रमण करती है तो आकाशगामी पक्षिगण अपने २ घोंसले को नहीं पाते अर्थात्

पृथिवी को घूमती मानते तो पक्षियों के घूमले (पृथिवी के भ्रमण से) अपनी पहिली जगह को छोड़ कर दूसरी जगह में हो जायें, इस लिये पक्षिगण अपने घूमले को नहीं पा सकते और यदि एक ही दिन में पृथिवी का भ्रमण हो तो भ्रमण वेग से कोठे मन्दिरादि की पताकादिका नित्य पश्चिमाभिमुख गमन हो । यदि कहें कि पृथिवी की मन्द गति के कारण ऐसा होता है तो एक ही दिनमें मन्द गति से पूरा भ्रमण क्यों कर होता है ॥

इस के टीकाकार श्री महामहोपाध्याय परिहृत सुभाकर द्विवेदी प्रोफेसर (ज्योतिष के) संस्कृत कालिज बनारस लिखते हैं कि -

एतेन वराहमिहिरेण भूवायुसहितायाः

पृथिव्याः प्राग्भ्रमणं न युद्धमिति ज्ञायते ॥

पुन -

ध्वजादीनां पश्चिमाभिमुख सञ्चलनमिदमपि खण्डनं भूवायुसहितायाभूमेः प्राग्भ्रमणेन व्यर्थमेवास्तीति ज्ञेयमिति ॥

अर्थात्-इस से मालूम होता है कि वराहमिहिर की पृथिवी का भूवायु के सहित भ्रमण करना समझ में नहीं आया ॥

और यह जो पताका का पश्चिमाभिमुख संचलन रूप खण्डन किया है यह भी पृथिवी भूवायुसहित घूमने के खण्डन में व्यर्थ ही है ऐसा जानना इत्यादि ॥

इस से पाठकगण भली भाँति समझ जायेंगे कि उक्त महामहोपाध्याय जी भी पृथिवी का भ्रमण युक्ति और प्रमाण युक्त समझते हैं एवं इस के पक्ष-पाती हैं और यह प्राचीन सिद्धान्त है ॥

जयति स जगदीशो यस्य नानाविधानामचरचरच-
यानां निर्मितौ क्वापि नाभूत् । कथमपि लघु साध्यं क-
हिंचिट् गौरवेण विरचितमिह नूनं चेतनं वा जडं वा ॥



अथ प्राचीन ज्योतिःशास्त्राचार्याशयवर्णनम्

इह खलु ग्रहभ्रमणविषये द्वे मते तावत् सुप्रसिद्धे । एकं
भूः स्थिरा ताममितश्च सूर्यादयोग्रहा भ्रमन्तीति । अन्यञ्च-

रविरचलस्तं परितः सभूमयः सर्वग्रहाः पर्ययं कुर्वन्ति ॥

तत्राद्यमतवादिनः प्रत्येकं ग्रहः पूर्वदिशं चरन् यावता कालेन भुवमभित एकं भगणं पूरयेत् तस्मात् कालादनुपा-
तेन ग्रहस्यैकदिनसम्यन्धिनीं समानां गतिं निश्चित्य तां म-
ध्यमामभिधानास्तस्याः सकाशादभीष्टकाले खेटस्य भच-
क्रेऽवगतं स्थानं मध्यमग्रहशब्देन व्यवहरन्ति । एतन्मते रवि-
ज्ञशुक्राणां वसुमत्याः समन्तादेकेनैव हायनेनैकं भ्रमणं भव-
तीति तेषां मध्यमा गतिस्तुल्यैव जायते । तथैव मध्यमं स्थानमपि

अन्त्यमतवादिनस्तु प्रत्येक खेटस्य सूर्यमभितः परि-
भ्रमणकालमवगम्य तत्र मते बुधशुक्रयोर्मध्यमे गती स्थाने
चाद्यमतीयाभ्यां गतिभ्यां स्थानाभ्यामन्योन्यं च भिद्येते ।
सूर्यमभितो भगणपूर्तिकालस्य भेदात् । सूर्यभूम्योरन्तरे
कदाचिदप्यसंचरतां कुजजीवरविजानां तु मध्यमगतयः
स्थानानि चाद्यमतीयाभ्योगतिभ्यः स्थानेभ्यश्च न भिद्यन्ते
यतस्ते प्रत्येकं तरणिं धरणिं च तुल्येनैव कालेन परिभ्रमन्ति ॥

तत्र भारतवर्षीयाः सकलमूलग्रन्थकाराः सर्वग्रहास्तरणिं
परितोभ्रमन्तीत्यभिप्रेत्य ग्रहपातभगणान् निरणाचिपतेत्येत-
दुपपादनार्थमुच्यते ॥

द्वयोरपि मतयोर्वादिभिर्विक्षेपकेन्द्रार्थं मन्दरूपे ग्रहे
पातस्य योजनमङ्गीक्रियते । ग्रहाणां विक्षेपकेन्द्रमप्युभयत्र
समानम् । तत्र ये मध्यमा ग्रहा उभयमतेऽपि समाना अत-
एवस्वस्वमन्दफलसंस्कृता अपि—

माधायं—

प्राचीन ज्योतिष शास्त्र के आचार्यों का आज्ञाय वर्णन

इस भारतवर्ष में ग्रहों के भ्रमण विषय में दो मत हैं। एक पृथिवी अचला और इस की चारों ओर सूर्य एवं अन्यान्य ग्रह भ्रमण करते हैं। दूसरा सूर्य अचल और उस की चारों ओर सब ग्रह भ्रमण करते हैं ॥

इन में प्रथम वादिगण प्रत्येक ग्रह पूर्व दिशा की चलते हुवे जितने काल में भूमि की चारों ओर एक भ्रमण पूरा करते हैं, उस काल से अनुपातद्वारा ग्रह के एक दिन सम्बन्धि समानगति का निश्चय कर, उस की "मध्यमगति" सञ्ज्ञा रख लें एवं उस से इष्ट काल में ग्रह का राशिचक्र में स्थान निश्चय करते हैं। जिस की "मध्यग्रह" करते हैं। इस मत के अनुसार सूर्य बुध, शुक्र, पृथिवी का एक ही वर्ष में पूरा भ्रमण होता है। उन की मध्यमगति तुल्य ही द्योत होती है। इसी प्रकार मध्यम स्थान भी ॥

और अन्त्य मतवादिगण तौ प्रत्येक ग्रह का सूर्य की चारों ओर काल की जान कर इस मत में बुध, शुक्र के मध्यमगति और स्थान प्रथम वादिगण के गति और स्थान में एक दूसरे से भेद पड़ता है। सूर्य की चारों ओर भ्रमण पूर्णकाल के भेद के कारण से सूर्य और भूमि के अन्तर क्षणी भी बिना चले नङ्गल, ग्रहस्पति और शनि के मध्यमगति और स्थान प्रथम वादिगण के गति और स्थान से नहीं भेद पड़ता। जिस कारण प्रत्येक ग्रह सूर्य और पृथिवी इन दोनों की चारों ओर परिभ्रमण समान ही काल में करते हैं ॥

उन में से भारतवर्षीय सब मूल ग्रन्थकारों का यह मत है कि सब ग्रह सूर्य की चारों ओर परिभ्रमण करते हैं। इसी अभिप्राय से ग्रह पात भ्रमणों का निर्णय करने के विचार से इस की उपपत्ति कही जाती है। दोनों मत वादिगण विलेप केन्द्र के लिये मन्द स्पष्ट ग्रह में पात का योग करना स्वीकार करते हैं। ग्रहों के विलेप केन्द्र भी दोनों मतों में समान हैं। उन में जो मध्यम ग्रह हैं, वे दोनों मत में तुल्य हैं। अतएव अपने २ मन्द पात संस्कृत ग्रह भी-

साम्यं न जहति तेषां पाता मतद्वये तुल्या एव स्युः ।

विक्षेपकेन्द्रस्योभयत्र तुल्यत्वात् । यथा कुजगुरुशनी-

नाम् । अतएव तेषां पठिताः पातभ्रमणा अप्युभयत्र

समानाः । मध्यमौ बुधशुक्रौ त्वादमते मध्यमसूर्य-

तुल्यौ । अन्त्यमते च मूलग्रन्थोक्तशीघ्रोच्चसमानौ यत

एतन्मते बुधस्य किञ्चिदूनाष्टाशीति सावनदिनैरेकं भ-
गणं पूरयतः प्रत्यहं स्वकक्षायां द्वात्रिंशद्विकलाधिकप-
ञ्चत्वारिंशदुत्तरशतद्वयमितकलारूपा गतिः शुक्रस्य
चेपन्न्यूनैः पादोनतत्त्वदसैः कुदिनैरेकं पर्ययं कुर्व-
तोऽनुदिनं निजमार्गं विकलाष्टकाधिकपण्णवतिकला-
त्मिका मूलग्रन्थेषु तत्तच्छीघ्रोच्चगतित्वेनोपन्यस्तेति
तयोः पातौ नोभयमते तुल्यौ । विक्षेपकेन्द्रस्य तुल्यत्वे-
ऽपि मध्यमस्य भेदात् । अतएव तयोः पातभगणाभ्यां
मध्येनोभयत्र तुल्याभ्यां भाव्यम् । तावेतौ पातावस्म-
न्मूलग्रन्थकारैर्मन्दस्पष्टयोर्बुधशुक्रयोर्न प्रक्षिप्येते । अ-
पि तु मन्दफलसंस्कृते तत्तच्छीघ्रोच्च इत्यतः स्फुटमे-
तदवगम्यते यत् पठितेभ्यः सूर्यकेन्द्रकभ्रमणभगणावि-
रुद्धेभ्यो भगणेभ्य उत्पन्नेषु मध्यमेषु कुजजीवरविजेषु
प्रक्षेपयोग्यं तद्विरुद्धेभ्य उत्पन्नयोश्च बुधभार्गवयोः प्रक्षे-
पायोग्यं तत्तच्छीघ्रोच्चै च प्रक्षेपयोग्यं पातं साधयन्तः
पठिता ग्रहपातभगणा मूलोक्तबुधशुक्रशीघ्रोच्चरूपम-
ध्यमबुधशुक्रसम्पादकतरणिकेन्द्रकभ्रमणवादिमतीया
इति । कथमन्यथा मध्यमबुधशुक्रप्रक्षेपयोग्यापात-
सम्पादकाः शीघ्रकेन्द्रभगणाधिकाः पातभगणा न प-
ठेरन् । अतएव भौमादीनां पञ्चानामपि ग्रहाणां सूर्य-
केन्द्रकं भ्रमणं मूलकाराणामभिमतमित्यवसीयते । अ-
न्यथा तन्मतीयापातभगणपठनानौचित्यात् ॥

ननु ज्ञशुक्रयोः सूर्यकेन्द्रकं भ्रमणमस्तु मूलकाराणा-

मभिमतम् । आदमताविरुद्धानां तयोः पातभगणानां पठनात् । कुजजीवरविजानां तु भूमिकेन्द्रकमेव स्यान्न सूर्यकेन्द्रकम् । तत्पातभगणानामादमताविरुद्धत्वादि-
ति चेत् । रविकेन्द्रकभ्रमणास्वीकारे सूर्यस्य भीमादि-
शीघ्रोच्चत्वानुपपत्त्या रविकेन्द्रकभ्रमणस्यैव मूलका-
राभिप्रेतत्वात् ॥

भाषार्थः—तुल्यता नहीं छोड़ते उन के पात दोनों सतों में तुल्य ही हैं । विक्षेप केन्द्र दोनों सतों में तुल्य होने के कारण । जिस प्रकार मङ्गल, गुरु, एवं शनि का । अतएव उन के कहे हुये पात भगण भी दोनों सतों में तुल्य हैं । मध्यम बुध और शुक्र तो आद्य सत में मध्यम सूर्य के तुल्य हैं और अन्त्यसत में तो मूल ग्रन्थोक्त शीघ्रोच्च के समान हैं । जिस कारण इस सत में बुध का कुल न्यून ८० साधन दिन में एक भगण पूरा होता है । प्रतिदिन अपनी कक्षा में २४५ कला ५२ विकला चलता है और गुरु तो कुल न्यून २४२ साधन दिन में एक बार घूम आता है और प्रतिदिन अपने मार्ग में ८६ कला ८९ विकला चलता है (अपनी धुरी पर) मूल ग्रन्थों में उस की शीघ्र गति कहकर लिखा है उन के पात दोनों सतों में तुल्य नहीं है । विक्षेप केन्द्र के तुल्यत्व में भी मध्यम के भेद के कारण । अतएव दोनों के पात एवं भगणद्वारा भी दोनों सतों से दोनों तुल्य नहीं होना चाहिये । ये दोनों पात हमारे मूल ग्रन्थकारों द्वारा मन्द और स्पष्ट के बुध और शुक्र के प्रक्षेप नहीं किये जाते हैं, अर्थात् इन का विक्षेप नहीं होता ॥

प्रत्युत मन्दफल सस्कृत में उस २ शीघ्रोच्च में साक २ जान पड़ता है जो कहे हुये सूर्यकेन्द्रक भ्रमण भगण अविरुद्ध भगण से उत्पन्न मध्यम मङ्गल ग्रह-स्पति, सूर्य में प्रक्षेप योग करना और उस के विरुद्ध उत्पन्न बुध और शुक्र के प्रक्षेप को नहीं जोड़ना और उस के शीघ्रोच्च में प्रक्षेप योग करना पात को स्थिर करता हुआ कहे हुये ग्रहपात भगण मूलोक्त बुध, शुक्र शीघ्रोच्च रूप मध्यम बुध, शुक्र सम्पादक सूर्यकेन्द्रकभ्रमणवादिगण के मतानुसार हैं । नहीं तो क्यों नहीं मध्यम बुध, शुक्र प्रक्षेप योगपात सम्पादक शीघ्रोच्च केन्द्र भगण

अधिक पात, भगण, कहने चाहियें । इस लिये भीमादि ५ ग्रहों के सूर्यकेन्द्रक भ्रमण मूलग्रन्थकारों का अभिप्राय था । नहीं तो उन के मतानुसार पात-भगण लिखना अनुचित था । मान लो कि बृहस्पति शुक्र का सूर्यकेन्द्रक भ्रमण मूलग्रन्थों का अभिप्राय हों । आद्यमत के विरुद्ध उन के पातभगण पाठ से । मङ्गल बृहस्पति एवं शनि का तो भूमिकेन्द्रक ही हो, सूर्य केन्द्रक नहीं, यदि उस पातभगण के आद्यमत के अविरुद्ध हो तो नहीं । सूर्यकेन्द्रक भ्रमण न मानने से सूर्य का भीमादि शीघ्रोच्चत्व को अनुपपत्ति द्वारा सूर्यकेन्द्रक भ्रमण का ॥ तथाहि-

भूमेरतिदूरोग्रहकक्षायाः प्रदेशो ग्रहस्य शीघ्रोच्चम् ।

" उच्चस्थितो ज्योमचरः सुदूरे

नीचस्थितः स्यान्निकटे धरित्र्याः "

इत्युक्तत्वात् कक्षान्तर्गताया भूमेर्निर्गतया केन्द्रं स्पृशन्त्या रेखया स्पष्टः कक्षाप्रदेश एव च भूमेर्दूरतरः स च रवेः केन्द्रगतत्वाभावे रविसम्मुख एव किमिति स्यात्केन्द्रातिरिक्तस्थलस्यस्य रवेः केन्द्रसमानगतिकस्य मूलकृदभिप्रेतत्व-कल्पनमपेक्ष्य तु रवेरेव केन्द्रत्वकल्पनाया लघीयस्या मूलकृदभिप्रेतत्वकल्पनमुचितम् ॥

न च सूर्यमभितो ग्रहभ्रमणमभिप्रेततामाद्याचार्याणां भूमिं परितो भ्रमणप्रदर्शनमसंगतमिति वाच्यम् । लोकप्रतीत्यनुसृतये लाघवेन गोलस्थिचक्रगतये च सूर्यधर्माणां धरण्यामारोपणस्य तैरङ्गीकरणात् ॥

तदेवमारोपरसिद्धा जाचार्याद्येवलाघवं लोकप्रतीतिं चानुसरन्त एव कल्पनालाघवेन सिद्धेऽपि तरणिसहितस्य भपञ्जरस्य धरण्याश्चाचलत्ववत्त्वे अन्योन्यस्मिन्नारोप्यैव तरणिं भवक्रं च चलं धरणिं चाचलां वर्षणां-

चक्रुरित्यपि प्रतीयते । भवति हि लाघवमयं रविः प्रातस्त-
त्रस्थ इदानीमत्रास्तीति बोधयितुम् । जानन्ति चैवमेव लो-
काः । एवं रवेराश्व्यन्तरसंचारमपि । कल्पनायां तु भवत्येव
तरणेर्धरणिं परितो भ्रमणस्याङ्गीकरणे तरणिं परिभ्रमतां
व्योमचारिणामपि भुवमभिभ्रमणमनायत्या स्वीकृतमिति
गौरवम् । मतान्तरे च धरणेरेकस्या एवेति लाघवम् ॥

तदेवं भूमेर्मूलोक्तस्य भचक्रभ्रमणस्य सजातीयं स्वाक्षं
परितो भ्रमणं रविभ्रमणस्य सजातीयं क्रान्तिवृत्ते भ्रमणं च
मूलकाराणामभिप्रेतमिति सिद्धम् ॥

स एष विषयोऽर्वाचीनैर्ग्रन्थकारैर्न व्यज्ञायि । यतस्तेषु
केचन कुजगुरुरविजेषु पातं संयोज्य साधिताद् विक्षेपके-
न्द्राच्छरस्यानयनमुपलब्ध्यतिरिक्ता—

भाषार्थः—मूलग्रन्थकारों के अभिप्राय से उसी प्रकार, भूमि से अतिदूर
ग्रहकक्षा का प्रदेश ग्रहों का शीघ्रोच्च होता है ॥

“वक्ष्यित आकाशगामी अत्यन्त दूर से एव नीचस्थित होने पर पृथिवी
के निकट” ऐसा करने पर कक्षान्तर्गत भूमि से निकला केन्द्र की छूती हुई रेखा
से स्पर्श करता हुआ कक्षाप्रदेश में श्री भूमि अधिकतर दूर और वह सूर्य के केन्द्र
गतत्व के अभाव से सूर्य सम्मुख ही क्या हो । केन्द्रातिरिक्तस्थ स्थल का
सूर्य के केन्द्र समानगतिक का मूलग्रन्थकार के अभिप्राय की कल्पना की
अपेक्षा करके सूर्य ही केन्द्रत्व घोड़ी कल्पना करके मूलग्रन्थकार का अभिप्राय
कल्पना उचित था और ॥ सूर्य की चारों ओर ग्रहभ्रमण प्रदर्शन असंगत
है, ऐसा कहना चाहिये । लोक की प्रतीति का अनुसरण करने के लिये एवं
घोड़े उपाय से गोलस्थिति समझने के लिये सूर्यधर्म (अचल होना) पृथिवी
में आरोपण करके उन के मानने से । इस प्रकार आरोपण करने वाले आचार्य
मोघलाघव और लोकप्रतीति को अनुसरण करते हुये लघुकल्पनामात्र से
सिद्धहुये सूर्यसहित सशिषक और पृथिवी के अचलत्व और चलत्व में एक

दूसरे में आशेष कर सूर्य एवं राशिचक्र को सचल और पृथिवी को अवला
घर्णन किया है ऐसा जान पड़ता है। यह लाघव भी है कि प्रातःकाल सूर्य
यहां है, अब वहां है इत्यादि। इस प्रकार समझना सहज है। लोक भी ऐसा
ही जानते हैं। इसी प्रकार एक राशि से दूसरी राशि में जाना (लोक में
व्यवहार है कि इस मास में सूर्य सेव राशि में है पुनः कृपमें जावेगा इत्यादि)
कल्पना की जाती है (वस्तुतः नहीं) कल्पना करलेने से कि पृथिवी के
चारों ओर सूर्य भ्रमण करता और सूर्य के चारों ओर ग्रहादिक भ्रमण करने
वाले पृथिवी के चारों ओर भ्रमण करते हैं। इस प्रकार अङ्गीकार करने से
“गौरव” (समझना कठिन) है। किसी के मत में पृथिवी ही का भ्रमण
लाघव है। सो इस प्रकार भूनि का मूलग्रन्थोक्त प्रथम भ्रम का सजातीय
अपने अक्ष पर परिभ्रमण करना और सजातीय क्रांति दृष्ट में भ्रमण करना
मूलग्रन्थकार का अभिप्राय सिद्ध है। सो इस विषय की नवीन ग्रन्थकारों ने
नहीं समझा जिस कारण उन में कोई २ भङ्गल, गुरु, शनि में पात की जोड़
कर साधित विलेप केन्द्र से शर का छाना—

उपपत्तिसहितं मन्यमाना बुधशुक्रयोः शीघ्रोच्चैः पातः
प्रक्षेपेण शरानयनमुपलब्ध्यतिरिक्तोपपत्तिरहितमवगम्य
बुधशुक्रयोः शीघ्रोच्चस्थाने यावान् विक्षेपस्तावानेव यत्र
कुत्र स्थितयोरपि तयोर्भवतीत्यत्रोपलब्धिरेव वासनेत्याहुः।
अन्ये च बुधशुक्रयोर्मूलग्रन्थेषु पठितान्वास्तवानपि पात-
भगणानवस्तुभूतान्स्वल्पतया सुखमात्रार्यकांश्चाहुः। दैव-
गत्यार्यभट्टस्य बुद्धिपथमारूढम्—

“अनुलोमगतिर्नैस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।

अचलानि भानि तद्वत्समपश्चिमगानि लङ्कायाम्”

इत्यादिना प्रकाशितमपि भ्रमकस्याचलत्वं क्षीण्याश्च
स्वाक्षं परितो भ्रमणम् ब्रह्मगुप्तः

“आवर्तनमुर्व्याश्चैव पतन्ति समुच्छ्रयाः कस्मात्”
इत्यनेन भ्रमणप्रारम्भोत्तरकाले संयुक्तानां पृथ्व्याकृष्टानां

वस्तूनां पतनाभावमजानन् प्रारम्भकालिकभ्रमणस्वभावमे-
वावगच्छन्नपालपत् । लल्लश्च-

“यदि च भ्रमति क्षमा तदा स्वकुलायं कथमाप्नुयुः खगाः ।
इपवोऽपि नभः समुज्झिता निपतन्तः स्युरपापतेर्दिशि ॥

पूर्वाभिमुखे भ्रमे भुवो वरुणाशाभिमुखो ब्रजेदधनः ।

अथ मन्दगमात्तथा भवेत्कथमेकेन दिवा परिभ्रमः” ॥

इत्यनेन भूवायुसहितायाः क्षितेर्भ्रमणमजानन् प्रीपतिश्च-

“यद्वेवमम्बरचरा विहगाः स्वनीडमासादयन्ति न खलु
भ्रमणे धरित्र्याः । किञ्चाम्बुदा अपि न भूरि पयोमुचः स्युर्दे-
शस्य पूर्वगमनेन चिराय हन्त ॥ भूगोलवेगजनितेन समो-
रणेन केत्वादयोऽप्यपरदिग्गतयः सदा स्युः । प्रांसादभूधर-
शिरांस्यपि संपतन्ति तस्माद्भ्रमत्युडुगणस्त्वचलाऽचलैव” ॥
इत्यनेनोभयमप्यजानन् ॥

जापार्थः—उपलब्धि को छोड़कर उपपत्ति सहित ज्ञानने वाले बुध शुक
के श्रीग्रीष्म में पात प्रलेप्टाग शर का लाना उपलब्धि को छोड़ कर उपपत्ति-
रहित ज्ञान कर बुध शुक के शंभ्रोक्ष स्थान में जितने विक्षेप हैं उतना ही
विक्षेप जिस किमी स्थान का हो उन दोनों का होता ही है । इस में उप-
लब्धि ही उपपत्ति है ॥

यहुत से लंग गुप शुक को मूलग्रन्थ में पढ़े हुये वास्तविक पातमण्डलों
को न्यूनतया शुद्धपूर्वक समझने के लिये कहा है । दीधगति से आर्यसह बुद्धिपथ
पर आरुढ़ लिखते हैं—

“जिस प्रकार नौका में बैठे हुये मनुष्य को पर्वतादि किनारे की अचल
(ठहरी हुई) वस्तुएँ उलटी ओर की चलती हुई दिखलाई देती हैं । ऐसे
ही पूर्व की ओर की चलती हुई पृथिवी पर रहने वाले मनुष्यों को अचल
(स्थिर) तारे भी परिन्तम को जाते हुये दिखलाई देते हैं ॥”

इत्यादि द्वारा पृथिवी का भ्रमण एवं राशिचक्र का अचलत्व प्रकाशित
करने पर श्री ब्रह्मसूत्र ने सन्नभकर नहीं लिया है कि—

“यदि पृथिवी भ्रमण करती तो कोठे आदिक ऊँची वस्तु क्यों नहीं गिरती?”

इस से भ्रमण प्रारम्भोत्तर काल में पृथिवी के आकर्षणशक्ति से इस के ऊपर की वस्तु नहीं गिरती, इस बात को न समझकर प्रारम्भकालिक भ्रमण स्वभाव ही को केवल सुनकर छल्ल ने लिखा है कि—

“यदि पृथिवी भ्रमण करती है तो पश्चिम अपने घोंमले को क्योंकर पहुँचते हैं ? आकाश में छोड़े हुवे घाण पश्चिम दिशा में क्यों गिरते हैं ? पूर्व की ओर पृथिवी का भ्रमण होता है तो पश्चिम में घाण गिरते हैं । यदि कहो कि पृथिवी की मन्दगति से ऐसी घटना होती है तो एक ही दिग्गत्ति में अपने अक्ष पर क्योंकर भ्रमण करती है ? ”

इत्यादि द्वारा भूवायुसहित पृथिवी के भ्रमण को न समझकर ग्रीपति ने लिखा है कि—

ननु तरणिमभितो धरणेः क्रान्तिवृत्ते भ्रमणं स्वीकृते रवेरिय नक्षत्राणामपि स्थिराणामुदग्दक्षिणायनं ध्रुवतारोन्नतिभेदश्चोपलभ्येत । न चापरिमेयां भ्रमणदूरतामपेक्ष्य धरणिभ्रमणमार्गस्यात्यन्तमणुतया न तथोपलब्धिरिति वाच्यम् । भ्रमणदूरतायाः पट्टिगुणरविकक्षादूरत्वतुल्याया एव ।

“भवेद्भ्रमणक्षतीक्ष्णांशोर्भ्रमणं पट्टिताडितम्” । इत्याद्यागमाभिहितत्वादिति चेन्न । छेदके कक्षावृत्ते प्रतिवृत्ते चैकस्यामेव दिशि मेघादिस्थितिमाद्याचार्याणामपरिमेयस्यैव भ्रमणदूरत्वस्याभिमततया तद्विरुद्धमुपपत्तिशून्यं दूरत्वं बोधयतस्तस्य वचनरयानभिज्ञप्रक्षिप्ततायाः स्फुटमेव प्रतीयमानत्वादिति शम् ॥

प्राचीनज्योतिषाचार्यवर्याणामेवमाशयः ।

वापुदेवाभिधानेन यथावद्विप्रदर्शितः ॥

इदमाशयवर्णनं मया गजनागाद्रिकुसुमिते शक्यं ।

रचितंसुहृदामहीभ्रमभ्रमिणांगोलविदांविदांमुदे॥इति

भाषायां:-सूर्य की चारों ओर पृथिवी का कान्तिवृत्त में भ्रमण मानने से सूर्य की नाई स्थिर नक्षत्रों का भी उत्तरायण एवं दक्षिणायन एवं ध्रुवतारा की लक्ष्तिभेद प्रतीत होवे। और न भचक्र की अपरिमेय दूरता की अपेक्षा पृथिवी का भ्रमण मार्ग की तुलना अनुमात्र है इन लिये उस प्रकार प्रतीत नहीं होता ऐसा कहना चाहिये ॥

राशिचक्र की कक्षा की दूरता से ६० गुणा सूर्यकक्षा की दूरता की तुलना है। 'सूर्य की कक्षा भ्रमण ६० गुण भचक्र की कक्षा से हाता है' इत्यादि शास्त्राक्त होने से। यदि कहो सो नहीं। प्रवृत्त क्षेत्रक कक्षावृत्त में एक ही दिशा में नेपादि स्थिति आद्य आचार्यों का अपरिमेय भचक्र की दूरता के अभिप्राय- उस के विरुद्ध उपपत्तिशून्य दूरत्व समझाने के लिये यह वचन साफ़ २ प्रसिद्ध है ॥

यदि पृथिवी चलती है तो खेचर पक्षिगण अपने २ घोंसले को क्योंकर पहुंचते हैं? और नेप धार २ नहीं वर्षता। देश के पुर्य गमन से भूगोल के वेग से वायुद्वारा पत्ताका भी दूसरी दिशा में होजातीं और कोठे पहाड़ की चोटियां टूटकर गिरजातीं इस लिये नक्षत्रगण भ्रमण करते हैं, पृथिवी अचला ही है। इस से दोनों ने न ही समझकर ॥ प्राचीन ज्योतिष शास्त्र के आचार्यवर्यो' ही के आशय वर्णन में (वायुदेव शास्त्री) ने अपनी युद्धि अनुसार दिखलाया और यह आशय वर्णन मैंने शाके १९९८ में गोलविद्यावित् सज्जनों के लाभ के लिये जिन्हें नही भ्रमण में भ्रम होता है लिखा ॥

युग+कल्प

काल

यद्यपि बहुत लोग यह भी कह सकते हैं कि काल ही धर्म की हानि और वृद्धि का कारण है। जैसा कि अनेक संस्कृत के ग्रन्थों में लिखा है कि "कलि काल में सनातन आर्यधर्म नष्ट होके विविध पाखण्ड मत प्रवृत्त होंगे" इसी प्रकार इन दिनों देख भी रहे हैं कि आर्यधर्म सच्छिन्न होता जाता है। तो कहिये क्या अय आर्यधर्म की उन्नति हो सकती है? इत्यादि कह कर कितने परिहृत धर्माक्षति से उपेक्षा करते हैं, परन्तु यह एकमात्र उन की आलस्य-परायणता ही है और अपने आलसी चित्त को उक्त वचनों का झूठा सहारा ८ कुपय में गेरना है ॥

हम पूछते हैं कि शास्त्र की किस बात को लेके कलिकाल में धर्म की हानि पुकार रहे हैं? क्या केवल काल ही धर्महानि का कारण है या और

भी कुछ ? यदि काल ही है तो यह साधारणरूप से धर्म का ह्रास करता है, अथवा कलित्व धर्म के संयुक्त होने से ? प्रथम तो काल कुछ एक स्वतन्त्र वस्तु ही नहीं है, जो उस की किसी कार्य के प्रति कारणता या अकारणता भानी जाय, क्योंकि "अधिक काल और न्यून काल" इत्यादि व्यवहार पृथिवी के भ्रमण-यथात् सूर्य द्वारा परिष्पन्द क्रिया ही की अधिकता या न्यूनता हो जायगी। जो पृथिवी की चलनक्रिया अपेक्षाकृत कुछ अधिक हो गई है, यही अधिक काल एवं जब वह न्यून है, वही न्यून काल कहा जायगा। सुतरां और २ ऋष्यहार भी सत्र इसी प्रकार सम्पन्न हों जायगे, फिर कहिये काल क्या कुछ वस्तु शेष रहा ? सुतरां पृथिवी की चलनक्रिया समूह का नाम काल रहा और परिष्पन्द क्रिया तो सत्ययुग से आज तक सदा एक ही रूप से चली आती है, पुनः उस समय धर्महानि नहीं हुई और अद्य ही हुई, इस का विशेष कारण कुछ काल ही को नहीं कह सकते। हां, निम्न प्रकार सभी पदार्थ जो अगत में उत्पन्न होते हैं, उन के प्रति दिशा प्रागल्भाय एवं ईश्वरादि (वैशेषिकशास्त्रोक्त) कारण होते हैं। इस प्रकार काल भी एक साधारण कारण है। यह ईश्वरीय नियम अनादिकाग से एक प्रकार से चला आता है। क्या सत्ययुग, त्रैता, द्वापर, कलि या मन्वन्तर और कल्प सब समयों में जिस प्रकार ईश्वरीय नियम से स्वभावतः जल में शीतलता, अग्नि में उष्णता आदि गुण हैं, इसी प्रकार जितने पदार्थ हैं सभी के लिये उस के अविचल नियम हैं। इन इन का प्रमाण देते हैं:-

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठन् त्रे-

ता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्। ऐ० ब्रा० ३३। १५ ॥

अर्थात्-धर्म के कामों में मनुष्य जब तक (शयानः) आलस्य किये पड़ा रहता है तब तक उस मनुष्य की कलि सञ्जा है। जब आलस्य को त्याग देता है तब वह द्वापर कहलाता है। जब कमर बांध के धर्म के कामों में रुढ़ा होता है तब वह त्रैता कहलाता है और जब धर्म को यथावत् रीति से सेवन करता है तो वह सत्ययुग कहलाता है ॥

पाठक! देखिये यहां उक्त प्रमाण से कलित्व आदि धर्म स्पष्ट २ मनुष्य ही में प्रतिपादन किये गये हैं कुछ काल में नहीं, तथा मनुष्यों ही के कारण उक्त धर्म काल में भी कहे जा सकते हैं। अतएव काल ही केवल धर्म या

कार्य की हानि वृद्धि में मुख्य कारण होता नहीं है, वरन मनुष्यों की शिथिलता आलस्य या उद्योग का अभाव ही हानि का कारण होता है ॥

अनेक लोगों का कथन है कि ऋतु के स्वाभाविक गुण ऋतु में अवश्य ही होते हैं, किसी के टाले नहीं टलते। इस लिये सत्ययुग आदि में जो धर्म-वृद्धि और ह्रास आदि गुण हैं वे अवश्य ही होंगे। हम कहते हैं कि कहने वाले का अपने आप न शोचना चाहिये कि ऋतुओं के परिवर्तन में भी सूर्य की गति एवं तत्तद्देश विशेष आदि अन्यान्य कारण हैं जिन की फल कारणता से ऋतुओं में तत्तद्गुण प्राप्त हो सकते हैं। साईंवीरिया द्वीप में क्यों घटन्त ऋतु नहीं आता ? अथवा इङ्ग्लैण्ड देश में यहाँ की नाईं प्रैटिक अन्न क्यों नहीं उत्पन्न होते ? अतएव निहृ हुआ कि कालकृत कार्यों में हानि या वृद्धि नहीं होती। जिस प्रकार दिन रात महीना वर्ष आदि काल की सत्ता है वही प्रकार सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि आदि काल की सत्ता है। प्राण, नाडी वृद्ध आदि कार्यान्वयपूर्णरीति से सृ० अ० में किया गया है। इस लिये यहाँ उस के परिमाण का घणन नहीं होगा, परन्तु वेदों के प्रमाण मात्र दिये जावेंगे -

याओपधीः पूर्वाजाता देवेभ्यस्त्रियुगंपुरा ॥ ऋ० १०।६७।१

ऋग्वेद में अनेक स्थानों में (१।८।८ १।१५।६ १।१४।३, ३।२६।३, ३।३३ ८ आदि) युग शब्द आया है, परन्तु कृत, त्रेता द्वापर, कलि (सपरिमाण) के विभाग उन में नहीं आया सामान्यतः क लवाची हैं। जो ओपधिया पूव तीनों युगों में विद्वानों द्वारा जानी गई हैं। अर्थात् वेद में युग का नाम तो नहीं आया है, परन्तु युगों के वर्ष सरपा परिमाण दिये हैं -

शतं ते अयुतं हायनान्दे युगे त्रीणि चत्वारि कृणमः ॥

(अथर्व ८।२।२१)

अर्थात् १२००० दिव्य वर्षरूप युग के १२०० भाग को चार तीन दो एक से गुणा करने पर क्रम से सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग की दिव्यवर्ष सरपा होगी। (देखो सूर्यसिद्धान्त अ० १)

मनुस्मृति में भी युग काल विशेष का नाम माना है जैसा -

कलिः प्रसुप्तो भवति सजाग्रत् द्वापरं युगम् ।

कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥

मनुस्मृति ९।३०१-३०२

अर्थ-इस का अर्थ उसी प्रकार है, जैसा कि ऐ० प्र० १३३।१५ का किया गया है ॥

अक्षराजाय कितवं कृतायादिनवदर्थं त्रेतायै कल्पि-
नं द्वापरायार्धकल्पिनमास्कन्दाय सभास्थाणुम् ॥

(यजुर्वेद ४० अ० ३० । १८)

कृताय सभायिनं । त्रेताया आदिनमदर्शं । द्वापराय
वहिस्सदं । कलये सभास्थाणुं ॥ तै० ब्रा० ४।३।१ ॥

भाषार्थः—इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में भी चार युगों का उल्लेख है,
परन्तु द्यूतकीद्वार्य पाशा का भिन्न २ अवस्थान मात्र है। एवं तैत्तिरीय ब्रा० ३।४।
१।१६ में भी चारों युगों का नाम द्यूत कीद्वार्य पाशा के नाम में आया है।
छान्दोग्योपनिषद् ४।१।४ में केवल कृतयुग का उल्लेख है। सामवेदीय पद्-
विध ब्राह्मण में लिखा है कि चन्द्रकला से युग चतुष्टय रहे ये प्राचीन नाम
प्रचलित हुये हैं। १००० सहस्र चतुष्टय का जो एक कल्प होता है उस का प्रमाणः—
एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा कियता स्कम्भः प्रविवेश तन्त्र ।

(अथर्व १० । २१ । १७)

एक कालरूपी अङ्ग १००० हिस्सों में विभक्त किया है। पुनः कल्प के
बाद सृष्टि होती है उस का प्रमाण—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥

(ऋग्वेद १० । १८)

अर्थात् जिस प्रकार पूर्व (गत) कल्प में सूर्य चन्द्रमा आदि की रचना
ईश्वर ने की थी उसी प्रकार इस वर्तमान कल्प में भी की है ॥

रूपकालद्वार से—सृष्टि काल के परिमाण के वर्णन में ज्योतिष में लिखा
है कि १४ मनु और १ सन्धि सहित १५ मन्वन्तर एक कल्प वा ब्राह्मदिन
और उसने ही की रात्रि अर्थात् ३० मन्वन्तरों का एक ब्राह्म अहोरात्र
होता है अर्थात् जिस प्रकार हमारे सौर मान से १५ मुहूर्त का दिन एवं १५
मुहूर्त की रात्रि होती है उसी प्रकार एक मन्वन्तर का एक ब्राह्म मुहूर्त होता
है और जिस प्रकार हमारी आयु १०० वर्ष की है वही नियम से प्राप्त अहो-
रात्र के परिमाण से १०० ब्राह्मयण सृष्टि की आयु होती है अर्थात् महाप्रलय
होता है। प्रत्येक मन्वन्तर में जो सन्ध्या और सन्ध्यांश हैं, वह इस प्रकार
सम्भन्ता चाहिये कि जिस प्रकार ६० घड़ी का मानुषी दिनरात होता है उस
का छठा भाग १० घड़ी हुवा जिस में ५ घड़ी प्रातःकाल सन्ध्यांश और साय-

झाल ५ पड़ी सन्ध्या कहलाती है इसी प्रकार सत्ययुग आदि प्रत्येक युग में उस २ दिव्य वा मानुषवर्ष संख्या का छठा भाग सन्ध्या सन्ध्यांश कहाता है॥

प्रलय

सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय के अनेक क्रम हैं, अर्थात् महाप्रलय के बीच ॥ जितने २ प्रलय अवान्तर प्रलय होते हैं, उन सब का क्रम पृथक् २ है परन्तु जैसा एक महाप्रलय के अवान्तर प्रलय का क्रम होता है वैसा ही प्रत्येक महाप्रलय में उन उन अवान्तर प्रलय का क्रम रहता है । प्रत्येक सन्ध्वन्तर की समाप्ति में जब जल से अवान्तर प्रलय होने पर आता है तब वर्षों तक घराघर सूखलाचार वृष्टि होती है जिस में पर्वतादि भी जलमय होजाते हैं । द्वितीय सन्ध्वन्तर का फिर आरम्भ होता है तब फिर जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियां, उन से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीरों की उत्पत्ति होती है अर्थात् यह प्रत्येक सन्ध्वन्तर में आदि अन्त का प्रलय जल से होता है इस में पृथिवी और पार्थिव शरीर नाश का प्रलय होजाता है । जल, अग्नि, वायु और आकाश बने रहते हैं । १७२०:० वर्ष में आधा समय पहिले सन्ध्वन्तर की समाप्ति ॥ सन्ध्या और आधा समय आगामी सन्ध्वन्तर का सन्ध्यांश (मातः काल) समझा जाता है । इतने समय तक पृथिवी सर्वथा जलमय होजाती है ॥

आशय यह है कि सन्ध्वन्तरों की आरम्भ समाप्ति में अवान्तर प्रलय जल से और सन्ध्वन्तर के आरम्भ में जल से ही सृष्टि का आरम्भ होता है और ब्राह्मकल्प में अग्नि से प्रलय होता है । अग्नि से ही सृष्टि का फिर आरम्भ होता है और महाप्रलय में वायु तथा आकाश से प्रलय होता है और महाकल्प के पश्चात् फिर वायु तथा आकाश से सृष्टि का आरम्भ होता है । आत्मा से आकाश और आकाश से वायु की उत्पत्ति जो शास्त्रों में दिखाई है उस का अभिप्राय परमेश्वर से सृष्टिक्रम दिखाने का है । वस्तुतः आकाश भी एक तत्त्व अग्नि, वायु आदि के समान ही उत्पन्न या नष्ट होने वाला है । केवल भेद इतना ही है कि जैसे अग्नि की अपेक्षा वायु सूक्ष्म होने से दिखने में नहीं आता वैसे वायु से भी अधिक सूक्ष्म आकाश तत्त्व है । इस कारण यह स्पर्शन इन्द्रिय से ज्ञेय नहीं । आकाश का गुण शब्द है वह शब्द जिस में रहता तथा जहां से प्रकट होता वही आकाश द्रव्य है । यद्यपि किन्हीं लोगो का यह सिद्धान्त है कि आकाश कोई द्रव्य नहीं, उस के उत्पत्ति नाश भी नहीं होते, इस पक्ष में वायु तक का ही प्रलय माना जायगा तथापि वायु आदि के तुल्य आकाश को द्रव्य या तत्त्व मानकर उस के उत्पत्ति नाश

मानने का पक्ष दीक मालूम होता है और वायु की गति का कारण प्रायः अग्नि है। वायु में हलकापन आजाता है इसी से ग्रीष्मकाल में वायु की गति अधिक और शीतकाल में भारीपन रहने से वायु की गति वैसी तेज नहीं होती है। हलका ही पदार्थ अधिक चलायमान होता और भारी पदार्थ अधिकांश में स्थिर होता है। जैसे भारी गम्भीर मनुष्य की बुद्धि स्थिर और हलके की चपल बुद्धि होती है। तब उठ जाते और पत्थर नहीं उड़ता है। तात्पर्य यह है कि यदि अन्य तत्त्वों का संघर्षण न हो और अग्नि वायु को हलका न करे तो वायु का चलना ही न हो तथा वायु सर्वत्र व्यापक है तभी पंखा हिलाने से चलने लगता है। जैसे जल सर्वत्र भरा हो और एक स्थल से जल लिया जावे तो उस स्थल में ऊपर उधर से जल गिरेगा ऐसे ही सर्वत्र भरे वायु को जहाँ २ अग्नि हलका करता है वहाँ २ अन्यत्र से वायु गिरता है इस लिये उस में गति होती है। जब अग्नितत्त्व का प्रलय होजाये तब वायु की गति होना भी दुस्तर है अर्थात् अग्नि के प्रलय में वायु अपने कारण आकाश में स्वयमेव छीन होजाता है। इस लिये जल, अग्नि, वायु, आकाश इन ही तत्त्वों से तीन ही प्रकार का प्रलय होता है। जब २ जिस २ तत्त्व से प्रलय होता है, तब २ उसी तत्त्व से फिर सृष्टि का आरम्भ होता है ॥

ऋतु

पृथिवी के परिभ्रमण काल में उस के मेरुदण्ड वा कल्पित ध्वास सम्पूर्ण सम्यक्मान रह कर कुछ तिर्यक् रूप से स्थिति करता है, इसी कारण समय २ प्रा. पृथिवी पर सूर्य के तेज का न्यूनाधिक्य होता रहता है। अतएव ऋतु-परिवर्तन हुआ करता है ॥

पृथिवी स्वभावात् किञ्चित् वक्रभाव से नित्य ही भ्रमण करती है। किसी समय भी इस भाव अर्थात् वक्रता को नहीं छोड़ती। सुतरां सूर्य की चारों ओर भ्रमण करती २ किसी २ समय सूर्य सम्बन्ध में इस का मेरु देश एक बार उन्नत और एक बार अवनत होजाता है। कोई पदार्थ तिर्यक् रूप से एक भाग से निरवलम्ब होकर चक्काकार वा वृत्ताभास पथ में परिभ्रमण करने से वह चक्र वा वृत्ताभास के केन्द्र सम्बन्ध में उस का शिरोभाग और अधोभाग अवश्य ही एक बार उन्नत एवं अवनत होता है, ऐसी प्रतीति होती है।

पृथिवी अपनी कक्षा पर कुछ तिर्यक्भाव से नित्य भ्रमण करती २ इस का मेरु प्रदेश एकवार सूर्य के सम्मुख एवं एकवार सूर्य के परोक्ष में उपस्थित होजाता है इस से सिद्ध होता है जो पृथिवी के द्वैपत् तिर्यक्भाव से अवस्थिति करने एवं इस की वार्षिक गति द्वारा ऋतु सब बार २ प्रत्यागमन करते और परिवर्तित होते हैं ॥

यदि पृथिवी सूर्य की परिभ्रमण नहीं करती तो हम लोग ऋतुओं का वार २ आना, एवं इस के परिवर्तन का कभी नहीं देख पाते । पृथिवी यदि लम्बसाय से अवस्थित हो कर ठीक घुंकाकार पथ में परिभ्रमण करती तो सूर्य का आलोक पात कभी तिर्यक्भाव से कभी सरलभाव से अथवा दिवा भाग में सूर्य के आकाशमण्डल कभी दीर्घकाल कभी अल्पकाल अवस्थिति इस प्रकार कभी नहीं पड़ता । मंतरा पृथिवी में उत्ताप का कभी तारतम्य न होकर वह सब समय सर्वत्र समभाव से अनुभूत होता ॥

सूर्यकिरण सरल रेखा की नाई एक ही ओर विकीर्ण होता है । एवं पृथिवी के साथ सम मूत्रपात काल में जो स्थान ठीक सूर्य के सम्मुखवर्ती होता है, वही स्थान अधिक उष्ण होता है । इसी कारण दोनो अयनान्त-वृत्त के मध्यवर्ती देशों में ग्रीष्म ऋतु का प्रादुर्भाव होता है क्योंकि उस उस देश को छोड़ कर किसी अंश में सूर्य किरण लम्बसाय से पतित नहीं होता । उत्तर अयनान्तवृत्त के जितने उत्तर होगा या दक्षिण अयनान्तवृत्त के जितने दक्षिण होगा उतना ही शीत का आधिक्य होता है ॥

ग्रीष्म काल की उत्पत्ति सामान्यतः दो कारणों से होती है । प्रथमतः इस समय सूर्यरश्मि पृथिवी में लम्बसाय से पड़ती है । द्वितीय गगनमण्डल में सूर्य अधिक काल स्थिति करता है और जिस समय इन दो अवस्थाओं में वैपरीत्य होता है, उस समय हेमन्त काल का उद्भव होता है । ज्येष्ठ और आषाढ मास में दो प्रहर के समय गगनमण्डल में दृष्टिपात करने से सूर्य को हम लोग अपने मस्तकोपरि देखते हैं, किन्तु पौष और माघ मास में इस प्रकार सूर्य के प्रति अवलोकन करने से उस को बहुत दक्षिणांश में अर्थात् आकाश के बहुत नीचे देखते हैं । अधिकन्तु ज्येष्ठ और आषाढ मास के दिन में सूर्य आकाशपथ में दीर्घकाल रहता है, किन्तु पौष और माघ मास में स्वल्प क्षण अवस्थिति करता है । इसी कारण ज्येष्ठ और आषाढ मास में ग्रीष्म का एवं पौष और माघ मास में शीत का प्रादुर्भाव होता है ॥

इस प्रकार शीत और ग्रीष्म के तारतम्यानुसार भिन्न २ देश में भिन्न २ जातीय उद्भिज्ज और जन्तु मय उत्पन्न होते हैं, ये सब इस प्रकार ऋतु परिवर्तन न होने से जीवित नहीं रह सकते । विश्वकर्मा ने पृथिवी को जीव के योग्य और जीव की पृथिवी के योग्य बना कर अपनी अपारमहिमा प्रकट की है ॥



वेदों में ऋतुओं का उल्लेख

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू शुक्रश्च शुचिश्च ग्रीष्मा-
वृतू नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू इषश्चोर्जश्च शारदा-
वृतू सहश्च सहस्यश्च हेमन्तिकावृतू तपश्च तपस्यश्च शैशि-
रावृतू ॥ यजुर्वेदे पू० अ० १३ ॥ ५।६।१५।१६। २५।२७।५७

भाषार्थ—मधु, माधव, १ वसन्त ऋतु शुक्र, शुचि, २ ग्रीष्मऋतु, नभस्, नभस्य
३ वर्षाऋतु, इष, ऊर्ज, ४ शरदऋतु, सह, सहस्य ५ हेमन्तऋतु और तपस्, तपस्य ६
शिशिर ऋतु हैं अर्थात् मधु आदि दो २ महीनों के वसन्तादि ऋतु होते हैं॥

सामवेद में भी छः ही ऋतुओं का उल्लेख है—

वसन्तऋतुरन्त्यो ग्रीष्म इन्तुरन्त्यः ।

वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्तुरन्त्यः ॥

(सामवेद प्र० ६। अ० ३। ६। १३। १२)

सब ऋतुओं में वसन्त ऋतु को मुख्य मानते हैं । प्रमाणः—

मुखं वा एतदृतूनां यद्वसन्तः ॥

(तैत्तिरीय ब्राह्मणे ११। २। ६। १)

वेद या ब्राह्मण ग्रन्थों में १२ महीनों के नाम नक्षत्रों के नामानुसार चैत्रादि
महीनों, धरम मधु माधवादि हैं । चैत्रादि नाम होने का नियम यह है कि जिस
महीने की पीर्णमासी को जो नक्षत्र पड़ता है, उस नक्षत्र के नामानुसार उस
महीने का नाम होता है । जैसे चित्रा नक्षत्र में जिस महीने की पीर्ण-
मासी हुई उस महीने का नाम चैत्र, इसी प्रकार विशाखा नक्षत्र वाले का
वैशाख, इसी प्रकार और भी जानो । परन्तु यह नियम अब नहीं रहा । अब ठी
चाही उस २ महीने की पीर्णमासी को वह २ नक्षत्र न पड़े, परन्तु चैत्रादि
नाम रुढ़ से हो रहे हैं । इसी कारण वेदों में इस अविचल नियम से १२
महीनों के नाम हैं । जो कभी उस का परिवर्तन नहीं हो सकता । जैसा कि
चाहे जब वसन्त ऋतु हो, उस के प्रथम जी। द्वितीय नाम को क्रम से मधु,
माधव, चाहे जब ग्रीष्म ऋतु हो उस के प्रथम और द्वितीय नाम को क्रम से
शुक्र, शुचि; चाहे जब वर्षा ऋतु हो उस के प्रथम और द्वितीय नाम को क्रम से
नभस् नभस्य, चाहे जब शरदऋतु हो, उस के प्रथम और द्वितीय नाम

को क्रम से इप, कर्क, हेमन्त ऋतु चाहे जाय हो उस के प्रथम एवं द्वितीय मास को क्रम से सहः, सहस्य और शिशिर ऋतु चाहे जाय हो उस के प्रथम और द्वितीय मास को क्रम से तपस् एवं तपस्य कहते हैं ॥

अपुना जो लोग मधु आदि १२ नहीनों को चैत्रादि के वाचक समझते हैं। यह मेरी समझ में उन की भूल प्रतीत होती है क्योंकि चैत्रादि नाम नक्षत्रों के अनुसार और मधु आदि ऋतु के लक्षणानुसार हैं ॥

अर्थात् सूर्य के कारण ऋतु परिवर्तित होते हैं जो चैत्र, वैशाखादि इस समय वसन्तादि ऋतुओं में होते हैं, ये इस के कई महत्त्व वर्ष पहिले ग्रीष्म वर्षों शरदादि में हुये हैं। इस का नियम यह है कि लगभग २६०० वर्ष में (अपन गति के कारण) प्रत्येक दो दो नहीनों के मध्य ऋतु क्रम से होते गये हैं ॥

अर्थात् चैत्र में एक बार वसन्त ऋतु ४। सवा चार हजार वर्ष में। ग्रीष्म ऋतु ८। साढ़े आठ हजार वर्ष में। वर्षा ऋतु १३ हजार वर्ष में। शरद् ऋतु २१। हजार वर्ष में। इसी प्रकार हेमन्त और शिशिर हुए हैं ॥

दिन और रात्रि

जिस प्रकार किसी प्रकाशमान वस्तु के सामने कोई निस्तेज वस्तु रहने से उन निस्तेज वस्तु का केवल सामने का आधा भाग प्रकाशित होता और उस का दूसरा आधा भाग अन्धकार में रहता है। इसी प्रकार प्रकाशमान सूर्य के किरणों से निस्तेज भूगोल का आधा भाग (सामने का) मात्र प्रकाशित होता एवं अपरार्ध भाग अन्धकार में रहता है। पृथिवी की यह अवस्था सतत इसी प्रकार रहती है अर्थात् एकाध प्रकाशित एवं अपरार्ध अन्धकारावृत रहता है, किन्तु इन की दैनिक गति के कारण से हम के सब स्थानों में क्रम २ से आलोक और अन्धकार का आविर्भाव होता एवं तद्द्वारा दिन रात होते हैं (जहां प्रकाश वहां दिन एवं जहां अन्धकार वहां रात्रि) पृथिवी के निरन्तर आवर्तन (Rotation) से क्रमशः भिन्न २ समय में प्रत्येक स्थान ही सूर्य के सामने होता है, जिस समय जो स्थान सूर्य के सामने होता उस समय वहां के लोगों को ओष होता है कि सूर्योदय हुआ। पीछे वही स्थान क्रम से पूर्व की ओर अग्रसर होने से उन लोगों को मूर्ध ठोक अपने मस्तकी-परि (मध्याह्न) दृश्य होता है। निदान जब पृथिवी के आवर्तन द्वारा सूर्य मण्डल अदृश्य होता उस समय उन लोगों को ओष होता है कि सूर्यास्त

हुया । इसी प्रकार जब एक स्थान में दिन होता है तो दूसरे स्थान में रात-
झाल, एवं एक देश में जब मध्याह्न तब दूसरे देश (पाताल) में आधीरात
होती है । फलतः सूर्य का उदयास्त वास्तविक नहीं होता किन्तु पृथिवी की
दैनिकगति से दिन, रात, मध्याह्न, सन्ध्या आदि होते हैं, पृथिवी के सब
स्थानों में दिन रात एक परिमाण से नहीं होते, कहीं ३० सुवृत्त का दिन रात
कहीं ६० का, कहीं हमारी अपेक्षा एक सप्ताह, एवं कः महीने का दिन इ-
त्यादि होते हैं । अथ इस वेदादि शास्त्रों के प्रमाण देते हैं । जिन से यह
वात सिद्ध होगी कि दिनाधिपति, होराधिपति, मासपति, वर्षपति आदि
फलितज्योतिष की कल्पनामात्र है, वस्तुतः सिद्धान्तज्योतिष से इस का सम्बन्ध
नहीं । वेदोत्तरकालीन अनाय संस्कृत ग्रन्थों में एव इस समय की शिक्षित अधि-
क्षित दोनों महल्ली प्रायः "दिन" शब्द के स्थान में "वार" का व्यवहार करते
(लिखते, पढ़ते) हैं । इसी प्रकार रविवार, सोमवार आदि लिखते पढ़ते
बोलते हैं । परन्तु इस प्रकार का व्यवहार हमें वेद, ब्राह्मण, गृह्यसूत्र, व्याक-
रण, महाभारत और वाल्मीकीय आदि ग्रन्थों में नहीं मिलता, यहां तक कि
अमरकोष जो बहुत थोड़े दिन का बना हुआ ग्रन्थ है उस में भी नहीं पाया
जाता "घट्रो दिनाहनी वा तु क्षीये दिवसवासरी" अर्थात् घट्ट, दिन, अहन्,
दिवस, वासर, ये दिन के नाम हैं । ऐसा अमरकोष के कालवर्ग में लिखा है
परन्तु "वार" शब्द दिन के अर्थ में नहीं आया ॥

आदित्मन्त्रस्य रेतसो ज्योतिषश्चान्ति 'वासरम्' ।

परो यदिध्यते दिवा ॥ ऋ० सं० ८।६।३०

अर्थात् सूर्य का प्रकाश दिनभर रहता है ॥

देवर्तों के दिन

एकं वा एतद्देवानामहः यत्संवत्सरः ॥ तैत्ति० ३।६।११

हमारे एक वर्ष की धरावर चत्तरमेरुज्ज्वलितों (देवर्तों) का एक दिन
होता है ॥ दिन के पांच विभागः—

तस्मा उदरन्तसूर्यो हि कृणोति संग्रहः प्रस्तौति 'मध्यन्दिनम्' ।

उद्गायत्य 'पराह्णः' प्रति हरत्यस्तं यन्निघनम् ॥

(अथर्व सं० ८।६।६६)

दिन के पाँच भाग होते हैं—सूर्योदय, संगम, (मध्याह्न के पहिले और सूर्योदय के पीछे) मध्याह्न, अपराह्न और सूर्यास्त या सायंकाल । इसी प्रकार शतपथब्राह्मण में भी लिखा है:—

आदित्यस्त्वेव सर्वऋतवः । यदैवोदेत्यथ वसन्तो
यदा संगमोय ग्रीष्मो यदा मध्यंदिनोऽथ वर्षा
यदापराह्नोऽथ शरदं यदैवास्तमेत्यथ हेमन्तः ॥

(शत० ब्रा० २ । २ । ३ । ८)

अर्थ—सूर्य ही सब ऋतुओं का कारण है और प्रतिदिन सब ऋतुमें घीतती हैं अर्थात् जब सूर्योदय होता है तो वसन्त ऋतु 'संगम' काल में, ग्रीष्म, मध्याह्न में वर्षा, अपराह्न में शरद और सूर्यास्त समय हेमन्त ॥

दिनमान अर्थात् दिन का घटना बढ़ना-

सोम राजन् प्रणआयूंपि तारीरहानीव सूर्योवासराणि ॥

(ऋग्वेदे ८ । ४८ । ७)

भा.पार्यः—हे सोम राजन् । वासर (जगद्वासक) इस को जिस प्रकार सूर्य बढ़ाता है इसी प्रकार तू मेरी आयु को बढ़ा ॥

द्युगणाद्दिनवारवाप्तिर्द्युगणोऽपि हि देशकालसम्बन्धात् । लाटाचार्येणोक्ती यवनपुरेऽर्द्धास्तगे सूर्ये ॥ १८ ॥

रव्युदये लङ्कायां सिंहाचार्येण दिनगणोऽभिहितः ।

यवनानां निशि दशभिर्गतैर्मुहूर्तैश्च तद्गुरुणा ॥ १९ ॥ लङ्का-

धरात्रसमये दिनप्रवृत्तिं जगाद चार्यभटः । भूयः स एव

सूर्योदयात् प्रभृत्याह लङ्कायाम् ॥ २० ॥ देशान्तरसंशुद्धिं कृत्वा

चेन्न घटते तथा तस्मिन् । कालस्यास्मिन्साम्यं तैरेवोक्तं

यथाशास्त्रम् ॥ २१ ॥ मध्याह्नं भद्राश्वेष्वस्तमयं कुरुषु केतु-

मालानाम् । कुरुतेऽर्द्धरात्रमुदान्भारतवर्षे युगपदर्कः ॥ २२ ॥

उदयो यो लङ्कायां सोऽस्तमयः सवितुरेव सिद्धपुरे ।
 मध्याह्ने यमकोट्यां रोमकविषयेऽर्द्धरात्रः सः ॥ २३ ॥
 अधिमासकोनरात्रग्रहदिनतिथिदिवसमेव चन्द्रार्कः ।
 अयनत्त्वार्क्षगतिनिशाः समं प्रवृत्ता युगस्यादौ ॥ २४ ॥
 अन्यद्रोमकविषयाद्देशान्तरमन्यदेव यवनपुरात्लङ्कार्द्ध-
 रात्रसमयादन्यत्सूर्योदयाच्चैव ॥ २५ ॥ सूर्यस्यार्द्धास्तमयात्प्र-
 तिदिवसं यदि दिनाधिपं ब्रूमः । तत्रापि नाप्तवाक्यं न
 च युक्तिः काचिदन्यास्ति ॥ २६ ॥ क्वचिन्निशादिवसप-
 तेः क्वचित्क्वचित् । स्वल्पे स्वल्पे स्थाने व्याकुलमेवं दिन-
 पतित्वम् ॥ २७ ॥ होरावार्त्ताप्येवं यस्माद्धोरा दिनाधिप-
 स्यादा । तस्याऽपरिनिष्ठाने होराधिपतिः कथं भवति
 ॥ २८ ॥ अविचार्यैवं प्रायो दिनवारे जनपदः प्रवृत्तो-
 ऽयम् । स्फुटतिथिविच्छेदसमं युक्तमिदं प्राहुराचार्याः
 ॥ २९ ॥ अ० १५ पञ्चसिद्धान्तिकायाम् ॥

वराहमिहिर ने उपरोक्त प्रलोक लिखे हैं । एवं इस पर वासनानामक
 टीका श्री महानहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी प्रोफेसर संस्कृत कालिज बनारस
 ने की है । पाठकों के अवलोकनार्थ भाषा में अर्थ किया गया है ॥

भाषार्थः—जिस कारण अहर्गण से वार प्राप्त होती है और अहर्गण श्री देशकाल
 के सम्यग्य से सिद्ध होता है । जैसे—साटाचार्य ने यवनपुर (जीनपुर) में सूर्या-
 र्द्धास्त समय में, सिंहाचार्य ने लङ्का में, सूर्योदय काल में मुगलमानों के गुरु
 यवनाचार्य ने रात्रि में १० मुहूर्त बीतने पर अहर्गण कहा है और आर्यभट्ट
 ने तो एकत्र लङ्का में अर्द्धरात्रि समय दिन प्रवृत्ति कही है । पुनः उन्होंने आर्य-
 भट्ट ने दूसरे स्थान में लिखा है कि लङ्का में सूर्योदय से वार प्रवृत्ति होती
 है ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ उस देश में देशान्तर की शुद्धि भी की जावेती भी उस प्रकार
 काल की सज्जता नहीं होती तो काल साधनार्थ उन्होंने आचार्यों द्वारा शास्त्र-
 सम्मत कहा गया है, उसी प्रकार इस विषय में काल की सज्जता किस प्रकार
 की है यह समझ आने कही जाती है:-

भारतवर्ष में जब सूर्य उदित होता है उस समय मद्रास वर्ष में मध्याह्न, कुसुमपर्व में सूर्यास्त, केतुमाल वर्ष में आधीरात, एवं लङ्का में जब सूर्य उदय तब सिद्धपुर में सूर्यास्त, यमकोटि में मध्याह्न, रोमक नगर में आधीरात। इस प्रकार गणक लोग देशकी स्थिति जानकर अपने २ असीष्ट देश असीष्टकाल में अहर्गण, साधते हैं और तदनुसार ग्रहों को सर्वत्र अपने २ समय में वास्तविक ही देखते हैं। दिन के आरम्भ भेद से इसमें कोई हानि नहीं। ऐसा आचार्य का अग्निप्राय है ॥ २१ । २२ । २३ ॥ युग के आदि में अधिमास क्षय-तिथि, ग्रह, सावनदिन, तिथि, मेघराशि, चन्द्रमा, सूर्य, अपन, क्रतु, नाक्षत्रगति, राशि ये सब बराबर एक ही समय में प्रवृत्त हुये अर्थात् सूर्यास्त समय में अधिमासादि सब एक साथ प्रवृत्त हुये परन्तु किस स्थान में? सी आचार्य नहीं कहते परन्तु प्रायः सब सिद्धान्तों के अनुसार लङ्का ही में युगादि हुई ॥ रोमक देश से जो देशान्तर लिया जाता है वह दूसरा है। एवं जीनपुर से जो देशान्तर लिया जाता है वह और ही है ॥ २४ ॥ लङ्का में आधीरात से वार-प्रवृत्ति हुई यह किसी का मत है और वहीं सूर्योदय समय वार प्रवृत्ति हुई यह औरों का मत है। अब यदि प्रतिदिन सूर्य के आधे अस्त समय ही से हम लोग दिनाधिप अर्थात् वारप्रवृत्ति की कहें, उस में भी कोई आपत्तिकाय प्रमाण नहीं और न कोई युक्ति ही है। सूर्य से किसी स्थान में सम्पन्ना, किसी स्थान में दिन, किसी स्थान में रात्रि होती है इस प्रकार छोटे छोटे स्थानों में भी वार प्रवृत्ति की असङ्गति होती है ॥ २५ । २६ । २७ ॥ जैसे पहिले वारप्रवृत्ति की बात कही गई उसी प्रकार "होराधिपति" की बातों भी जाननी चाहिये। जिस कारण दिन से पहिले होराधिपति होता है। इस कारण वारप्रवृत्ति के अनिश्चय होने पर होराधिपति का निश्चय नहीं हो सकता ॥ २८ ॥ और यह देश प्रायः बिना विचार ही जिस दिन जो वार चुनता है उस दिन उस वार की प्रवृत्ति जानता है। अर्थात् आज कीन दिन है, यह परम्परा ही से जाना जाता है, इस में कोई गणित की युक्ति नहीं है जिस से वार ज्ञात किया जाये। अब जो आचार्यो ने जो यह गणित स्फुट तिथि आदि विचार के तुल्य हो वही गणितयुक्त समीचीन कहा है। अर्थात् जिस गणित से ग्रहगण तुल्यता की प्राप्त हो वही गणित समीचीन जानना, दिनपति चाहें जो हो इस में हम को आग्रह नहीं ॥

भास

भूमारे दृष्यहार में अर्थात् शास्त्रों में एवं लोक में चान्द्रमास से दृष्यहार

होता है (विधाय देखना हो तो सूर्यसिद्धान्त अ० १४ देखो) चान्द्रमास दो प्रकार का होता है । एक अमावास्या से दूसरी अमावास्या तक एक । इस को "अमान्त मास" कहते, एवं एक पौर्णमासी से दूसरी पौर्णमासी तक दूसरा । इस को "पूर्णिमान्त" मास कहते हैं । व्यवहार दोनों ही प्रकार के महीनों से होता है, परन्तु मुख्य कर "अमान्त" मास से होता है ॥

चन्द्रमा जो पृथिवी को एक बार पूरा परिधमण कर लेता है, इस में २७ दिन ७ होरा, ४३ मिनट ११-५ सेकेण्ड समय लगता है । यही पूर्णिमान्त मास होता है, एवं एक अमावास्या से दूसरी अमावास्या तक में सामान्यतः २९ दिन १२ होरा १४ मिनट २-८७ सेकेण्ड समय होता है । इसी को अमान्त एवं मुख्य चान्द्रमास कहते हैं ॥ अमान्त और पूर्णिमान्त मास कक्ष से आरम्भ होता है । वह नीचे लिखा जाता है ॥

अमान्त

पूर्णिमान्त

चैत्र

{ शुक्लपक्ष }

चैत्र

{ कृष्णपक्ष }

वैशाख

वैशाख

{ कृष्णपक्ष }

ज्येष्ठ

{ शुक्लपक्ष }

अमान्त एवं पूर्णिमान्त मास होने का प्रमाणः—

अमावास्यया मासान् सम्पाद्या हरत्सृजन्ति । अमावास्यया हि मासान्संपश्यन्ति पौर्णमास्या मासान् सम्पाद्या हरत्सृजन्ति पौर्णमास्यया हि मासान् संपश्यन्ति ॥

(तै० ब्रा० ७ । ५ । ६ । १)

स्पष्ट है । भावा में अर्घ्य करने की आवश्यकता नहीं ॥

अधिक मास

युग के आरम्भ से अमावास्या के अन्त तक एक चान्द्रमास शेष रहता है । इस चान्द्रमास के शेष होने से उस का ५४ दण्ड २९ पल ३१ विपल ५२ अनुपल ३० मत्पनुपल के अनन्तर सूर्य वृषराशि में प्रवेश करता है अर्थात् वर्ष की सन्क्रान्ति में एक सौरमास शेष रहता है । इस लिये सौर मास और चान्द्रमास इन दोनों के अन्तर ५४ दण्ड, २९ पल, ३१ विपल, ५२ अनुपल, ३० मत्पनुपल हो जाता है, उस के अनन्तर मिथुन की सन्क्रान्ति समये

द्विगुण अर्थात् १ दिन ४६ दण्ड, ५५ प०, ३ वि०, ४५ अ० प० बढ़ता है। एवं फकंट सक्रान्ति में तीन शुण और सिंह की सक्रान्ति में चार गुण, इसी प्रकार क्रमशः बढ़ते २ भीन सक्रान्ति में अर्थात् २ वर्ष में दोनों का अन्तर १० दिन ५३ द०, ३० प०, २२ विप०, ३० अ० प० होता है। इसी प्रकार प्रत्येक सौर और चान्द्रमास में एक दिन का वारताम्य होता है। एवं १ वर्ष में प्रायः ११ दिन अधिक होते हैं। अतएव ये दिन सब जगत् क्रमशः ३० दिन पूरे हो जाते हैं तो अधिक मास होता है, इसी को अधिमास कहते हैं। वेदों में भी अधिमास का उल्लेख है ॥

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः । वेदाय उपजायते ॥

(ऋ० सं० १ । २५ । ८)

अर्थात् यह जो काल के विभाग १२ महीने हैं। इन में प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं। एवं इन चारह से अधिक महीना होता है। यानी अधिमास (उपजायते) ॥

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदह्नं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते ।

(अथर्व० १३ । ३ । ८)

अर्थात् जिस परमात्मा ने दिन रात ३० दिन का महीना, १३ महीने (अधिमास गिन कर) रचे हैं ॥

१५ तिथियों का वर्णन वेदों में

अग्नेः पक्षति (परिवा) वांयोर्निपक्षति (द्वितीया)

रिन्द्रस्य तृतीया सोमस्य चतुर्थ्यदित्यै पञ्चमीन्द्रायै

पष्ठौ मरुतां सप्तमी बृहस्पतेरष्टम्यर्यम्णो नवमी धातुर्द-

शमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यमस्य त्रयोदशी ॥

(यजुर्वेद अ० २५ । ४)

आपार्य-पक्षति (परिवा) निपक्षति (द्वितीया) तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, पष्ठौ, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी इन की क्रम से अग्नि, वायु, इन्द्र, सोम, अदिति, इन्द्राणी, मरुत, बृहस्पति, अर्यमा, धाता, इन्द्र, वरुण, यम मन्त्रा हैं ॥

वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में अष्टका, उदष्ट, व्यष्टका तिथियों का भी वर्णन है ॥
तस्य ब्राह्मणस्य । योस्य द्वितीयोऽपानः साष्टका ॥

(अथर्व सं० १५ । १६ । २)

पौर्णमास्यां पूर्वमहर्भवति । व्यष्टकामुत्तरम् अमावा-
स्यायां पूर्वमहर्भवति । उदष्ट उत्तरम् ॥ तै० ब्रा० १।८।१०।२॥

अर्थात् कृष्ण प्रतिपदा से आठवीं तिथि को "व्यष्टका" और शुक्ल की
परिधा से आठवीं तिथि को "उदष्ट" कहते हैं ॥

चन्द्रमा की कला की ह्रास वृद्धि

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः । वायुः सो-
मस्य रक्षिता समाना मास आकृतिः ॥ ऋ० सं० १०।८५।५॥
यमादित्या अंशुमाप्यायन्ति यमक्षितमक्षितयः पिबन्ति ॥

(तै० ब्रा० २ । ४ । १४)

हे चन्द्र ! तुम्हें सूर्य की किरणों (कृष्ण पक्ष में) शोष जाती है । एवं पुनः
कला २ फर बढ़ती है (शुक्ल पक्ष में) ।

नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुपसामेत्यग्रे । भागं
देवेभ्यो विदधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरति दीर्घमायुः ॥

(ऋ० सं० १० । ८५ । १८)

अर्थात्-लिप्त प्रकार सूर्य किरणों से चन्द्रमा की कला प्रतिदिन २ बढ़ती
बढ़ती पूर्णमासी की पूरी होजाती है । इसी प्रकार मेरे ऐश्वर्यों की मेरी
आयुभर बढ़ि करो ॥

तिथि

6905

चन्द्रमा प्रतिदिन राशिचक्र में पश्चिम से पूर्व ओर १३ । १० । ५५ जाता

है और सूर्य ५८ । ८ चलता है । इसी कारण चन्द्रमा प्रतिदिन सूर्य से १२
अंश, ११ कला, ११ विकला करके पूर्व की ओर आगे जाता है । चन्द्रमा की

इस ब्राह्मणिक अग्रगति से एक २ तिथि बनती है। चन्द्रमा की कला (प्रकाश का १६ वां भाग) का वृद्धि का नाम शुक्लपक्ष और ह्रास का नाम कृष्णपक्ष। चन्द्रमा का आकाश के पक्षी भी कहते हैं। इसी कारण इस के दो पक्ष (हुने) लिखे हैं। चन्द्रमा जब सूर्य से १८० अंश या छः राशि अन्तर में होता है तो पूर्णमासी तिथि कहते हैं। एवं पूर्वोक्त रीति से चन्द्रमा जब १८० अंश

से १२, ११, ४३ पूर्व से पश्चिम गमन पूर्वक ९० अंश पहुंचने पर कृष्णाष्टमी तिथि होती है। एवं क्रमशः सूर्य के निकट होने से (एक स्थान में) अमावास्या तिथि होती है। पुनः क्रम २ से चन्द्रमा सूर्य से जैसे २ दूर होता जावेगा वैसे २ चन्द्रकला बढ़ती जावेगी, एवं बढ़ते ५ जब १८० अंश पर आजावेगा तो पूर्णमासी होगी। अब इस के प्रमाण दिये जाते हैं:-

यां पर्यस्तमियादभ्युदियादिति सा तिथिः ॥ ऐ० ब्रा० ३२।१०॥

चन्द्रमा के एक उदय से दूसरे पर्यन्त काल की तिथि संज्ञा है ॥

चन्द्रमा वै पञ्चदशः। एष हि पञ्चदश्यामपक्षीयते ॥

पञ्चदश्यामापूर्यते ॥ (तै० ब्रा० १।५।१०)

आशय यस्तुतः चन्द्रमा एक ही है, पर लोक में व्यवहार होता है कि परिवार का चन्द्र द्वितीया का चन्द्र आदि। यही एक चन्द्रमा कृष्णपक्ष में क्रमशः १५ दिन घटता है। एवं पुनः शुक्लपक्ष में १५ दिन क्रम २ से बढ़ता है ॥

तिथि भाग ७२०

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्त्ति चक्रं परि द्यामृतस्य ।

आपुत्रा अग्ने मिथुनासौ अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च

तस्थुः ॥ ऋ० सं० १।१६४।११ ॥

भावार्थ-एक चक्र (सत्यसर वा राशिचक्र) में १२ महीने वा राशि अवस्थित समाप्त हैं और जिस में सूर्य के पुत्र (सूर्य से उत्पन्न) स्वरूप ३६० जोड़े (अहोरात्र) अर्थात् ३६० तिथि भोग हैं ॥

अमावास्या और पौर्णमासी

तस्य ब्राह्मणस्य । यदादित्यमभिसंविशन्त्यमावास्यां चैव

तत्पौर्णमासी च ॥ तस्य ब्राह्मणस्य ॥१॥ यदस्य दक्षिणम-

क्ष्यसौ स आदित्यो यदस्य संव्यमक्ष्यसौ स चन्द्रमाः ॥

(अथर्व० १५।१३।१८।१०)

भाषार्थः—उस व्रात्य के अङ्गस्वरूप सूर्य और चन्द्रमा जग्न एक स्थान में होते हैं तब अमावास्या होती है ॥ १ ॥ उस व्रात्य की दहिनी आंख स्वरूप और बाईं आंखस्वरूप चन्द्रमा है ॥ पुनः—

चन्द्रमा अमावास्यायामादित्यमनुप्रविशति ।

आदित्याद्वै चन्द्रमा जायते ॥ ऐतरेयब्राह्मणे ४०।५

भाषार्थः—चन्द्रमा अमावास्या को सूर्य के साथ (समसूत्रस्य) होता है और पुनः उस से जलग्न होता है ॥ पुनः—

एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमा स यत्रैष एतां रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्दृशे तदिमं लोकमागच्छति स इहैवापश्चोपधीश्च प्रविशति स वै देवानां वस्वन्नं ह्येषां तदेषां रात्रिमिहामावासति तस्मादमावास्या नाम ॥

(शतपथ ब्राह्मणे १।६।४।५)

भाषार्थः—यह चन्द्रमा जो देवों के अन्न(ओषधि)आदि करने वाला है सो जिस रात्रि में कुछ भी नहीं दीख पड़ता है उस रात्रि की अमावास्या संज्ञा है ॥

पौर्णमासी

सोमावास्यायां रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते ॥ बृहदारण्यके ॥

भाषार्थः—वह चन्द्रमा जिस रात्रि में १६ कलाओं से प्रकाशित होता है सो सब प्राणियों को उपमृद होता है अर्थात् पौर्णमासी को ॥

शुक्र या पूर्वपक्ष और कृष्ण वा अपरपक्ष

पूर्वपक्षं वै देवान्वज्यन्त । अपरपक्षमन्वसुराः ।

ततो देवा अभवन् । परा सुराः ॥ तै० ब्रा० २।२।३।१

अर्थात्—जिस समय उत्तरमेरुनिवासियों को शुक्रपक्ष होता उस समय उस के विरुद्ध दक्षिणमेरुनिवासियों को कृष्णपक्ष होता है ॥

आश्रित्य ताममावास्यां पश्यतः सुसमागतौ ।

अन्योन्यं चन्द्रसूर्यौ तौ यदा तद्दर्श उच्यते ॥

जिस तिथि में चन्द्रमा और सूर्य समसूत्रस्थ होता है उस की अमावास्या या “दर्श” कहते हैं ॥

चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावास्या च पूर्णिमा ।

पर्वाण्येतानि राजेन्द्र ! रविसंक्रान्तिरेव च ॥

चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा, सूर्य की संक्रांति इन का नाम “पर्व” है ॥

या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राका ।

या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहूः ॥

(ऐ० ब्रा० ३२ । १०)

अर्थ—चतुर्दशीयुक्त पौर्णमासी की “अनुमति” एवं परिवायुक्त पौर्णमासी की “राका” कहते हैं। इसी प्रकार चतुर्दशीयुक्त अमावास्या की “सिनीवाली” एवं परिवायुक्त अमावास्या की “कुहू” कहते हैं। इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण में भी लिखा है। ६ । १० ॥

क्षयतिथि

कल्प या युग के आरम्भ में भीम और चान्द्रदिन एक ही समय आरम्भ होता है किन्तु सायनदिन से चान्द्रदिन न्यून होने से सायनदिन के शेष होने के पहिले वह शेष होजाता है अर्थात् उस के परदिवस में सूर्योदय से आगे शेष होजाता है, यही चान्द्र दिन के शेष एवं पर दिवस में सूर्योदय के शेष इन्हीं दोनों के बीच के समय को “अवम” या क्षयतिथि वा तिथि कीहानि आदि कहते हैं। यही अवशिष्टाङ्क प्रतिदिन बढ़ते २ जब ६० दण्ड पूरा होता है तब पूरी एक तिथि की हानि वा क्षयतिथि होती है। इस का भी वेद में उल्लेख है—

द्वौ च ते विंशतिश्रुते राज्येकादशावमाः ॥ अथर्व २१।६।४७।५

अर्थात् १ वर्ष में ११ “अवम” एवं दो वर्ष में २२ इसी प्रकार और जानो। यहां रूपट् ‘अवम’ शब्द तिथि का याचक है। जैसा भास्कराचार्य ने अपने सिद्धान्तशिरोमणि नामक ज्योतिषग्रन्थ में लिखा है ॥

सायन और निरयण

ग्रहगण, निरन्तर राशिचक्र में भ्रमण करते हैं। इस राशिचक्र के

किमी स्थान को आरम्भ नहीं कह सकते, तब सूर्य मार्ग के जो दो स्थानों में सूर्य के आगमन समय दिन रात का परिमाण बराबर होता है और जिन दो स्थानों में अयन शेष होया, उन्हें चारों स्थानों में से किसी स्थान से आरम्भ कहा जा सकता है। किन्तु विपुवरेखा के जिस स्थान में सूर्य के आने से दिनमान वृद्धि और वृक्ष लता आदि का नूतन पल्लवादि उद्गम होते दृश्य हो, उसी स्थान को राशिचक्र का आरम्भ कह सकते हैं। इसी स्थान से सूर्यमार्ग को ३६० अंशों में विभक्त कर उस के प्रथम ३० अंश में, उसके बाद ३० अंश वृष इत्यादि क्रम से १२ राशि कल्पना कर जो लगन स्फुट और यह स्फुट गणना की जावे उस का नाम "सायन" है ॥

ज्योतिष गणना के प्रथम (आरम्भ काल में) आकाशमण्डल के विहित मेष राशि स्थित अश्विनी नक्षत्र के आरम्भ में दिन और रात्रि मान समान स्थिर हुआ था। पीछे क्रम २ से नक्षत्रगण घसकता जाता है। विपुवरेखा से प्रतिवत्सर अश्विनी नक्षत्र जितनी दूर घसक जायेगा, उसी अश्विनी नक्षत्र में सूर्य के आगमन (समय) उसी दिन को वत्सर का पहिला दिन कल्पना कर लगनस्फुट ग्रहस्फुट द्वारा उसी स्थान को राशिचक्र का आरम्भ कह कर जो गणना की जावे, उस को "निरयण" कहते हैं ॥

हमारे ज्योतिषशास्त्र के अनुसार राशिचक्र वा अयन प्रतिवर्ष ५४ विकला प्रतिमास ४ विकला ३० अनुकला और प्रतिदिन ९ अनुकला घसकता है। एवं ६६ वर्ष = मास में राशिचक्र विपुवरेखा से एक अंश करके चला है और इसी प्रकार राशिचक्र विपुवरेखा से चल २ कर समय २ पर उक्त विपुवरेखा के स्थान में मिल जाता है। सम्प्रति सूक्ष्मगणनानुसार लगभग २६०० वर्ष में राशिचक्र का विपुवरेखा पर पूरा एक फेरा होता है और प्रतिवत्सर इस की गति ५०.३ विकला है। वेद में भी "अयन" का उल्लेख है:-

भानुराश्लेपा अयनं मघा मे ॥ अथर्व १९। ७। २ ॥

अर्थात्-आश्लेपा नक्षत्र के अन्त एवं मघा की आदि में "अयन" है ॥

भारतवर्ष में यद्यपि प्रमाण एवं युक्ति से "सायन" मत ठीक है, परन्तु अद्यावधि ज्योतिष के विद्वानों ने इस को स्थिर नहीं किया है और अधिकांश निरयण मत से "पञ्चाङ्ग" बनाते हैं। जिस लिये सायन और निरयण दो पक्ष चल रहे हैं, इस लिये दोनों में कौन सा प्रकृत शास्त्रसम्मत है, इस को हम प्रमाणों से सिद्ध करते हैं:-

यस्मिन्दिने निरंशः स्यात्संस्कृतोर्कोऽयनांशकैः ।

तद्दिनं च महापुण्यं रहस्यं मुनिभिः स्मृतम् ॥

(ज्योतिर्निबन्धे वसिष्ठः)

अयनांशसंस्कृतो भानुर्गौले चरति सर्वदा ।

अमुख्याराशिसंक्रान्तिस्तुल्यः कालविधिस्तयोः ॥

स्नानदानजपश्राद्धव्रतहोमादिकर्मभिः ॥

सुकृतं चलसंक्रान्तावक्ष्यं पुरुषोऽश्नुते ॥ पुलस्त्यस्मृतौ ॥

चलसंस्कृततिग्मांशोः संक्रमो यः स संक्रमः ।

अजागलस्तनइव राशिसंक्रान्तिरुच्यते ॥

पुण्यदां राशिसंक्रान्तिं केचिदाहुर्मनीषिणः ।

नैतन्मम मतं यस्मान्नस्पृशेत् संक्रान्तिकक्षया ॥ वसिष्ठः ॥

संस्कृतायनभागार्कः संक्रान्तिस्त्वयनं किल ।

स्नानदानादिपु श्रेष्ठा मध्यमः स्थानसंक्रमः ॥ सोमसिद्धान्तः ॥

अयनांशसंस्कृतार्कस्य मुख्या संस्कृतिरुच्यते ।

अमुख्या राशिसंक्रान्तिस्तुल्यः कालविधिस्तयोः ॥ ४७ ॥

(रोमशसिद्धान्त स्पष्टाधिकार)

चलसंस्कृततिग्मांशोः संक्रमो यः स संक्रमः । नान्योन्यत्र

च तत्क्षेत्रं नैति तत्क्रान्तिकक्षया ॥ ६२ ॥ शाकल्यसं-

हितावृत्तीयाध्याय सू० सि० अ० १४ श्लोक ७।८।९।१० देखो-

उपरोक्त सब वचनों का यही आशय है कि जिसने वैदिक व शास्त्रीय यज्ञादिक संस्कार हैं, सायन गणनानुसार ही होना उत्तम है, निरयण से नहीं ॥

शास्त्रमाद्यं तदेवेदं यत्पूर्वं ग्राह भास्करः । युगानां परि-

वर्त्तन कालभेदोऽत्र केवलम् ॥ सू० सि० अ० १।६ ॥

इस पर रङ्गनाथ की टीका इस प्रकार है -

कालवशेन ग्रहचारे, किञ्चिद्वैलक्षण्यं भवतीति तत्तदन्तरं

ग्रहचारे प्रसाध्य तत्तत्कालस्थितलोकव्यवहारार्थं शा-
खान्तरमिव कृपालुरुक्तवान् ॥

आशयः—कालयथात् ग्रहोंकी गति में भेद पड़ता है। इस लिये समय २ पर ग्रहों की वेधकर बीज देवे और लोक व्यवहारार्थ तिथ्यादि का निश्चय करे।

अत्र गणितस्कन्धे उपपत्तिमानेवागमः प्रमाणम् ॥

(भास्कराचार्य, गोलबन्धाधिकारः)

अर्थ—इस गणित स्कन्ध में “उपपत्तिमान्” ही शास्त्र प्रमाण है ॥

यस्मिन्देशे यत्र काले येन दृग्गणितैक्यकम् ।

दृश्यते तेन पक्षेण कुर्यात् तिथ्यादिनिर्णयम् ॥

अर्थ—जिस देश में जिस काल में जिस प्रकार दृग्गणितैक्य दीखे, उसी पक्षद्वारा तिथ्यादि का निश्चय करे ॥

“महाराज द्विजराज श्री ५ महीश्वरीप्रसाद नारायणसिंह
बहादुराख्येन श्रीकाशीनरेशेन” आदिष्टः पञ्चाङ्गकरणे
प्रवृत्तोऽहम् । भवति यद्यप्यत्र सायनगणनैव मुख्या तथा-
प्यस्मिन्भारतवर्षे सर्वत्र निरयणगणनाया एव प्रचारात्
सामान्यजनप्रमोदायेदं तिथिपत्रं निरयणगणनयैव
व्यरचयम्”

आशयः—महाराज द्विजराज श्री ५ महीश्वरीप्रसाद नारायणसिंह बहादुर नामक काशी नरेश की आज्ञा से मैं पञ्चाङ्ग बनाने के लिये प्रवृत्त हुवा हूँ। यद्यपि शास्त्रप्रमाण से सायन गणना ही मुख्य है, तथापि इस भारतवर्ष में सर्वत्र निरयणगणना के प्रचार से एवं सामान्यलोगों के प्रसन्न करने के लिये इस तिथिपत्र की निरयण गणना द्वारा मैंने रचा ॥

देखो भूमिका “शतुष्षण्ण” यजुर्वेद का प्रमाण सायनगणनानुसार ऋतुओं और मास का होना ॥

मधुश्च माघवश्च वासन्तिकावृतू ॥ तै० ४ । ४ । ११

आश्वयुजामाश्वयुजीकर्म ॥ १॥ आहिताग्नेराग्रा-

यणस्थालीपाकः ॥ १॥ आश्वलायन गृष्मसू० अ० २ खं० २

मार्गशीर्ष्यां प्रत्यवरोहणं चतुर्दश्याम् ॥१॥ पौर्णमास्यां
वा ॥२॥ हेमन्तं मनसा ध्यायेत् ॥५॥ आश्व० गृ० सू० २।३
अथातो ध्यायोपाकरणम् ॥१॥ ओषधीनां प्रादुर्भावे श्र-
वणेन श्रावणस्य ॥ २ ॥ आश्वलायन गृ० सू० ३।५

इन वचनों का भी यही आशय है कि सायनगणना भ्रम्य है । इसी से
वैदिक ऋषि स्मार्त्तकर्म होने चाहिये ॥

ग्रहण

चन्द्रमा अमावास्या को सूर्य और पृथिवी के मध्यस्थान में प्रवेश करता है
और पृथिवी पूर्णिमा को चन्द्रमा और सूर्य के मध्ययतिनी होती है । पृथिवी
स्वयं निस्तेज एव गोलकाकार है, इस हेतु इस का जो भाग सूर्यरश्मि से प्रका-
शित होता है उस के विपरीत भाग (परली तरफ) में भूच्छाकार (सूँई दी
नोक की सी आकृति) इस भूच्छाया में जब चन्द्रमा प्रवेश करता है तब वह
रुमश मलिन होने लगता है । इसी को "चन्द्रग्रहण" कहते हैं । ऐसी घटना
केवल पूर्णमासी ही को होती है इस कारण पूर्णमासी ही को चन्द्रग्रहण ही
सकना है । चन्द्रमण्डल सूर्य और पृथिवी के मध्यवर्ती होने से सूर्यरश्मि
अवरोद्ध होती है उसी को "सूर्यग्रहण" कहते हैं । सूर्य और चन्द्रमा के संगम-
काल में अर्थात् अमावास्या को जब सूर्य ग्रहण होने की सम्भावना होती
है । यदि चन्द्रकक्षा और भूकक्षा समतल स्थित होती तब प्रति पूर्णमासी
को चन्द्रग्रहण एव प्रति अमावास्या को सूर्यग्रहण होता । क्योंकि उस २ काल
में सूर्य चन्द्रमा और पृथिवी समसूत्र में रहने से चन्द्रद्वारा सूर्यरश्मि आच्छन्न
या भूच्छायाद्वारा चन्द्रविम्ब दीप्तिहीन होता । किन्तु चन्द्रकक्षा और पृ-
थिवी कक्षा समतलस्थ नहीं है । इन दो कक्षाओं के दो बिन्दुमात्र \equiv तिथिगं
भाय में मन्थि होती है । शिव (राहु, केतु) की चन्द्रपात कहते हैं, इसी
पातस्थान में चन्द्रमा जब आता है, चन्द्रमा सूर्य और पृथिवी समतलस्थ
होती है । अतएव पूर्णमासी वा अमावास्या को चन्द्रमा अपने पातस्थ वा
निकटस्थ न होने से चन्द्र या सूर्यग्रहण नहीं होता ॥

चन्द्रग्रहण के नियम

१-पृथिवी की छाया के केन्द्र से चन्द्रविम्ब के केन्द्र तक जो अन्तर है, वह
भूच्छाया और चन्द्रमा के व्यासार्ध के योग से न्यून न होने से ग्रहण नहीं हो सकता ॥

२-चन्द्रमा के केन्द्र से छायाकेन्द्र पर्यन्त जो अन्तर है, वह छाया और चन्द्रमा के व्यासाद्वय योगफल की अपेक्षा न्यून अथवा दोनों समान न होने पर पूर्ण ग्रहण नहीं हो सकता ॥

३-पृथिवी से चन्द्रमा जितनी दूर, भू-छाया उस के प्रायः साढ़ेतीन गुण अधिक दूर विस्तृत एवं इस छाया के जिस प्रदेश में चन्द्रमा प्रवेश करता है उस के परिमर चन्द्रमा के प्रायः तीन गुण । चन्द्रविम्ब जब सम्यक् रूप में छाया में प्रविष्ट होता है, उस समय "पूर्णग्रहण" होता है । और जिन समय उस का एक अंशमात्र छाया में आच्छन्न होना है उस समय "आंशिकग्रहण" होता है ॥

४-एक वर्ष में दो बार भी चन्द्रग्रहण हो सकता है और चन्द्रग्रहण एकवार न हो यह भी सम्भव है । एक वर्ष में पाँच सूर्यग्रहण और दो चन्द्रग्रहण का होना सम्भव है ॥

५-चन्द्रमा अभावस्थिति की १७ । २१ पातस्थान में निकटवर्ती होने पर सूर्य-

ग्रहण, एवं पूर्णमासी की ११ । ३४ निकट होने पर चन्द्रग्रहण हो सकता है ॥

६-चन्द्रपात यदि स्थिर रहता तो प्रतिवत्सर एक ही समय ग्रहण होता किन्तु यह पात पूर्व से पश्चिम की सूर्य की प्रायः १८ वर्ष २२८ दिन और ६ होरा में एक बार प्रदक्षिण करता है । इसी कारण इतने समय के अन्त में चन्द्रपात अपने स्थान में प्रत्यागत होता है । कुतरां प्रति १८ वर्ष २२८ दिन ७ होरा में चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण प्रायः समानरूप से होते हैं ॥

हमारे यक्षुत से फलितज्योतिषी और पौराणिकों का यह निश्चय है कि जब २ पृथिवी पर अधिक पाप होता है तब २ ग्रहण अधिक होता है । यह उन की भ्रान्तिमात्र है ।

सूर्यग्रहण के नियम

चन्द्रमा द्वारा सूर्य की किरणें अवरुद्ध होने से सूर्यग्रहण होता है । चन्द्रमा यद्यपि वस्तुतः सूर्य की अपेक्षा छोटा है, परन्तु दूरता में वह सूर्य की अपेक्षा पृथिवी के निकटस्थ होने से उस का भी विम्ब के समान देख पड़ता है । सौरग्रहण तीन प्रकार के हैं:-आंशिक, माध्य, एवं सर्वप्रायः ॥

१-सूर्य और चन्द्रमा का दृश्यमान व्यासाद्वय योगफल यदि सूर्य के केन्द्र से चन्द्रमा के केन्द्र की अपेक्षा न्यून होता है तो ग्रहण सम्भाव होगा ॥

- २-सूर्य के दृश्यमान ठषासाहं से चन्द्रमा का दृश्यमान ठषासाहं अन्तर करने पर यदि वह सूर्यकेकेन्द्र से दूरता अपेक्षा न्यून हो तो "माध्यम" होगा ॥
 ३-सूर्य का दृश्यमान ठषासाहं चन्द्रमाके दृश्यमान ठषासाहं से अन्तर करने पर यदि वह सूर्य के केन्द्र से दूरता अपेक्षा न्यून हो तो "सर्वग्रास" ग्रहण होगा ॥
 ४-सूर्यग्रहण कहीं न कहीं प्रतिदिन होता है परन्तु स्थान विशेष से वह ग्रहण कहीं दीखता है कहीं नहीं दीखता । इस का प्रमाण आगे दिया जावेगा ॥

ग्रहणविषयक वैदिक प्रमाण—

यत्त्रा सूर्य स्वर्भानुरतमसा विध्यदासुरः । अक्षेत्रविद्य-
 या सुग्धो भुवनान्यदोधयुः ॥५॥ स्वर्भानोरध यदिन्द्र मा-
 याऽवोदिवो वत्तमाना अवाहन् । गूढं सूर्यं तमसापव्रतेन
 तुरीयेण ब्रह्मणाऽविन्ददत्रिः ॥ ६॥ मा मामिमं तव सं-
 तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा निगारीत् । त्वं मित्रोअसि
 सत्पराधास्ती मेहावतं वरुणश्च राजा ॥ ७ ॥ ग्राव्णो
 ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्ममसोपशिक्षन् ।
 अत्रिः सूर्यंय दिवि चक्षुराधात्स्वर्भानोरप माया अधु-
 क्षत् ॥८॥ यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः । अत्र
 यस्तमन्वविन्दन्नह्यऽन्ये अशक्नुवन् ॥ ९ ॥

(ऋग्वेदे ५ । ४० । ५-९ ॥)

पुनः—

उज्जापतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम् ।
 पश्याम त्या सवितारं यमाहुरजस्रज्योतिर्यदविन्ददत्रिः ॥
 (अथर्ववेदे ११ । २ । २ । ३६) पुनः—

स्वर्भानुर्ह वाऽआसुरः । सूर्यं तमसा विव्याध स तमसा
 विद्धो न व्यरोचत—तस्य सीमरुद्रावेवैतत्तमोऽपाहतां स
 एषोऽपहतपाप्मा तपति ॥ शतपथब्राह्मणे ५ । ३।२ । २

पुनः—

स्वर्भानुर्वाआसुरः सूर्यं तमसा विध्यत्तदत्रिरपनुनोद
तदत्रिरन्वपश्यत् ॥ गोपथब्राह्मणे ३० ३ । १९

पुनः—

स्वर्भानुर्वा आसुरः आदित्यन्तमसाऽविध्यत्तंदेवाः स्वर-
सामानो भवन्त्यादित्यस्य स्पृत्त्यैः॥ताण्ड्यब्राह्मणे ४ । ५।२

पुनः—

स्वर्भानुर्वाआसुर आदित्यन्तमसा विध्यत्तं देवा न
व्यजानंस्तोऽत्रिमुपाधावंस्तस्यात्रिर्भासेन तमाऽपाहन्यत्।
*प्रथममपाहन् सा कृष्णाविरभवद्ददृद्वितीयं सा रजता
यत्तृतीयं सा लोहिती यथा वर्णमभ्यवृणत्सा शुक्लासीत् ॥

(ताण्ड्यब्राह्मण ६ । ६ । ८) पुनः—

स्वर्भानुर्वा आसुर आदित्यं तमसा विध्यत् स न व्यरो-
चत्तस्यात्रिर्भासेन तमोऽपाहन्स व्यरोचत यदेतदभा अभ-
वत्तद्वासस्य भासत्वम् ॥ ताण्ड्यब्राह्मणे १४ । ११ । १४ ॥

पुनः—

यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः । अत्रयस्तमन्व-
विन्दन्नहान्ये अश्राकुवन् । आश्रलायन शाखा अष्टक ४

पूर्वोक्त ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं ब्राह्मणग्रन्थों के ग्रहणविषयक मन्त्र और
व्याख्यान का एक ही आशय है । इस लिये प्रत्येक प्रमाण का भिन्न २ अर्थ
न करके एकत्र आशयमात्र लिखा गया है:-

आशयः—हे सूर्य । चन्द्रमा ने जो तुझे अन्धकार से घेर लिया है इस
से सब लोग अपने २ स्थान न जानकर भुग्ध हो रहे हैं ॥५॥ दुलोक में तेरा
प्रकाश है उस को चन्द्रमा ने आच्छादक होकर अन्धकार से तेरे रूप को एक

*विवरण—इस में ग्रहण के रङ्ग का वर्णन है । कृष्ण, चांदी का रङ्ग, लाल
वर्ण और शुक्ल ये चार प्रकार के होते हैं । देखो सू० चि० ग्रहणाध्याय ॥

मात्र लिखा दिया है। इस बात को पूर्णविचार करने पर ज्ञान द्वारा जाना जाता है ॥६॥ हे सूर्य ! तेरा नाम मित्र एव वरुण अनेक स्थानों में लिखा गया है। ऐसे अनेक विशेषण होने पर भी इंद्रोप नियम के बद्ध हो तुझे अन्धकार निगल गया (सर्वग्रहग्रहण का उपलक्षण है) ॥ ७ ॥ भानो प्रह्ला ने मेघ की नाईं तुम्हारे लिये चन्द्रमा का आच्छादक अपण किया है। उन्मीलनकाल में ध्रुवाक्ष में पुनः प्रकाश होने लगा ॥ ८ ॥ जिस सूर्य को चन्द्रमा (स्वर्भानु) ने आच्छादित कर लिया था, उसकी केवल ज्ञानी लोग (ज्योतिषविद्यावित्) जानते, दूसरे नहीं जान सकते ॥ ९ ॥

ग्रहण—मेघ । अत्रि=मात्र । स्वर्भानु=चन्द्रमा । आश्र=अन्धकार । अन्वविन्दत्=जाना ॥

वेदादि सत्यशास्त्रों में ग्रहण का कारण न तो राहु नामक दैत्य लिखा है और न उस समय स्नान दान एव आहुतिदि कुछ कर्तव्य ही लिखा है। जो उपरोक्त प्रमाणों से सिद्ध है ॥

सूर्येन्दुभगणधात्री संस्थानविदोऽधिकृत्य कथयामि ।

ग्रहण सदैव भानो. स्थानविशेषात् क्वचिद्दृश्यम् ॥१॥

अविदितसंस्थानानां बोधोऽपि हि जायते यथाधान्यम् ।

क्षीरं शङ्खोपहितं दशनविनाशक्षमं भवति ॥ २ ॥

संक्षेपसूत्रवशतः शशिना ध्रियते दिवाकरो येषाम् ।

तेषां सूर्यग्रहणं स च देशं प्रतिदिनं क्वापि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—सूर्य चन्द्रमा नक्षत्रगण एव पृथिवी की संस्था जानने वाले के मत के अवलम्बन से मैं कुछ ग्रहण की विशेषता कहता हूँ। सूर्यग्रहण सदैव कहीं न कहीं प्रतिदिन होता है, परन्तु स्थान विशेष से वह ग्रहण कहीं न कहीं पड़ता, कहीं नहीं दीखता। अर्थात् सर्वत्र नहीं दीखता। यह बात गणित द्वारा जानी जाती है। जिस प्रकार मात, दूध की शर में रग कर खाने से दातो का नाश होता है यह ओषधि दल से जाना जाता है। उसी प्रकार गणितद्वारा अविदित संस्थान का ज्ञान होता है। जिस देश में दृष्टिरेखा के वश से चन्द्रमा द्वारा सूर्य आच्छन्न होता है उस देश में सूर्यग्रहण होता है। यह घटना प्रतिदिन कहीं न कहीं अवश्य होती है। १। २। ३ ॥

इसी प्रकार जिस समय पृथिवी पर सूर्यग्रहण होता है, उस समय चन्द्रलोक में पृथिवीग्रहण हो जाता है। क्योंकि जिस प्रकार सूर्यरश्मि द्वारा

चन्द्रमण्डल दीप्तिमान् होता है, इसी प्रकार पृथिवी भी सूर्य के आलोक से आलोकमय हो जाती है, इस कारण जब चन्द्रमा पृथिवी और सूर्य के मध्य स्थान में पूर्वोक्त प्रकार समावेशित होता है, उस समय चन्द्रमण्डल द्वारा सूर्य किरण अपवारित हो भूमण्डल अन्धकारमय होकर चन्द्रलोक में अदृश्य होता है, उसी को पृथिवीग्रहण कहते हैं ॥

पुनः-ब्रह्महिमिराचार्य ने लिखा है कि-

नीचस्थोऽस्माकमंशुमान्भवति । चन्द्रः परमोज्ज्वलोद्य-
नवहृभानोर्भवति हेतुः ॥ ७ ॥ अस्माकमुदयसमये येषा-
मलपास्तगोदिवसनाथः । मध्याह्ने वा येषां तेषामपि
न युगपदग्रहणम् ॥ ८ ॥ तदतीतमुदयगानां क्षणद्वये नै-
ष्यदृस्तकेशानाम् । मध्याह्नदेशगानामनवरतं वर्तमानेन
॥ ९ ॥ उक्तश्च संहितायां मया प्रपञ्चोऽस्य राहुचारादौ ।
ग्रहणस्य यन्निमित्तं विनैव राहुं रविहिमांश्चोः ॥ १० ॥

भाषार्थ-हमारे उदयकाल या अस्तकाल में अर्थात् सम्पूर्ण दिन में सूर्य दूरस्थ और चन्द्रमा निकटस्थ रहता है। इसी कारण सूर्यग्रहण में चन्द्रमा सूर्य की नाईं सूर्य की ढक लेता है। जिस से हम उस को उतने समय तक नहीं देखते। हमारे उदय समय में जिन देशों में सूर्य अस्ताप्राय होता, उसी समय जिन देशों में मध्याह्न होता है उन देशों में एक ही काल में ग्रहण दृश्य नहीं होता। लम्बन और अवनति मीद से सूर्य के अदृश्य होने के कारण ॥

जिस कारण वर्तमान एक ही दिन में कभी उदय देशों से मनुष्यों को ग्रहण उपतीत होवे, उस के अनन्तर दो सप्ताह में निरन्तर अस्त देशों में ग्रहण भावी हावे और मध्याह्न देशों में दो सप्ताह निरन्तर ग्रहण रहना चाहिये ॥

सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण में राहु कांड कर जो अन्यान्य वास्तविक कारण है, उन्हें भी स्वर्णित संहिता में कहा है ॥

नित्यमधस्थस्येन्दोर्भाभिर्मानोः सितं भवत्यर्द्धम् ।

स्वच्छाययान्यदसितं कुम्भस्येवातपस्यस्य ॥ १ ॥

सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशम् ।
क्षपयन्ति दर्पणोदरविहिता इव मन्दिरस्यान्तः ॥ २ ॥

(वृहत्संहितायाम्)

भाषार्थ-धूप में रखे हुए घट के तुल्य चन्द्रमा का आधा भाग सूर्य की किरणों से प्रकाशित हो जाता है और दूसरा आधा अपनी छाया से अन्धकार में रहता है । सूर्य की किरणें चन्द्रमा पर पड़कर प्रतिबिम्बित होकर लौट आती हैं और रात्रि के अन्धकार का नाश करती हैं । जैसे धूप में रखे हुवे दर्पण पर सूर्य की किरणें पड़ कर मन्दिर के भीतर चली जाती हैं॥ पुनः-

भूच्छायां स्वग्रहणे भास्करमकग्रहे प्रविशतीन्दुः ।

प्रग्रहणमतः पश्चात्तेन्दोर्भानोश्च पूर्वार्धात् ॥

(वृहत्संहितायाम् अ० ५)

भाषार्थ-चन्द्रमा अपने ग्रहण में भूमि की छाया में और सूर्यग्रहण में सूर्य और पृथिवी के मध्य में आजाता है, इस कारण ग्रहण होता है । पुनः-

एवमुपरागकारणमुक्तमिदं दिव्यदृग्भिराचार्यैः ।

राहुरकारणमस्मिन्नित्युक्तः शास्त्रसद्भावः ॥

(वृहत्संहितायाम् अ० ५)

भाषार्थ-यह दिव्यदर्शी आचार्यों ने सत्यशास्त्रों के अनुकूल ग्रहण का कारण कहा है । इस में राहु कारण नहीं है॥ पुनः आर्यभट्ट ने लिखा है कि:-

चन्द्रो जलमर्कोऽग्निर्मृद्भूच्छायापि या तमस्तद्धि ।

छादयति शशी सूर्यं शशिनं च महती भूच्छाया ॥

(आर्यसिद्धान्ते गोलपादे ३७)

अर्थ-जलमय चन्द्रमा अग्निस्वरूप सूर्य को ग्रहणकाल में ढक लेता है और भूतिकाभय पृथिवी जिस की बड़ी छाया चन्द्रग्रहण काल में चन्द्रमा को ढक लेती है, राहु नहीं ॥ इसी प्रकार भास्कराचार्य ने भी लिखा है कि:-

पूर्वाभिमुखो गच्छन् कुच्छायान्तर्यतः शशी विशति ।

तेन प्राक्प्रग्रहणं पश्चान्मोक्षोऽस्य निस्सरतः ॥

(सिद्धान्तशिरोमणी)

सापार्थ-जब चन्द्रमा पूर्व की ओर की जाता हुआ भूमि की छाया में चला जाता है, तब ग्रहण पड़ता है और जब छाया से निकलता है, तब मोक्ष या उपग्रह होता है ॥ ग्रहलाघवकार ने भी यही कारण लिखा है:-

छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभाः ॥

सापार्थ-चन्द्रग्रहण में भूमि की छाया चन्द्रमा की ओर सूर्यग्रहण में चन्द्रमा सूर्य को ढक लेता है। इसी प्रकार आदि कबिबाल्मीकि ने भी लिखा है:-

अभ्यधावत काकुत्स्थं स्वर्मानुरिव भास्करम् ॥

(बाल्मीकीपरामाण्य युद्धकाण्ड सर्ग १०२ । ३)

सापार्थ-जिस प्रकार चन्द्रमा (स्वर्मानु) ग्रहणकाल में सूर्य को आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार रावण श्री रामचन्द्र जी महाराज की ओर धावा करता है ॥



युक्ति एवं वेदादि सत्यशास्त्रों के विरुद्ध ग्रहण में हेतु कल्पना

१-पुराणों में ग्रहण का विलक्षण कारण लिखा है। जिस समय विष्णु जी मोहनी का रूप धारण करते थे, राहु नामक एक राक्षस देव वेप बनावकर उस की पकड़ में आ बैठा। जब विष्णु भगवान् ने उस को अक्षत दिया, वह उस को उसी समय पी गया। परन्तु सूर्य और चन्द्रमा ने उस की चुगली खा दी कि यह देवता नहीं है, राक्षस है। इस पर विष्णु ने क्रोध कर ब्रह्म से राहु का शिर काट डाला, परन्तु वह अक्षत भी चुका था, इस छिये त भरा। इस कारण से वह सूर्य एवं चन्द्रमा को जहाँ जाता है वहीं ग्रस लेता है। परन्तु वह उस की गरदन के छेद में होकर निकल जाता है। यद्यपि यह छेद महाभारतादि में भी समुद्रमन्थन प्रसङ्ग में आया है और उसी के अनुसार आलङ्कारिक वर्णन से इस का आशय भी ज्योतिषशास्त्र के अनुकूल ही है। परन्तु इस आलङ्कारिक छेद को त भ्रमभ्रम कर लोक में ऐतिहासिक घटना मान कर अन्धपरम्परा चल रही है। इस इस विषय का "पुराण सीमांसा" नामक पुस्तक में लिखेंगे ॥

इस अन्धपरम्परा का कारण कलितज्योतिष एवं पुराण (वस्तुतः नवीन) ग्रन्थ हैं। इसी के अनुसार आधुनिक धर्मशास्त्रों में भी लिखा है कि यही बाबाल राहु गगनगामी चन्द्रमा और सूर्य को ग्रस करता है, इस कारण

पृथिवीस्य मनुष्यों की भी अशौच होता है। ग्रहणरम्भकाल में मरने का अशौच एवं मोक्ष काल में जन्माशौच करना चाहिये। इसलिये स्नान द्यतिरिक्त शुद्धि नहीं होती। उस के अतिरिक्त ग्रहण काल में राहु के वर्ण अनुसार भूमण्डल में अनेक प्रकारकी शुभाशुभ घटना होती हैं। देखो मत्स्य पुराण अ० ६७ ॥

भारतवर्ष की छोड़ अन्यान्य देशों में ग्रहणकाल में पोपलीला

ग्रहण की उत्पत्ति विषय में अनेक अप्रकृत और धर्ममूलक मत हैं, उस के प्रभाव से अनेक लोगों के चित्त में ग्रहण घटित नामा प्रकार की आशङ्कायें होती हैं। किसी अमाधारक कारण द्वारा इस की घटना होती है, एवं इस के द्वारा चन्द्रमा या सूर्य या पृथिवी की अपङ्गल होता है। अनेक जातिपों में इस प्रकार विश्वास पहिले था और कहीं-२ अब भी है ॥

२-पूर्वकाल में रोम नगर में लोग चन्द्रग्रहण काल में चन्द्रमा को यातना-यस्त समझ कर उस के क्लेशशान्त्यर्थं पिस्तल धन्य बजाया करते थे। एवं ऊँचे स्वर से कोलाहल किया करते थे। उन में बहुतों को ऐसा विश्वास था कि कुहक जीवी लोग चन्द्रमा को आकाश से गिरा कर "दूवांक्षेत्र" में बराया, या एव उन्हीं लोगों के कुहक द्वारा चन्द्रग्रहण होता है। इस देश में ऐसा नियम था कि कोई व्यक्ति ग्रहण के वास्तविक कारण को प्रकाश रूप से आलोचना न करे ॥

३-चीन देश में चीनियों को ऐसा विश्वास है कि भयङ्कर सर्प सद्य चन्द्रमा और सूर्य को घास करते हैं, इसी कारण उन का ग्रहण होता है। ग्रहण समय में घासकारी सर्प को ताड़ना के लिये चीनी लोग दण्डका बजाया करते हैं ॥

४-अमेरिका खण्ड के अन्ते-पाती मेक्सिको देशीय लोग ग्रहणकाल में उपवास (खाते नहीं) करते हैं। उन का यह विश्वास है कि चन्द्रमा एवं सूर्य में आपस में विवाद हुआ है और चन्द्रमा को सूर्य ने मारा है। इसी निमित्त वे लोग विशेषतः उन की स्त्रियां आपस में एक दूसरे को कटुवचन आदि व्यवहार कर एवं यादू और अन्यान्य अङ्ग प्रहार द्वारा शरीर से रुधिर बाहर करती हैं, इस विचार से कि जिस प्रकार चन्द्रमा और सूर्य संप्राप्त में लड़कर आपस में एक दूसरे को क्लेशित करता है, इन लोगों को भी उन के दुःख में सहानुभूति प्रकट करनी चाहिये ॥

५-पूरुष खण्ड में विद्यो के मंत्राव से इस समय पूर्वोक्त प्रकार के अनेक

भ्रमसूलक संस्कार लुप्तप्राय हो गये और अन्यान्य स्थानों में भी प्रकृत (अ-
सली) ज्योतिष सम्प्रदाय रूप से प्रचलित हुआ। हे जगदीश्वर ! हमारे देश से
यह सायन फलित विद्या कब जावेगी। भगवन् ! सिद्धान्त ज्योतिषरूप सूर्य
प्रकाशित कर फलितरूपी तिमिर का शीघ्र नाश करो ॥

पञ्चाङ्ग

किसी ज्योतिषी का वचन है कि जिस प्रकार हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल
इस चार प्रकार की सेना (बल) से राजा पृथिवी को जीतकर अपने वश में कर
लेता है। इसी प्रकार मैं भी पञ्चाङ्गरूपी बल से आकाश को वश में करलेता हूँ॥

चतुरङ्गदली राजा जगती वशमानयेत् ।

अहं पञ्चाङ्गबलधानाकार्शं वशमानये ॥

अर्थात् १ तिथि, २ वार, ३ नक्षत्र, ४ योग, ५ करण ये पांच अङ्ग हैं।
प्राचीन समय में 'वार' और 'योग' पञ्चाङ्ग के अङ्ग नहीं थे और ऐसा भी
न था कि इस में पांचों अङ्ग हों। तिथि, करण और माघनदिन (वार) एक
ही अङ्ग में थे और योग का तो एकमात्र प्रचार ही नहीं था, क्योंकि
सिद्धान्तज्योतिष में (आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त ने भी इस का गणित प्रकार
नहीं लिखा है) इस का गणित प्रकार लिखा है और न प्राचीनग्रन्थों में वार,
योग, करण शब्द से किसी यज्ञादि का विधान पाया जाता है। भारतवर्ष में प्रायः
सब ही शीत एवं स्वार्थ कर्म करने में प्रतिदिन आर्यमात्र को पञ्चाङ्ग व तिथि
पत्र की आवश्यकता पड़ती है। तदनुसार प्राचीनकाल से इस तिथिपत्र या
पञ्चाङ्ग का प्रचार चला आता है, परन्तु पहिले वैदोत्तरकालीन पञ्चाङ्ग भारतवर्ष
भर के लिये एक ही बनता था और पाचवर्ष का पक्षरङ्ग एकवार घनता था और
उसी का प्रचार आर्यों में था। आपस में खिंचाता नहीं थी, जैसी कि भ्रम है॥

पाचु सवत्सरो के नाम एवं प्रमाण -

संवत्सरोसि परिवत्सरोसि इदावत्सरोसि इद्वत्सरोसि
(तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१०।४)

अर्थात् १ सवत्सर, २ परिवत्सर, ३ इदावत्सर ४ वत्सर, ५ इद्वत्सर ये
पांच वत्सर हैं। और महाभारत में भीष्मजी ने दुर्योधन से कहा है -

तेषां कालातिरेकेण ज्योतिषां च व्यतिक्रमात् ।

पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासावुपजायतः ॥ ३ ॥

एषाम्यधिका मासाः पञ्च च द्वादशक्षपाः ।

त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्तते मतिः ॥ ४ ॥

(महाभारते विराट्पर्वणि अ० ५२ श्लोक)

अर्थात् राजा विराट् के गोहरण के पीछे कौरव पाण्डवों की युद्ध तैयारी के समय प्रथम इस बात का निश्चय किया गया कि पाण्डवों के १२ वर्ष वनवास के पूरे हुये या नहीं ? यहाँ की गति से प्रत्येक पाँच वर्ष पर दो दो महीने अधिक होते हैं । इस हिसाब से वनवास के १२ वर्ष, ५ महीने, १२ दिन हुये । अर्थात् मेरी समझ में ११ वां वर्ष बीत रहा है । इस लिये पाण्डवों के प्रकट होने में (प्रच्छन्न से) कोई सन्देह नहीं है ॥ अब तो पाँच वर्ष के पञ्चाङ्ग का प्रचार एकमात्र उठगया और भारतवर्ष के भिन्न २ प्रदेशों में भिन्न २ प्रकार पञ्चाङ्ग एक दूसरे से विरुद्ध बनने लगे । केवल घटी, पल, रूप्यपल आदि का भेद हो सो नहीं, दिन, लग्न, तिथि, एवं पञ्चाङ्ग बनाने के ग्रन्थ भी भिन्न २ कल्पित करलिये । एवं सायनपञ्चाङ्ग जो शास्त्रानुसार था, उस के स्थान में निरयणपञ्चाङ्ग बनने लगा । इस समय तीन पक्ष के ग्रन्थ एवं इन्हीं तीनों पक्षों के अनुसार पञ्चाङ्ग भी बनते हैं:- १ सौर, २ ब्राह्म, ३ आर्य हैं ॥

सौर वा सूर्यसिद्धान्त के अनुसार नकरन्द विवरण तत्त्वविवेक आदि । ब्रह्मसिद्धान्त के अनुसार करणप्रकाशादि और आर्यसिद्धान्तानुसार यहलाघव और करणकुतूहलादि हैं । इन्हीं तीनों पक्षों के ग्रन्थ आपस में खिंचा-तानी एवं तिथि आदि के निश्चय में भगड़ा डालते हैं और एक २ ब्रह्मादि दो दो दिन किये जाते हैं । ये सब भगड़े कलितज्योतिष के प्रचार से हो रहे हैं ॥

संवत् शक आदि

भारतवर्ष में प्रत्येक श्रौत एवं स्मार्त कर्म के सकल्प में और पञ्चाङ्ग या लौकिकव्यवहार में सृष्टिसंवत् का व्यवहार होता था, जिस का वर्णन सूर्यसि० अ० १ अहर्गणानयन में किया गया है । अब इस का प्रचार उठगया और निम्नलिखित संवत् का प्रचार भिन्न २ प्रदेशों में भिन्न २ रीति से होता है:-
१-कलिकाठ-बैत्रादि और मेवादि दोनों ही का प्रचार है । पञ्चाङ्ग में कहीं गत कल्पब्द कहीं वर्तमान कल्पब्द लिखते हैं । शक वर्ष में ३१७८ मिलाने से गत कलिर्बर्ष होते हैं ॥

२-सप्तमिकाल-इस को लौकिककाल भी कहते हैं। अर्थात् सप्तपिंशत् १०० वर्ष में राशिचक्र के एक नक्षत्र से चलकर दूसरे नक्षत्र में जाते हैं और २७ नक्षत्रों को २७०० वर्ष में एकवार भ्रमण करते हैं। परन्तु प्रचार केवल प्रत्येक वर्ष में एक २ वर्ष बढ़ाते जाने का है। एव १८० वर्ष पूरा होने पर पहिला, दूसरा, तीसरा, इस क्रम से बढ़ाते जाने का है। ज्योतिषशास्त्रानुसार वर्त्तमान कलियुग २७ चैत्रशुक्ल १ दिवस सप्तपिंशत् का आरम्भ हुआ। वर्ष चैत्रादि और वर्त्तमान है। एवं महीना पूर्णिमान्त होता है ॥

३-विक्रमकाल-वर्ष चैत्रादि और कार्तिकादि और महीना अमान्त और पूर्णिमान्त दोनों होते हैं। शकवर्ष में १३४ मिलाने से कार्तिकादि विक्रम वर्ष और १३५ मिलाने से चैत्रादि विक्रम सवत् होगा ॥

४-ईसवी सन्, ख्रिस्तीसन्, अंग्रेजीराज्य समय से इस देश में इस का प्रचार है। वर्ष सायन और सौर होता है और १ जनवरी से वर्ष आरम्भ होता है। इस समय जनवरी का आरम्भ अमान्त पीप या माघ में होता है। शक वर्ष में ७८ ७९ मिलाने से ईसवी सन् होता है ॥

५-शककाल-ज्यातिष के कारण ग्रन्थों में इस वर्ष से अधिक काम लेते हैं। इस का वर्ष चान्द्र और सौर होता है। चान्द्रवर्ष चैत्रादि और सौरवर्ष मैघादि होता है और महीना अमान्त, एवं पूर्णिमान्त होता है ॥

६-बेदिकाल, या कलधुरियाकाल-इस का इन दिनों प्रचार नहीं। विक्रम चैत्रादि सवत् ३०५, शक १७०, ईसवी सन् २४८, २४९ आश्विनशुक्ल प्रतिपदा इस बेदिकाल का आरम्भ होता है। इस का वर्ष आश्विनादि और महीना पूर्णिमान्त एवं अमान्त होता है। इस में १६८ १७० मिलाने से शकवर्ष और २४७ २४८ मिलाने से ईसवी सन् होगा ॥

७-गुरुकाल-इस का इस समय प्रचार नहीं। वर्ष चैत्रादि और माघ पूर्णिमान्त होता है। शकवर्ष २४२ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को इस वर्ष का आरम्भ हुआ। इस में २४१ मिलाने से शकवर्ष होगा और ३१८ ३२० मिलाने से ईसवी सन् होगा ॥

८-हिजरी सन् का मूल स्थान अरब देश है। मुसलमानों की अमलदारी से इस देश में इस का प्रचार हुआ। हिजरा मुसलमानों का पैगम्बर मुहम्मद, ईसवी सन् ६२२ ता० १५ जुलाई शक ५४४ आषण शुक्ल गुरुवार को रात्रि को (मुसलमानों की शुकवार की रात्रि) मक्का होकर मदीना गये थे। इस से इस सन् का नाम 'हिजरी' हुआ। इस का महीना मोहररम् इत्यादि चान्द्र

है और अधिकमास इस में नहीं जोड़ा जाता। इस लिये वर्ष केवल ३५४ या ३५५ दिन का होता है और इस के अनुसार ३२ या ३३ सौर वर्ष में इस मनु के वर्ष का एक अङ्ग सौर वर्ष की अपेक्षा बढ़ जाता है। शुक्ला प्रतिपदा या द्वितीया तिथि से चन्द्रमा को देखने पर इस का महीना आरम्भ होता है। महीना का एक दिन, दूसरा दिन आदि कहने की पहिला चन्द्र, दूसरा चन्द्र इस प्रकार है (चान्द्रदिन या तारीख)। महीना में २९ या ३० दिन होते हैं। चार और तारीख का आरम्भ मूर्यास्त समय से होता है। इस कारण हमारे शुक्रवार की रात्रि मुसलमानों की शुक्रवार की रात्रि होती है ॥

९-यङ्गाली सन्-इस का प्रचार यङ्गाल प्रान्त में है। इस का वर्ष सौर एय मेय की सक्रान्ति से आरम्भ होता है। महीना का नाम चैत्र, वैशाख आदि चान्द्र होता है। मेय सक्रान्ति से महीने का आरम्भ होता है, जिस को वैशाख कहते, उस की तारीख प्रान्तवाले चैत्र कहते हैं। यङ्गाली सन् १०३० तक वर्ष १८१५ ई० सन् १८९१-९४ यङ्गाली सन् में ५१५ मिलाने से शकवर्ष निकलता है। ५९३, ५९४ मिलाने से ईसवी सन् होता है ॥

१०-विलायती सन् यङ्गाल के किसी भाग में मुख्यत ओरियाप्रान्त में प्रचरित है। इस का वर्ष सौर परन्तु महीना चान्द्र होता है। वर्ष का आरम्भ कन्यासक्रान्ति के दिन से होता और महीने का आरम्भ यङ्गालियो में सक्रान्ति के दूसरे या तीसरे दिन से होता। परन्तु विलायती सन् के महीने का आरम्भ सक्रान्ति के दिन से होता है। विलायती वर्ष में ५१४। १५ मिलाने से शकवर्ष होता और ५९२। ९३ मिलाने से ईसवी सन् होगा ॥

११-अमली सन्-"ओरिया" प्रान्त के राजा इन्द्रद्युम्न की जन्मतिथि अर्थात् भाद्रपद शुक्ल १२ से यह वर्ष आरम्भ होता है और सक्रमणकालीन महीना आरम्भ होता है। इस का महीना सौर, परन्तु वर्ष चान्द्र सौर होता है। कन्यासक्रान्ति भाद्रपद महीने में द्वादशी के पहिले या पीछे आरम्भ हुआ है ॥

१२-फसलीसन् को अकबर बादशाह ने चलाया था। प्रथम हिजरी सन् का वर्षाङ्क इस की बराबर चलता था, परन्तु हिजरी वर्ष केवल चान्द्र (३५४ दिन का) होता है और फसली सौर होता है। इसी से इस वर्ष से एक वर्ष का अन्तर पड़ता है। दक्षिण में जिस फसली सन् का प्रचार है, उस में

- ५१२ । ५१३ मिलाने से शक वर्ष होगा और ५९०-९१ मिलाने से ईसवी सन् होगा । और यज्ञालियों के फसली सन् में ५१४-५१५ मिलाने से शक वर्ष होता है एवं ५९२ । ९३ मिलाने से ईसवी सन् होता है ॥
- १३-सूर सन् या शाहुर सन्-इन को कभी २ " वरवी सन् " भी कहते हैं, ईसवी सन् १३४४ हिजरी ७४३ में यह वर्ष (सूर सन्) आरम्भ हुआ । सूर सन् के वर्ष में ५२९ । २२ मिलाने से शक वर्ष होगा और ५९९ । ६०० मिलाने से ईसवी सन् होगा ॥
- १४-हर्ष काल-कन्नौजदेश के राजा हर्षवर्द्धन ने इस काल को चलाया था । वैष्णवी के समय से मथुरा और कन्नौज-इन प्रान्तों से आरम्भ हुआ था परन्तु अब इस का प्रचार नहीं है । इस वर्ष में ५२८ मिलाने से शक वर्ष होगा और ६०६ । ६०७ मिलाने से-ईसवी सन् होगा ॥
- १५-मगी सन्-चटगांव प्रान्त में चलता है-इस में और यज्ञाली सन् में ४५ वर्ष का अन्तर है शेष सब अंशों में बराबर है ॥
- १६-कोज्जम काल-'परशुराम काल' यह काल जलवार प्रान्त में 'मंगलोर' से कुमारी पर्यन्त और तीने घेली से आरम्भ हुआ । इस का वर्ष मीर और इस के महीनों के नाम मेष, वृष इत्यादि राशियों के नाम के अप्रत्यक्ष हैं-१००० वर्षों का इस का एक चक्र होता है । और इस समय इस का चौथा चक्र है परन्तु अब इस की वर्ष गणना १००० से भी अधिक होने लगी है । इस वर्ष में ७४६ । ४७३ मिलाने से शकवर्ष और ८२४ । २५ मिलाने से ईसवी सन् होगा ॥
- १७-नेवार काल-नेपाल में यह काल शक १६९० से आरम्भ हुआ । इस का वर्ष फात्तिकादि और भास अमान्त होता है । साखपट पर या संस्कृत ग्रंथों में इस को " नेपाल काल " कहते हैं । ८०० । ८०१ वर्ष मिलाने से शकवर्ष और ८७८ । ७९ मिलाने से ईसवी सन् और ९३५ मिलाने से फात्तिकादि विक्रम संवत् होगा ॥
- १८-चालुक्यकाल-चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने इस को शाके ९९८ में आरम्भ किया था । विजयलक्ष्मुरिया ने जब शाके १०८४ में इस को पराजय किया तब से यह संवत् बन्द होगया । इस वर्ष में ९९७ । ९८ मिलाने से शकवर्ष और १०७५ । ७६ मिलाने से ईसवी सन् होता है ॥

१८-सिंहसंवत्-काठियावाड़ और गुजरात प्रान्तों से प्रचरित हुआ । महीना इस का अमान्त, वर्ष चान्द्र सीर होता है । इस में १०३५ । ३६ मिलाने से शकवर्ष और १११३ । १४ मिलाने से ईसवी सन् होता है और ११७० मिलाने से आषाढादि विक्रम संवत् होता है ॥

२०-लक्ष्मण सेवनकाल-यह काल तिरहुत प्रान्त में विक्रम काल या शककाल की धरावर प्रचरित है । इस का वर्ष कार्तिकादि, महीना अमान्त है । इस वर्ष में १०४० । ४१ मिलाने से शकवर्ष और १११८ । १८ मिलाने से ईसवी सन् और ११७५ मिलाने से कार्तिकादि विक्रम संवत् होगा ॥

२१-इलाहीसन्-इस को अकबर बादशाह ने आरम्भ किया था । इस से इस को "अकबरी सन्" भी कहते हैं । इस में १४७६ । ७७ मिलाने से शकवर्ष और १५५५ । ५६ मिलाने से ईसवी सन् होगा ।

२२-राज शक या राज्याभिषेक शक-मराठी राज्य के संस्थापक शिवा जी ने इस काल को चलाया । शिवा जी के राज्याभिषेक के समय ज्येष्ठ शुक्ल १३ शके १५८६ में आनन्द सयस्सर चला । दक्षिण में चान्द्र सीर अमान्त शकवर्ष अनुसार होता है । इस में १५८३ । ८६ मिलाने से शकवर्ष और १६७३ । ७४ मिलाने से ईसवी सन् होगा ॥



संवत् प्रदर्शकचक्र

अर्थात् जिस संवत् का जिस समय से आरम्भ हुआ है, इस चक्र से ज्ञात होगा।

कलि (चैत्र, मेष)	समर्पि (चैत्र)	विक्रम		ईसवी (जनवरी)	शक (चैत्र, मेष)
		चैत्र	(आषाढ़) (कार्तिक)		
गत ४८७८ वर्तमान ४८८०	४८५४	१८३५	१८३४	१८७८	१८३४
चैदि भाद्रकृष्ण प्रतिपदा	गुप्तवर्षाभी कार्तिक	गुप्त (चैत्र)	हिकरी (मोहरन)	कसली दक्षिणी (सय, जुलाई)	कसली बङ्गाली (भाद्र कृष्ण १)
१६३०	१५५८	१५५८	१५८५	१९८७	१८८५
विलायती (कन्या)	अमली भाद्रशुक्ला	बङ्गाली (मेष)	अर्घी सूर (मृग)	हर्ग मगी (मेष)	कोलम (सिंह, कन्या)
१९८५	१९८५	१९८५	५५ ५५	१९४०	१९५३
नेपाल (नेवार) (कार्तिक)	चालुष्य	सिंह (आषाढ़)	लक्ष्मण सेन (कार्तिक)	इलाही (अकवरी) (सायन मेष)	शिवा जी राजशक (ज्येष्ठ शुक्ला १३)
८९८	८०२	७६४	७५८	३२३	२७४

धूम केतु (Comet)

यह, सपयह और नक्षत्रों के अतिरिक्त एक प्रकार का ज्योतिषक कभी २ रात्रि को आकाश में दृष्टिगोचर होता है। यह गोलाकार और पुच्छ के साथ होता है। इस के पुच्छ ही में दीप्ति रहती है और ग्रहमार्जनी (काटू) की भाँति दिख पड़ती है। इस ज्योतिषक को "धूम केतु" कहते हैं। धूम केतु के शरीर

(आकार) में दो भाग होते हैं । एक मस्तक और दूसरा पुच्छ । इस का मस्तक भाग कुछ चञ्चल एवं उस का मध्यभाग तारा की नाईं अपेक्षारहित दीप्तिमान् होता है । यही मध्यस्थल धूम केतु की अष्टि प्रतीत होती है । पुच्छभाग कुछ चञ्चल होता है और कभी २ किञ्चित् वक्रभाय से कमशः प्रशस्त होकर बहुत दूर तक बह जाता है । पुच्छ का मध्यभाग अपेक्षारहित कृष्ण वर्ण होता है । एवं एक रेखा में रहने के कारण उस के दो अलग २ भाग दीखते हैं । धूमकेतु का केतु बहुत कालपर्यन्त सूर्य के शिपरीत दिशा में रहता है । सब समय धूमकेतु का केतु हम लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होता, कभी २ केतुहीन धूमकेतु एवं कभी २ छः केतुयुक्त धूमकेतुयुक्त धूमकेतु दीखने लगता है । धूमकेतु प्रभृति स्वयं प्रकाशमान नहीं किन्तु अन्यान्य ग्रहों की नाईं यह भी सूर्य की किरणों से प्रकाशित होता है । जब यह सूर्य के निकट होता है तो दीखने लगता है । अन्यथा दूर होने पर अदृश्य होता है । और ग्रहों की नाईं यह भी सूर्य की परिक्रमा किया करता है । अर्थात् पश्चिम से पूर्व और कभी २ पूर्व से पश्चिम जाता है । अष्टावधि यूरोपियन विद्वानों ने लगभग ७७० धूमकेतुओं की गति विधि आदि का नियम किया है । एवं जिन २ पुरुषों ने जिन धूमकेतुओं का पता लगाया है उन २ के नाम से ये २ धूमकेतु प्रसिद्ध किये गये हैं । हमारे बहुत से नवशिक्षित भारतवर्षीय पुरुषों की ऐसी धारणा है कि हिन्दू लोगों के यहां इस का कुछ चञ्चल नहीं है । यह तर्क की एक मात्र मूल है । क्योंकि प्रथम तो हमारे वेद ही में इस का मूल पाया जाता है । एवं अन्यान्य कतिपय ज्योतिष के संहिता ग्रन्थों में १०८० के लगभग धूमकेतुओं का उल्लेख है:-

शन्नोमृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥

(अथर्व वे० कां० १८ । ६ । मं० १०)

कभी २ धूमकेतु सूर्य के अतिनिकट होने के कारण उसे बड़ी उष्णता होती है ॥

पैतामहश्चलकेतुः पञ्चवर्षशतं प्रोप्य उदितः । अथोद्दालकश्चेतकेतुर्दशोत्तर वर्षशतं प्रोप्य दृश्यः । शूलाग्राकारां शिखां दर्शयन् ब्राह्मणक्षत्रमुपसृत्य मनाग्ध्रुवं ब्रह्मराशिं सप्तर्षीन्संस्पृश्य कश्यपः श्वेतकेतुः पञ्चदशं वर्षशतं प्रोप्यैध्रां पद्मकेतोश्चरान्ते..... । नभस्त्रिभागमाक्रम्याप-

सव्यं निवृत्याहुं प्रदक्षिणजटाकारशिखः । अथरश्मि-
केतुर्विभावसुजः प्रोप्य शतमावर्त्तकेतोरुदितश्चारान्ते
कृत्तिकासु धूमशिखः ॥

बृहत्संहिता ग्रन्थ के टीकाकार पं० महोत्पल ने "पराशरसंहिता" नामक ग्रन्थ के यथन का उल्लेख किया है ॥

भा०-पैतानहकेतु ५०० वर्ष प्रयास कर अर्थात् एक बार दृश्य होकर ५०० वर्ष के पीछे दृष्टिगोचर हुआ । उद्दालकश्वेतकेतु ११० वर्ष के पीछे दृष्टिगोचर हुआ । शूलाग्रशिलाधारी काश्यपकेतु १५०० वर्ष के पीछे, पद्मकेतु उदय होकर पूर्ण से होता हुआ ब्राह्मराशि (अभिजित्) नक्षत्र स्वयं करता हुआ भुवनक्षत्र ग्रहनक्षत्र और सप्तर्षि नक्षत्रों को स्वयं करता हुआ आकाश के तीसरे भाग को अहुं प्रदक्षिणाकार कर जटाधारी की भाँति अवस्थित है । एवं विभावसुज रश्मिकेतु सौरवर्ष के पीछे दृश्य हुआ और आवर्त्तकेतु कृत्तिका नक्षत्र में प्रकाशित है । इन मध्येक धूमकेतुओं के साथ की उपक्रियविशेष के लान लगे हैं यह इस कारण से कि जिन २ सहस्रपुरुषों ने जिन २ धूमकेतुओं का देखा कर उन का उल्लेख किया था उन २ के नाम से वे २ प्रसिद्ध हैं ॥

उल्कापिण्ड

रात्रिकाल में जो गगनमण्डल से नक्षत्र गिरते दीख पड़ते हैं वह नक्षत्र-पात नहीं किन्तु उल्कापिण्डपात होता है ॥

उल्कापिण्ड किस प्रकार कहां से गिरता है इस बात पर आधुनिक यूरो-पियन विद्वानों ने अनेक वादानुवादपूर्वक यह निश्चय किया है कि जिस प्रकार यह, धूमकेतु आदि निर्दिष्ट नियमानुसार सूर्य की परिक्रमा करते हैं उसी प्रकार उल्कापिण्ड भी सूर्य की चारों ओर भ्रमण करता है । उल्कापिण्ड और पृथिवी के भ्रमण मार्ग का सम्पात (संयोग स्थान) है । जब पृथिवी और उल्कापिण्डगण भ्रमण करते २ सम्पातस्थान में पहुंच जाते हैं, उस समय उल्कापिण्ड सब पृथिवी में गिरते हैं या उसी समय न गिर कर भूवायु राशि में मिलजाते हैं । एवं पीछे क्रमशः पृथिवी के आकर्षण के प्रभाव से भूतल में गिरते हैं । उल्कापिण्ड की संख्या १६ माईल से २०० माईल पर्यन्त पृथिवी से ऊपर की है और इस की गति प्रतिविण्ड १८ माईल से ॥ माईल पर्यन्त होती है । प्रतिवर्ष में पृथिवी में कितने उल्कापिण्ड गिरते हैं, इस की संख्या करनी दुःसाध्य है । प्रतिदिन लाखों उल्कापिण्ड पृथिवी के सिद्ध

प्रदेशों में गिरते हैं। चल्कापिण्ड में परीक्षा से देखने पर निश्चित हुआ है कि इस में लोहा, टीन आदि अनेक पृथिवी की अपेक्षा विलक्षण घातु रहते हैं। हमारे भारतीय ज्योतिषशास्त्रों में अश्विनी और पाषाण द्रव्य मिश्रित इस के पिण्ड में लिखा है। एव वेद में इस का भी उल्लेख है—

शान्तो भूमिर्वपमाना शमुल्का निर्हतं च यत् ॥

(अथर्व० । काण्ड १९ । ८ । म० ७)

आधुनिक सिद्धान्त कैसा मिलता है कि पृथिवी के गमन से चल्का टूटकर खाकर गिरता है। जैसा ऊपर कहा गया है। और श्री य० श्रीपति ने भी एक ज्योतिष ग्रन्थ में चल्कापिण्ड का उल्लेख किया है ॥

ज्वार और भाटा

प्रतिदिन नियमपूर्वक जो समुद्र के जल का ह्रास एव वृद्धि होती है उस को ज्वारभाटा कहते हैं, अर्थात् समुद्र का जल जो सहसा बढ़ जाता है, उस को ज्वार (संस्कृतभाषा में "वेला") कहते हैं और वही ज्वार का जल जब क्रमशः घट जाता है, तब उस को भाटा कहते हैं। सूर्य और चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति से यह घटना होती है ॥

ज्योतिर्वित् परिहृती ने यह निश्चय किया है कि चन्द्रमा पृथिवी के आकर्षण से आकृष्ट होकर अपनी कक्षा में घूमता है। पृथिवी जिस प्रकार चन्द्रमा को आकृष्ट करती है, चन्द्रमा भी उसी प्रकार पृथिवी का आकर्षण करता है। इसी कारण पृथिवी का जो भाग जिस समय चन्द्रमा के ठीक नीचे आता है। उस समय उस भाग की जलराशि बढ़ जाती है और वही ज्वार होता है। पृथिवी का जल भाग जिस प्रकार चन्द्रमा के आकर्षण के अधीन है, स्थलभाग भी उसी प्रकार चन्द्रमा का द्याप्य है, ती जल तरलपदार्थ है इसी कारण वह अनायास चालित और स्फीत हो जाता है। यह द्यापार सब की दृष्टिगोचर होता है, स्थलकठिन होता है। इस लिये स्फीत और सङ्कोच सहन से नहीं होता और वह इन्द्रियगोचर भी नहीं होता। पृथिवी का जो अंश चन्द्रमा के निम्न भाग में आजाता है उस समय उस भाग में ज्वार होने की सम्भावना होती है। किन्तु रात दिन में कोई स्थान एक घार से अधिक चन्द्रमा के ठीक निम्नस्थ नहीं होता तब जो इस समय एक स्थान में दो बार ज्वार होता है, उस के कारण नीचे दिखलाये जाते हैं—

पृथिवी का जो स्थान जिस समय चन्द्रमा के ठीक निम्नभाग में अवस्थित होता है, उस समय वह स्थान अन्यान्य अंश की अपेक्षा उस के निकटवर्ती

होता है, इस कारण उस स्थान का जल चन्द्रकर्तृक अधिक आकृष्ट होकर चन्द्रमा के सम्मुख स्कीत हो जाता है। उस स्थान का जल इस प्रकार बढ़ता है। उसके पार्श्वपक्ष (पाताल) स्थान चन्द्रमा से अधिक दूर होने के कारण यहां चन्द्रमा का आकर्षण न्यून होता है। कारण यह है कि जो वस्तु आकर्षक पदार्थ के निकट रहता है वही अधिक तेज से आकृष्ट होता है और निकट से जैसे दूर जाता है, आकर्षण प्रभाव भी उसी दूरत्व के अनुसार ह्रास होता जाता है। सुतरां इस स्थान का जल नस हो जाता है और अपर स्कीत अर्थात् उन्नत और स्थानद्वय पृथिवी के केन्द्र से बहुत दूर अपस्त हो जाता है। सुतरां दोनों स्थानों के ऊपर पृथिवी की केन्द्राभिकर्षणी शक्ति अनुसार उन्नत होती है। इस कारण उस स्थान की जलराशि की तरलता स्वाभाविक तरलता की अपेक्षा अधिक होती है। इस प्रकार मध्याकर्षण के विरल प्रभाव से दोनों ओर का जल तरल होना है और एक ओर चन्द्रमा के अव्यवहित आकर्षण से उन्नत जल स्कीत (बढ़ता है) होता है, दूसरी ओर केन्द्रप्रसारणी शक्ति का प्रादुर्भाव के नियन्त्रण से यह नत हो जाता है। इस से दोनों जगह उच्चार होता है। जिन स्थान की जलराशि स्कीत होती है, उस के पार्श्वस्थ जलराशि अवश्य ही सङ्कुचित होती है। इसी सङ्कोच का नाम झटाटा है॥

चन्द्रमा जिस प्रकार जल आकर्षण करता है सूर्य भी उसी प्रकार जल आकर्षण करता है। एवं कोई बाधा न होने से सूर्यकर्तृक एक पृथक् उच्चार होने की सम्भावना भी किन्तु सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा पृथिवी से बहुत निकटवर्ती है। इस कारण उस की आकर्षण शक्ति अधिक होती है। एवं उसी शक्ति द्वारा सूर्यकृत उच्चार निराकृत होता है। परीक्षा द्वारा निश्चय किया गया है कि पृथिवी के जल के ऊपर सौर आकर्षण की अपेक्षा चन्द्राकर्षण अधिक होता है। सुतरां, चन्द्रमा और सूर्य दोनों जल आकर्षण करने से चन्द्राकर्षण सौराकर्षण को रोक देगा और दोनों यदि समसूत्र में रहें और आकर्षण करें तो अधिक शक्ति होगी। वस्तुतः इसी प्रकार होता भी है। जमावास्या समय चन्द्रमा और सूर्य समसूत्रस्थ होते हैं अर्थात् उस समय चन्द्रमण्डल सूर्यमण्डल के नीचे भाग में अवस्थिति करता है। इस कारण दोनों मिल कर जल आकर्षण करते हैं, इस कारण अन्यान्य दिन की अपेक्षा इस दिन उच्चार अत्यन्त प्रबल होता है और पूर्णमासी को सूर्य और चन्द्रमा परस्पर आकाशमण्डल के विपरीत भाग में उदय होते हैं। चन्द्रमा जब पूर्व भाग में तो सूर्य पश्चिम भाग में रहता है। एवं चन्द्रमा जब पश्चिम भाग

में ती सूर्य पूर्व भाग में रहता है । चन्द्रमा के एक उदय से दूसरे उदय पर्यन्त २४ होरा ४८ मिनट लगता है । एवं इतने समय में पूर्वोक्त रीति से दो बार उबार हो जाता है । सुतरां इस उबार की प्रतिदिन निरूपित एक समय होने की सम्भावना नहीं ।

प्रातःकाल में १० बजे उबार होने से दूसरे दिन १० बजे २४ मिनट में उबार आरम्भ होगा और प्रतिदिन ४८ मिनट करके अपसर होता है अर्थात् एकादशी के दिन ६ बजे ५६ मिनट पर उबार होने से द्वादशी दिन ७ बजे ४४ मिनट पर होगा । उबार के आरम्भ से भाटा की समाप्तिपर्यन्त १२ होरा ४४ मिनट होता है । इस काल को द्विगुण करने पर एक तिथि होगी । उबार आरम्भ होने पर प्रायः छः होरा पर्यन्त दक्षिण ओर से उत्तराभिमुख वेगवान् होता है । उस के बाद प्रायः १२ मिनट पर्यन्त स्थगित रहता है । उस के बाद भाटा होता है । भाटा के आरम्भ होने पर वह वेग पुनर्वाट दक्षिणाभिमुख छः होरा पर्यन्त अपसरण करके ४ मिनट तक स्थिर होता है । अनन्तर उस के पूर्वोक्त रीति से पुनर्वाट उबार होता है और पुनर्वाट भाटा होता है ॥

पूर्णमासी और अमावास्या के दो एक दिन पीछे उबार की अत्यन्त वृद्धि होती है और चन्द्रमा के द्वितीय और चतुर्थ पाद के प्रथम दो तीन दिन उबार अत्यन्त खर्ब हो जाता है । कारण अमावास्या और पूर्णमासी के समय चन्द्रमा और सूर्य मिलकर अधिक परिमाण जल आकर्षण करने से जल की गति का वेग अत्यन्त प्रबल हो जाता है । अमावास्या और पूर्णमासी के पीछे चन्द्रमा और सूर्य आकर्षण नहीं करते । इस से आकर्षण प्रभाव ह्रास हो जाता है, किन्तु जल की गति का वेग दो एक दिन न घटने पर ह्रास नहीं होता । क्योंकि जड़पदार्थ एक बार किसी शक्ति के प्रभाव से चालित होने से उस की गति शीघ्र स्थिर नहीं होती । इसी प्रकार चन्द्रमा की कला की वृद्धि और ह्रास क्रम से उबार भाटा होता है । जैसा कि ऊपर कहा गया ॥ हम विस्तारभय से यहां अधिक उल्लेख नहीं करते । पाश्चात्य पण्डित और भारन्वर्षीय नवशिक्षित लोगों की धारणा है कि भारतवर्ष में उक्त घटनाविषयक नियम नहीं जानते हैं । परन्तु यह कहना उन का एकमात्र युक्तिशून्य है । हमारे शास्त्रों में चन्द्रमा की समुद्र का पुत्र, एवं चन्द्रमा की कला की वृद्धि और ह्रास क्रम से समुद्र में वेला (उबार) वा जलोच्छ्वास और पुनः जल का ह्रास (भाटा) होता है, स्पष्टतया लिखा है । जैसे:-

वेळान्दोलानिलवलंक्षोभोद्वेग समुच्छ्रितम् । वीचीह-
स्तैः प्रचलितैर्नृत्यन्तमिव सर्वतः ॥ १० ॥ चन्द्रवृद्धि-
यवशादुद्वृत्तोर्मिसमाकुलम् ॥ महाभारते आदिपर्वणि

२१ अध्याये

अर्थात्—यह जो समुद्र में ज्वार और भाटा से लहरें ऊपर की वृत्त २
कर पुनः गिरती हैं । इस का कारण वायु और चन्द्रमा की कठा की वृद्धि
और ह्रास होता है ॥

वेध या पर्यावेक्षण (Observation)

शलाका या यष्टि या दूसरे किसी पदार्थ के सहारे से जो आकाशस्थ
नक्षत्रादिकों को देखते हैं, उस क्रिया का नाम संस्कृत में “ वेध ” है । एय
यन्त्रादि द्वारा देखने से “ यन्त्रवेध ” कहते हैं । आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों,
एवं हमारे कतिपय नवशिक्षित भारतवर्षीय लोगों की ऐसी धारणा है कि
भारतवर्ष में वेध की परम्परा एवं वेधविषयक ग्रन्थ तथा यन्त्रादिक नहीं
थे और न कहीं वेधशाला थी इत्यादि ॥

यह धारणा उन की एकमात्र युक्तिशून्य और अविद्यासनीय है क्योंकि
जिन सूर्य, पृथिवी, नक्षत्र, धूमकेतु आदि की गति आदि को यथायत्न जानने
के लिये अङ्गरेज अरबों रुपये खर्च करके एक यन्त्र निर्माणपूर्वक ५०० वर्ष के
उगमग में ग्रहादिकों की गति विधि आदि से अभिज्ञ हुए हैं, इन विषयों
को हमारे पूर्वज करोड़ों वर्ष पूर्व ही से निश्चय कर हमारे ज्योतिष शास्त्र में
उन का उल्लेख कर गये हैं । राशिचक्र १२ भाग, एवं एक एक भाग में तीस ३
अंश एवं ३६० अंश का राशिचक्र, धूमकेतु, सप्तर्षि तारे, ग्रहण आदि विषय,
बृहस्पति का गुह्यत्व अधिक ज्ञान कर गुरु नाम रखना, सङ्गल को लोहिताङ्ग
(अंग्रेजों ने ताम्बे की नाईं रङ्ग मिलाया किया है) इत्यादि बिना यन्त्रों ही
कर गये हैं । अब हम यहाँ पाठकों के अवलोकनार्थ कतिपय वेध यन्त्रों का
नाम लिखते हैं ॥

१-गोलयन्त्र (Globe) काठ का बना-खगोल और भूगोल के विषयों को
चित्रद्वारा प्रलीभान्ति ज्ञान के लिये । देखो पृ० सि० अ० १२
एवं सिद्धान्त शिरोमणि भुवनकोष ॥

२-चक्र यन्त्र { धातुमय या काष्ठमय-इस यन्त्र से यहाँ का अक्ष, भोग, शर
आदि जाना जाता है (अङ्गरेजी में "येडोलाईट कम्पास" कहते
हैं) इस से पृथिवी को भी माप कर क्षेत्रफल जान लेते हैं ।
३-चाप { अङ्गरेजी सरकार के सरवे विभाग एवं इन्जीनियरिंग विभाग
४-तुल्य गोल { में इस से काम लिया जाता है ॥

५-नाडी यन्त्र-इस यन्त्र से स्वदेशीय उदय आदि काल ज्ञान होता है ॥

६-घटिका यन्त्र-प्रसिद्ध ही है ॥

७-शङ्खु-हाथीदन्त या किसी घन पदार्थ का १२ अङ्गुल लम्बा बना कर
उस की छाया से कालज्ञान, दिशा आदि जानते हैं ॥

८-फलक यन्त्र-इस से काल ज्ञान होता है ॥

९-यष्टियन्त्र (Compass) क्षेत्रफल निकालने के लिये एवं ज्वा, ज्वाहुँ,
अग्ना, त्रिज्या इत्यादि प्रयोजन के लिये होता है ॥

१०-स्वयम्बु यन्त्र-काल ज्ञान के लिये ॥

यहां हम ने दिङ्मात्र यन्त्रों का नाम लिखा है । यन्त्रों के बनाने के
लिये हमारे भारतवर्ष में शिल्पिगण ज्योतिषियों से भिन्न थे, उन के ग्रन्थ भी
भिन्न थे, क्योंकि जहां यन्त्र का उल्लेख ज्योतिष में आया है । प्रायः यह
लिखा रहता है कि अच्छे गोलविद्या जानने वाले शिल्पी से अमुक यन्त्र
बनवावें । वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड में जहां महाराजा दशरथ
जी ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया है, लिखा है कि यज्ञशाला और यज्ञवेदी आदि
बनाने के लिये गणक, शिल्पी, खनक, तक्षा (बड़ह) आदि को बुलाना
चाहिये । इस से शिल्प शास्त्र और ज्योतिष शास्त्र भिन्न होने के कारण
ज्योतिष शास्त्र में यन्त्र निर्माण का पूरा उल्लेख नहीं किया गया है ।
शिल्प शास्त्र के ग्रन्थ अधुना नहीं मिलते । परन्तु यन्त्रविधायक षोडश से
सवीं ग्रन्थों का नाम लिखते हैं जो आप्यग्रन्थों के अनुकूल ही हैं ॥

१-सर्वतोभद्र यन्त्र-भास्कराचार्य रक्त सिद्धान्त शिरोमणि पुस्तक में इस का
उल्लेख है, परन्तु यह ग्रन्थ नहीं मिलता है ॥

२-यन्त्रराज=महेन्द्रमूरि रक्त एवं इस पर महामहोपाध्याय पद्म सुधाकर द्विवेदी
ने टीका की है । १८२ छोक हैं । शाके १८९२ का बना है ॥

३-भुवधमयन्त्र-पद्मनाभरक्त ३१ छोक हैं । इस पर टीका ग्रन्थकार ने अपने
आप की है । शाके १३२० में बना ॥

४-यन्त्र चिन्तामणि-चक्रचरकृत शाके ११०० में बना । २६ श्लोक में ग्रन्थ समाप्त हुआ है ॥

५-प्रतीदयन्त्र-गणेशकृत । ११ श्लोक ॥

६-गोखानन्द-चिन्तामणि ने १२४ श्लोकात्मक ग्रन्थ बनाया ॥

वेधशाला (Observatory)

वेधशाला उस को कहते हैं जहाँ ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धि यन्त्र (वेधी-पंथोगी) रखे रहते हैं और समय २ पर यन्त्रद्वारा ग्रहादिकों को वेध कर गणित द्वारा गति आदि का निश्चय करते हैं । यह कार्य बहुत धनसाध्य होता है । इसी कारण प्रत्येक राज्यशासन समय यह राजाश्रित रहा । इस समय थोड़े काल से जय से भारत की राज्यश्री समुद्र यान पर बढ़ कर द्वीपान्तर की गई, उस के साथ २ भारत की विद्या भी गई । एवं वेधशाला आदि का क्रम टूट गया ॥

पाठकों के अवलोकनार्थ थोड़े से स्थानों का नाम लिखते हैं कि जहाँ २ वेधशाला थीं-और कहीं २ अब भी सत्युरूप हो रही हैं ॥

१-तितारा

२-इन्दौर

३-बीह

४-हैदराबाद

५-दिल्ली

६-नपुरा

७-जयपुर

८-उज्जयिनी

श्री महाराजा जयसिंह कारित सन् १७५० । उस समय इन की सभा में ५० केशव एवं गणेश येदों गणक बड़े प्रवीण थे ॥

९-काशी-श्री राजा मानसिंह कारित-मान मन्दिर नाम से प्रसिद्ध है । इस का जीर्णोद्धार तक इस समय नहीं हो सका । इस विषय पर पं० वायूदेव शास्त्री जी ने सन् १८६८ ईस्वी में एक लेख प्रकाशित किया था और बहुत शोक प्रकाशित किया था ॥

भूगोल वर्णन

यद्यपि खगोल विचारक पुस्तक के साथ भूगोल का सम्बन्ध उतना नहीं है परन्तु सू० सि० अ० १२ में इस का विषय गीणभाव से आया है और काष्ठ-

मय भूगोल और खगोल की रचना का प्रकार लिखा है। इस कारण अब हम उस गोल का वर्णन करते हैं ॥

कृत्रिम गोल एक घातु के तार के आधार से रहता है। यह तार उस गोल के बीच-में से केन्द्र होके जाता है इस के दो अन्त एक पीतल के चटवृत्त में दो छेद होते हैं, उन में छेदे रहते हैं। यह पीतल का चटवृत्त आधारवृत्त कहाये और तार पृथिवी का "अक्ष" कहाये। पृथिवी का अक्ष अर्थात् उस के केन्द्र पर से जाने वाली एक काल्पनिक रेखा है जिस पर उस का भ्रमण माना है और जिस की चारों ओर समस्त तत्त्व पदार्थों का भ्रमण प्रतिदिन देखा पड़ता है ॥

उस अक्ष के दोनों अन्तों को पृथिवी के ध्रुव कहते हैं उन में एक को "उत्तर ध्रुव" और दूसरे को "दक्षिण ध्रुव" कहते हैं ॥

जो वृत्त दोनों ध्रुव होके जाते हैं उन को "मध्योत्तरवृत्त" (एक को दक्षिण वृत्त और दूसरे को उत्तर वृत्त) या "मध्याह्न वृत्त" कहते हैं। भूगोल के पूर्व की ओर से पश्चिम की ओर घूमने से पृथिवी का केन्द्र और सूर्य इन के ठीक बीच में जब कोई मध्याह्न वृत्त जाता है तब उस मध्याह्न वृत्त पर सूर्य के सम्मुख जितने देश रहते हैं। उन में मध्याह्न होता है ॥

कृत्रिम वृत्त पर केवल १२ मध्याह्न वृत्त लिखे रहते हैं और अवशिष्ट स्थान में आधार वृत्त को मध्याह्न वृत्त कर सकते हैं ॥

पृथिवी के दोनों ध्रुवों से जो समान अन्तर पर एक वृत्त रहता है और जो गोल के समान दो भाग करता है उस को "निरक्ष देश" कहते हैं और गोल के उत्तरार्द्ध को "उत्तर गोल" और दक्षिणार्द्ध को "दक्षिण गोल" कहते हैं ॥

अब पृथिवी के पृष्ठ पर जो स्थान हैं उन पर पूर्वोक्त अनेक काल्पनिक वृत्त मान के उन स्थानों का परस्पर स्थितिसम्बन्ध किस प्रकार से ठहराते हैं इस का विचार करते हैं:-

प्रत्येक वृत्त के ३६० समानभाग मान लिये हैं उन प्रत्येक को अंश कहते हैं। इस लिये अर्द्धवृत्त में १८० अंश वृत्त के चतुर्थांश में ९० अंश होते हैं। जैसे दोनों ध्रुव परस्पर १८० अंश दूर में हैं और निरक्षदेश से प्रत्येक ध्रुव ९० अंश पर है। निरक्ष देश से किसी स्थान के अंशात्मक अन्तर को "अक्षांश" कहते हैं जो वह स्थान निरक्ष देश के उत्तर में हो तो "उत्तर अक्षांश"

एव दक्षिण में हो तो " दक्षिण अक्षांश " कहलाते हैं । परन्तु संस्कृत में स्थान की जिस दिशा में निरक्ष देश हो उस दिशा के अक्षांश कहलाते हैं । अर्थात् निरक्ष की उत्तर में स्थान हो तो दक्षिण अक्षांश और दक्षिण में स्थान हो तो उत्तर अक्षांश होता है । इस लिये यह परिभाषा उक्त परिभाषा से उलटी है जैसा उत्तरध्रुव और निरक्षदेश इन के ठीक मध्य में ॥ उत्तर अक्षांश हैं परन्तु संस्कृत में वे दक्षिण अक्षांश कहलाते हैं ॥ निरक्षदेश से जो २ स्थान अधिक दूर रहते हैं, वहाँ अक्षांश अधिक होते हैं ॥

कृत्रिम गोल पर किसी निर्दिष्ट स्थान के अक्षांश जाननेकेलिये

नियम—आधार वृत्ति की जो अलङ्क निरक्ष से ध्रुव तक अंशसंख्या ने अङ्कित रहती है उस अलङ्क के नीचे निर्दिष्ट स्थान को ले आना तब उस स्थान के ऊपर जिस अंश संख्या का चिह्न हो उतने अक्षांश जानना ॥

किस स्थान पर सब से अधिक अक्षांश हैं, और कितने होते हैं । पहिले कहा है कि हर एक वृत्त में ३६० अंश नाम लिये हैं । उन को अंश कहते हैं इस लिये एक अंश की लम्बाई वृत्त के महत्त्व के अनुसार होती है । गोल पर जो वृत्त गोल के समान दो भाग करते हैं उन की महावृत्त कहते हैं । जैसे निरक्षदेश मध्याह्नवृत्त ये सब महावृत्त हैं । महावृत्त के एक अंश की लम्बाई अनुमान ३० कोश होती है । अब हिन्दुस्तान के उत्तर से ले दक्षिण तक और वैसे ही सिहल आफ्रिका अमेरिका और आस्ट्रेलिया इन के स्थलमान से लम्बाई गिनो ॥

किसी निर्दिष्ट स्थान में जितने अक्षांश हों उतने ही अक्षांश

जितने स्थानों में होवें उन सब स्थानों को जानने के लिये

नियम—आधार वृत्त की जो अलङ्क निरक्ष से ध्रुव तक अंश संख्या से अङ्कित रहती है उस अलङ्क के नीचे उस निर्दिष्ट स्थान को ले आना पुनः उस के ऊपर जिस अंश संख्या का चिह्न हो उस संख्या को मन में धर गोल को घुमाने से जो २ स्थान उस चिह्न के नीचे आवें वे अभीष्ट स्थान हैं ॥

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि निरक्षदेश से ९० अंश के अन्तर पर जो दो ध्रुवस्थान हैं उन्हें छोड़ और किसी स्थान का नियम केवल अक्षांश पर से नहीं होसकता । जितने स्थान पर समान अक्षांश हैं वे सब अवश्य निरक्षदेश

के एक समान्तर वृत्त में रहते हैं। उस समान्तर वृत्त को "स्पष्ट परिधि" कहते हैं। अब कृत्रिम गोल पर यद्यपि केवल १६ स्पष्ट परिधि लिखे रहते हैं तो भी गोल पर हर एक स्थान पर से एक स्पष्ट परिधि की कल्पना हो सकती है। गोल पर के १६ स्पष्ट परिधियों में हर एक गोलाहट में आठ २ लिखे रहते हैं और हर एक गोलाहट में निरक्ष और ध्रुव इन के बीच में ८० अंश होने के कारण ये स्पष्ट परिधि सब मध्याह्न वृत्तों को दश २ अंशों से विभक्त करते हैं। और हर एक विभाग का मध्य देश भी अक्षांश जानने के लिये आधारवृत्त से विभक्त हो सकता है। यह स्पष्ट है कि पृथिवी के ध्रुव तो स्वतः निश्चित हैं। उन पर से निरक्ष देश का निश्चय होता है। निरक्ष देश पर से स्पष्ट परिधि ठहराये जाते हैं। परन्तु वहाँ से पूर्वोपर देश नापते हैं। उस के ठहराने का इस में कोई प्रकार नहीं है। इस लिये वैसा "यान्तीयोत्तर" वा 'मध्याह्न वृत्त' जिस से पूर्वोपर देश नापते हैं और जिस को मुख्य रेखा कहते हैं, उस का ठहराना स्वतन्त्रता से होता है ॥

जैसा भारतवर्षीय ज्योतिष ग्रन्थों में उज्जयिनी आदि पर से जो मध्याह्न वृत्त जाता है उस को मुख्य रेखा मानते हैं। और अङ्गरेज लोग लण्डन पर से जो मध्याह्न वृत्त जाता है उस को मुख्य रेखा मानते हैं और मुख्य रेखा छोड़ कर और जो स्थान हैं वे उस के पूर्व में या पश्चिम में गिने जाते हैं। जिस प्रकार किसी स्थान का निरक्ष रेखा से जो अन्तर होता है उसे अक्षांश कहते हैं। उसी प्रकार उस स्थान का जो मुख्य रेखा से अन्तर निरक्ष पर नापा जाता है उस को "देशान्तर" कहते हैं ॥

देशान्तर निकालने का नियम—आधारवृत्त के नीचे निर्दिष्ट स्थान को ले आना। तब मुख्य रेखा से आधार वृत्त तक निरक्षदेश में जितने अंश होंगे सो निर्दिष्ट स्थान का देशान्तर होगा ॥

जो निर्दिष्ट स्थान मुख्य स्थान के दहिनी ओर होवे सो पूर्व देशान्तर और जो बाई ओर होवे सो पश्चिम देशान्तर जानना ॥

निर्दिष्ट स्थान में जो देशान्तर है, उस देशान्तर के जितने और स्थान होवें उन के जानने के लिये,

नियम—आधारवृत्त के एक अलङ्ग के नीचे निर्दिष्ट स्थान को ले आना तब एक ध्रुव से ले दूसरे ध्रुव तक उस अलङ्ग के नीचे जितने स्थान होवें वे सब समान देशान्तर के स्थान हैं ॥

किसी स्थान के अक्षांश और देशान्तर निकालने का नियम

आधार वृत्त की जो अलङ्क निरक्ष से भुज तक अंशों से अङ्कित रहती है, उस अलङ्क के नीचे वह निर्दिष्ट स्थान ले आना । तब उस स्थान के ऊपर आधारवृत्त में जितनी अंश संख्या का चिह्न होगा, उतने वहाँ अक्षांश जानना, और आधार वृत्त की वह अङ्कित अलङ्क जहाँ निरक्ष में लगा हो वहाँ जितने अंश का चिह्न होगा, उतना देशान्तर जानना ॥

नियम ६

जिस स्थान के अक्षांश और देशान्तर ज्ञात हैं उस स्थान को गोल पर ठहराने के नियम ॥

निरक्ष देश पर निर्दिष्ट स्थान का देशान्तर का अंश चिन्ह जानके उसे आधारवृत्त की अङ्कित अलङ्क के नीचे ले आना तब आधारवृत्त पर जहाँ निर्दिष्ट अक्षांश का चिन्ह हो उस के नीचे अभीष्ट स्थान होगा ॥

यह पाँचवें नियम के उलटा है।

निर्दिष्ट स्थान कृत्रिम गोल पर किस ठाँव में है । यह ठहराने की जगह इच्छा है तब पृथिवी पर उस स्थान के वास्तविक अक्षांश और देशान्तर जान के तदनुसार उस स्थान का कृत्रिम गोल पर चिन्ह करना ॥

उदाहरण—

एक शुद्ध गोल बनाके उस पर किसी एक ठाँव में उत्तर भुज का एक चिह्न करके उस के सामने ही गोल पर दूसरा एक दक्षिण भुज का चिह्न करना । फिर उन दोनों भुजों से समान अन्तर पर एक निरक्षदेश अङ्कित करके सोलह रूपस परिधि और १२ मध्याह्न रेखा अङ्कित करना और उन मध्याह्न रेखाओं में किसी एक को मुख्य रेखा अर्थात् लण्डन की मध्याह्न रेखा ठहराना । फिर कृत्रिम गोल पर इस मुख्य रेखा के किसी बिन्दु पर लण्डन का चिह्न किया जावे सो ठहराना चाहिये । जो पृथिवी के पृष्ठ पर लण्डन से उत्तर भुज तक अन्तर माप सकते तो उस बिन्दु को ठहरा सकते । परन्तु आज तक कोई भुज तक जा नहीं सका । इस लिये उस बिन्दु को ठहराने के लिये जो आकाश से सम्बन्ध रखे ऐसा कोई दूसरा प्रकार यहाँ अवश्य लगाना चाहिये ॥

आकाश की ओर देखने से यह रूपस दिखाई देता है कि पृथिवी के चारों ओर और सब आकाशस्थ पदार्थ भ्रमण करते हैं । अथवा पृथिवी अपने अक्ष पर भ्रमण करती है और इसी से सब खरब पदार्थ हमारी दृष्टि के सामने जाते हैं । इन दोनों कल्पनाओं में पृथिवी के भ्रमण विशेष में लापव है और वैदिक प्रमाण से भी पृथिवी ही का भ्रमण सिद्ध होता है । अब ऐसी

कल्पना करो कि पृथिवी अपने अक्ष पर नित्य एक बार घूमना करती है। तब पृथिवी के केन्द्र से उस का भ्रुव स्थान होके जाने वाली रेखा में जो कोई नक्षत्र होता तो और सब घूमते हुये नक्षत्रों में वही एक स्थिर देख पड़ता। एक घमकीली तारा उन स्थिर स्थान के अति निकट में है इसी लिये उन को भ्रुव तारा कहते हैं। जो देखने वाला पृथ्वी के भ्रुव स्थान पर रहता है उन को यह भ्रुव तारा ठीक शिर पर दिखाई देता है। और जो निरक्ष-देश पर रहता है उस को यह पृथ्वी जहां चारों ओर आकाश में लगी हुई दिखाई देती है जिस को संस्कृत में "क्षितिज" कहते हैं उनमें भ्रुवतारा देख पड़ता है। इसी प्रकार भास्कराचार्य ने ज्ञा "सिद्धान्तशिरोमणि" नामक ग्रन्थ में लिखा है:-

निरक्षदेशे क्षितिमण्डलोपगौ

ध्रुवौ नरः पश्यति दक्षिणोत्तराविति ॥

पृथिवी पर निरक्षदेश और भ्रुव इन के बीच में जो देश अधिक भ्रुव के पास होगा। वहां भ्रुव तारा अधिक ऊंचा देख पड़ेगा। यह अर्थ आचार्य ने जो सि० शि० में लिखा है कि:-

**उदग्दिशं याति यथा यथा नरस्तथा तथा खान्ततमृक्ष
मण्डलम् । उदग् ध्रुवं पश्यति चोन्नतं क्षितेरिति ॥**

अब यह भ्रुव तारों की ऊंचाई एक घट में हर एक क्षेत्रज्ञ नाप सकता है और इस ऊंचाई में जितने अंश होते हैं वे ही निरक्ष से भूमि पर अंश हैं। अर्थात् "अक्षांश" हैं। यों लगहन में अक्षांश ठहरा के कृत्रिम गोल पर मुख्य रेखा में निरक्ष से उत्तर की ओर "अक्षांशान्तर" पर लगहन का चिह्न करना। इस प्रकार से अथवा इस के सहायी और किसी प्रकार से और सब स्थानों के वास्तविक "अक्षांश" ज्ञात होते हैं। परन्तु केवल अक्षांशों से प्रत्येक स्थान का निश्चय नहीं होता इस लिये पृथिवी के पृष्ठ पर जो स्थान हैं उन के देशान्तर जानने की रीति का अवश्य विचार करना चाहिये। पृथिवी अपने अक्ष पर ६० घड़ी में एक बार घूमती है और ६० घड़ी का ३६० वां भाग १० पल होते हैं। इस लिये इस से यह ज्ञान पड़ता है कि जो स्थान मुख्य रेखा से पूर्व में एक अंश पर हैं वे सब मुख्य रेखा के मध्याह्न काल से दश पल पहिले सूर्य के नीचे आते हैं अर्थात् वहां तब मध्याह्न होता है और जो स्थान मुख्य रेखा से पश्चिम एक अंश पर है, वहां मुख्य रेखा के मध्याह्न काल से दश पल पीछे मध्याह्न होता है। इसी प्रकार से जो स्थान पूर्व में दो अंश के अन्तर पर हैं, वहां २० पल पहिले मध्याह्न होता है।

यों ही आगे भी। कृत्रिम गोल पर १२ मध्याह्न वृत्त खिंचे रहते हैं। इमी लिये दो २ वृत्तों के बीच में पन्द्रह २ अंश रहते हैं और १० पलों को जब पन्द्रह में गुणते हैं तब १५० पल अर्थात् अढ़ाई घड़ी होती है। अढ़ाई घड़ी की एक होरा होती है। इन लिये उन मध्याह्न वृत्तों को "होरा वृत्त" भी कहते हैं। अब जिस स्थान का देशान्तर ठहराना हो उस का मध्याह्न काल वेध मेयूक्त प्रकृत है। और उसी क्षण में जो मुख्य रेखा का भी काल ज्ञात हो ती एक सुलभ गणित से वृष्ट स्थान का देशान्तर यूक्त पड़ेगा। अब इतना ही करना चाहिये कि वृष्ट स्थान का मध्याह्न काल और लग्न का मध्याह्न काल इन दोनों का अन्तर जानके दश २ पलों का एक २ अंश गिनना और वे पूर्व वा पश्चिम जैसे हों वैसा देशान्तर कहना जैसा कि निर्दिष्ट "पुर" के मध्याह्न काल में लग्न में ११ अंश हों तां निर्दिष्ट पुर में १५ पूर्व देशान्तर जानना और जो लग्न में एक यजा हो तो निर्दिष्ट पुर में १५ पश्चिम देशान्तर जानना। लग्न का काल जानने के अनेक प्रकार हैं। उन में एक सुलभ प्रकार यह है कि शुद्ध अर्थात् दोषरहित एक कालमापक यन्त्र पास रखके उसे लग्न में दृष्ट काल पर लगाके उस को वहां से पृथिवी के इतरभाग में ले जाना तब जब तक कि वह यन्त्र शुद्ध प्रकार से चलता है तब तक उस पर से लग्न का काल ज्ञात होगा। इस प्रकार घड़ी आदि यन्त्र बनाने की विधि हमारे शिल्प शास्त्र में है, परन्तु इस के यह ग्रन्थ नहीं मिलते हैं, यही नाय (जहाज) जो समुद्र में चलती हैं, उन पर देशान्तर जानने के लिये एक कालमापक यन्त्र रहता है। यन्त्रतांश बूझने के लिये एक यन्त्रांश नामक यन्त्र रहता है। इन से अज्ञांश जानने के लिये घुवतारा वा और किसी सस्यपदार्थ के दक्षतांश जापते हैं। तब नीकाध्यक्ष को कृत्रिम गोल पर से यह सब जान पड़ता है कि हम समुद्र के पृष्ठ पर किम ठाँव में हैं और हम को वृष्ट घाट पर पहुँचने के लिये किस दिशा में चलना चाहिये। ऐसी कल्पना करो कि मुख्य रेखा जहाँ निरक्ष में लगी है वहाँ नीका है। तब वहाँ दृष्ट हुआ मध्याह्न और कालमापक यन्त्र से ज्ञात हुआ लग्न का मध्याह्न ये दोनों अवश्य एक ही काल में होने अब वह नाव निरक्ष देश पर पश्चिम की ओर उतनी दूर तक गई जहाँ दृष्ट मध्याह्न काल लग्न के मध्याह्न काल के पीछे १० पल पर होवे। तब वहाँ अंश पश्चिम देशान्तर होगा और उस नाव का गमन पश्चिम की ओर अनुमान ३० कोश होगा। परन्तु जो नाव ४५२ अज्ञांशों के स्पष्ट परिधि पर अपांत

निरस्त और ध्रुव इन के मध्य मार्ग पर चले ती काल में दश पल अन्तर होने से जो एक देशान्तरांश होता है, वह ३० कोश से न्यून ही कोश चलने से होगा। इसी प्रकार से और उत्तर की ओर देशान्तरांश की लम्बाई और छोटी रहती है। यह सब पृथिवी की गोलत्व कल्पना पर जैसी घटना होती चाहिये तदनुसार ही होती है। पृथिवी गोल है। यह कल्पना नाश चलाने की जितनी रीतियां हैं उन सबों का मूल है और इन रीतियों से नाविक को कोई बड़ी भूल कभी नहीं होती। इस लिये नाविक लोग जो पृथिवी का आकार मानते हैं उस से और भ्रान्ति का उस का आकार होना असम्भवनीय है ॥

विधि ७

किसी निर्दिष्ट स्पष्ट परिधि पर एक देशान्तरांश में कितने कोश होते हैं यह जानने के लिये नियम

निर्दिष्ट स्पष्ट परिधि पर दो होरा वृत्तों के बीच में जितना अन्तर होगा वतना निरस्त पर नापके उस में कितने अंश अन्तर्गत होते हैं, सो देख लेना। फिर उस अंश संख्या को दो से गुण देना। वतने कोश निर्दिष्ट स्पष्ट परिधि पर एक देशान्तरांश की लम्बाई होती है। सूर्य जो पर्याय से फिर २ उसी मध्याह्न वृत्त पर आता है, इसी से प्रायः "काल गति" की गिनती होती है। इस से किसी मनुष्य का पृथिवी के पृष्ठ पर मध्याह्न वृत्त बदलने से कुछ वस्तुकारिक घटना होती हैं ॥ उदाहरण—ऐसी कल्पना करो कि कोई एक मनुष्य पृथिवी को ६० घड़ी में एक प्रदक्षिण कर सकता है और पृथिवी के अपने अक्ष पर घूमने से साठ घड़ी में उस की चारों ओर में सूर्य का भ्रमण देख पड़ता है इस लिये वह मनुष्य अपनी गति से किसी स्थान को मध्याह्न काल में छोड़ पश्चिम की ओर चलना हुआ सर्वदा सूर्य के नीचे रह सकेगा। अर्थात् उस को साठों घड़ी मध्याह्न ही बना रहेगा और वह मनुष्य जिस स्थान से चला यहां के रहने वाले मनुष्य को उतने काल में दो मध्याह्न होंगे अर्थात् वह एक दिन गिनेगा और ये दो मनुष्य जब फिर मिलेंगे तब उन दोनों की गिनती में एक दिन का अन्तर होगा ॥

यहां एक पुरुष की साठ घड़ी में पृथिवी को प्रदक्षिण करने का सामर्थ्य मानके दोनों की गिनती में एक दिन का भेद दिखलाया। परन्तु उस प्रदक्षिण करने वाले मनुष्य को साठ ही घड़ी में एक प्रदक्षिण करना आवश्यक नहीं है। वह चाहे उतना धीरे चले और उस के चलने में चाहे उतना विराम

होती भी वह मनुष्य प्रदक्षिण करके जब फिर अपने स्थान पर आयेगा तब उस की गिनती में एक दिन न्यून होगा ॥ उदाहरण—

ऐसी कल्पना करो कि कोई मनुष्य अपने स्थान से पश्चिम की ओर एक देशान्तरांश पर गया, तब उस के छोड़े हुये स्थान में जिस काल पर जितने मध्याह्न होंगे, उस काल के दश पल पीछे उस मनुष्य को वहां २ उतने मध्याह्न होंगे, यह स्पष्ट है। इस गणित से जब वह मनुष्य अपने स्थान से ९० अंश पर पश्चिम में जा रहेगा, तब उस को अपने स्थान के मध्याह्न से पन्द्रह घड़ी पीछे उतने मध्याह्न होंगे। योंही जब वह १८० अंश पर जायेगा तब उस को ३० घड़ी पीछे उतने मध्याह्न होंगे। जब वह २७० अंश पर जा रहेगा, तब उस को ४५ घड़ी पीछे उतने मध्याह्न होंगे और जब ३६० अंश पर जायेगा, अर्थात् फिर अपने स्थान पर आ पहुँचेगा, तब उस को साठ घड़ी पीछे उतने मध्याह्न होंगे। इसी लिये वहां उस की गिनती में एक दिन न्यून होगा फिर वह चाहे उतना धीरे चला हो और उस के चलने में चाहे उतना विराम हुआ हो। यों ही जो कोई मनुष्य किसी स्थान से पूर्व की ओर चले तो उस को मध्याह्न उत्तरोत्तर पहिले ही होंगे। तब जब उस की एक प्रदक्षिणा होगी तब उस की गिनती में एक दिन बढ़ जायगा ॥

पृथिवी को प्रदक्षिण करके आये हुये लोगों से जो लोग मिले हैं उन का उन आये हुये लोगों के साथ दिन बार के विषय में प्रायः विवाद हुआ है ॥ कृत्रिम गोल को उष्ण में रखने के लिये यों कि जिस से

वह पृथिवी की वास्तविक स्थिति दिखावे

नियम—पहिले खुले स्थान में समान भूमि पर ककांटक (कम्पास) से एक एक रेखा करके उस के केन्द्र स्थान से एक मूकपाका शुरु रखना। तब उस शङ्कु के अग्र की छाया मध्याह्न के पहिले और पीछे उस वृत्त के परिधि में जहां लगे वहां दो चिह्न करना। फिर उन चिह्नों पर से एक सरल रेखा करके उस रेखा के किसी स्थान पर उस भूमि में एक लम्ब रेखा करना। वह लम्ब रेखा उस स्थान की याम्योत्तर (दक्षिण उत्तर) रेखा कहावे। तब उस भूमि पर कृत्रिम गोल को यों रखना कि जिस में उस का आधार वृत्त ठीक उस याम्योत्तर रेखा पर रहे। फिर अपने रहने के स्थान का जो चिह्न गोल पर होगा, उसे आधार वृत्त के नीचे ले आके ध्रुवस्थान की अक्षांशों,

ध्रुवस्थान के चारों ओर २३। २७ अन्तर पर जो वृत्त होते हैं उन को क्रम से "उत्तर कदम्बवृत्त" और "दक्षिण कदम्बवृत्त" कहते हैं। दो अयनवृत्त और दो कदम्बवृत्त इन चार वृत्तों से भूगोल के पांच विभाग होते हैं। उन को भूगोल के खण्ड कहते हैं। जो खण्ड दो अयनवृत्तों के बीच में है उसे उष्ण-खण्ड कहते हैं क्योंकि पृथ्वी के और प्रदेशों की अपेक्षा से वहां उष्णता विशेष रहती है। ध्रुवस्थान के चारों ओर कदम्बवृत्तों के भीतर जो देश हैं उन को शीतखण्ड कहते हैं क्योंकि वहां शीत बहुत रहता है। और उष्ण खण्ड और शीत खण्ड इन के बीच में जो खण्ड हैं उन को क्रम से उत्तर और दक्षिण समशीतोष्णखण्ड कहते हैं ॥

भुवन संस्था

आधुनिक सिद्धान्तानुसार जिस पृथिवी पर हम लोग रहते हैं यह आकाश में सूर्य के भाकर्षण पर ठहरी है। इस के ऊपर अन्तरिक्ष जिस में मेघ, वायु, चन्द्रमा हैं और उस के ऊपर मङ्गलादि ग्रह एवं सूर्य और सब से ऊपर नक्षत्र नष्टल है। अब हम वेद के प्रमाण देते हैं:-

योस्य प्रथमः प्राणः ऊर्ध्वो नामासौ स अग्निः ॥३॥

योस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः ॥४॥

योस्य तृतीयः प्राणोऽभ्यूढो नामासौ स चन्द्रमाः ॥५॥

योस्य चतुर्थः प्राणो विभुर्नामाथ स पवमानः ॥६॥

योस्य पञ्चमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा "आपः" ॥७॥

योस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः ॥८॥

योस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥९॥

योस्य प्रथमो व्यानः सेर्यं भूमिः ॥ १ ॥

योस्य द्वितीयो व्यानस्तदन्तरिक्षम् ॥ २ ॥

योस्य तृतीयो व्यानः सा द्यौः ॥ ३ ॥

योस्य चतुर्थो व्यानस्तानि नक्षत्राणि ॥ ४ ॥

(अथर्व सं० काण्ड १५ । १५ । १७)

इन मन्त्रों से ईश्वर प्राप्त नामधारीने विराट्स्वरूप में भुवनसंस्था का उपदेश किया है—अर्थात्

- १-नक्षत्रमण्डल या राशिचक्र—सब से ऊपर । इस के नीचे
- २-द्वीः लोक—जहाँ सूर्य एवं अन्योन्य मङ्गलादि ग्रह हैं । इस के नीचे
- ३-अन्तरिक्ष लोक—जहाँ चन्द्रमा है । एवं इसी अन्तरिक्ष में चन्द्रमा के नीचे
- ४-वायुमण्डल, जल, मेघ, इन्द्रधनुष आदि का स्थान है—और सब से नीचे
- ५-प्रजा वा भूमि है । आधुनिक विद्वानों ने निश्चय किया है कि ४५ मील से १०० पर्यन्त ऊपर को वायुमण्डल है जिस में मेघ विद्युली आदि हैं । इसी प्रकार हमारे नास्कराचार्य आदि ने भी लिखा है:-

भूमेर्वहिर्द्वादश योजनानि । भूवायुरत्राम्बुविद्युदादयम् ॥२॥
(सि० शि० मध्यगति वासना)

दोनों आर्य ऋषि, लल्ल ने भी ऐसा लिखा है अर्थात् भूमि से ऊपर १२ योजन या ६० माइल पर वायुमण्डल है इसी में निर्पात, उल्का, मेघ, इन्द्रधनुष, धीज, गन्धर्व नगर ॥

निर्घातोल्का घनसुरधनुर्विद्युदन्तः कुवायोः ।

संदृश्यन्ते खनगरपरीवेपपूर्वम् ॥

पृथिवी के ऊपर जो वायु हैं वह सात प्रकार के हैं । आवह, प्रवह, उद्वह, संवह, शुवह, परिवह और परावह । इन्हीं सात वायुओं को सात पाताल या जो द्वीप हैं उन से गुरुन करने से ४९ होते हैं । वस्तुतः एक ही है परन्तु स्थान भेद से भिन्न ३ संख्या की गई है । इसी को पुराण वाद्यों ने ४९ करोड़ वायु लिखा है “कोटि” का अर्थ प्रकार है ४९ कोटि अर्थात् ४९ प्रकार के । इसी “कोटि” को करोड़ संख्या अर्थ समझ कर पौराणिक महात्माने लिख सारा है ॥

आवहः प्रवह उद्वहस्तथा संवहः सुपरिपूर्वकौ चही ॥

सप्तमस्तु पवनः परावहः कीर्तितः कुमरुदावहोपरैः ॥ १॥

(धीवृद्धिद तन्त्र ग्रहभ्रमसंस्था) ॥

सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णुस्तिष्ठन्ति प्रदिशा

विधर्मणि । ऋ० सं० १ । १६४ । ३५

पृथुस्थान के चारों ओर २३। २९ अन्तर पर जो वृत्त होते हैं उन को क्रम से "उत्तर कदम्बवृत्त" और "दक्षिण कदम्बवृत्त" कहते हैं। दो अयनवृत्त और दो कदम्बवृत्त इन चार वृत्तों से भूगोल के पांच विभाग होते हैं। उन को भूगोल के खण्ड कहते हैं। जो खण्ड दो अयनवृत्तों के बीच में है उसे उष्ण-खण्ड कहते हैं क्योंकि पृथ्वी के और प्रदेशों की अपेक्षा से वहां उष्णता विशेष रहती है। पृथुस्थान के चारों ओर कदम्बवृत्तों के भीतर जो देश हैं उन को शीतखण्ड कहते हैं क्योंकि वहां शीत बहुत रहता है। और उष्ण खण्ड और शीत खण्ड इन के बीच में जो खण्ड हैं उन का क्रम से उत्तर और दक्षिण समशीतोष्णखण्ड कहते हैं॥

भुवन संस्था

आधुनिक सिद्धान्तानुसार जिन पृथिवी पर हम लोग रहते हैं वह आकाश में सूर्य के भाकर्षण पर ठहरी है। इस के ऊपर अन्तरिक्ष जिन में मेघ, वायु, चन्द्रमा हैं और उस के ऊपर मङ्गलादि ग्रह एवं सूर्य और सब से ऊपर नक्षत्र मण्डल है। अब हम वेद के प्रमाण देते हैं—

योस्य प्रथमः प्राणः ऊर्ध्वो नामासी स अग्निः ॥३॥

योस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासी स आदित्यः ॥४॥

योस्य तृतीयः प्राणोऽभ्यूढो नामासी स चन्द्रमाः ॥५॥

योस्य चतुर्थः प्राणो विभुर्नामाथ स पवमानः ॥६॥

योस्य पञ्चमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा "आपः" ॥७॥

योस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे यशवः ॥८॥

योस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥९॥

योस्य प्रथमो व्यानः सेयं भूमिः ॥ १ ॥

योस्य द्वितीयो व्यानस्तदन्तरिक्षम् ॥ २ ॥

योस्य तृतीयो व्यानः सा द्यौः ॥ ३ ॥

योस्य चतुर्थो व्यानस्तानि नक्षत्राणि ॥ ४ ॥

(अथर्व सं० काण्ड १५ । १५ । १७)

इन सन्त्रों से ईश्वर आत्म नामधारीने विराट्स्वरूप में भुवनसंस्था का उपदेश किया है-अर्थात्

- १-नक्षत्रमण्डल वा राशिचक्र-सब से ऊपर । इस के नीचे
- २-द्वीः लोक-जहां सूर्य एवं अन्यान्य मङ्गलादि यह हैं । इस के नीचे
- ३-अन्तरिक्ष लोक-जहां चन्द्रमा है । एवं इसी अन्तरिक्ष में चन्द्रमा के नीचे
- ४-वायुमण्डल, जल, मेघ, इन्द्रधनुस् आदि का स्थान है-और सब से नीचे
- ५-प्रजा वा भूमि है । आधुनिक विद्वानों ने निश्चय किया है कि ४५ नील से १०० पर्यन्त ऊपर को वायुमण्डल है जिस में मेघ विजुली आदि हैं । इसी प्रकार हमारे भास्कराचार्य आदि ने भी लिखा है:-

भूमेर्वहिर्द्वादश योजनानि । भूवायुरत्राम्बुविद्युदादयम् ॥२॥
(सि० शि० मध्यगति वासना)

दोनों आर्य मह, लक्ष ने भी ऐसा लिखा है अर्थात् भूमि से ऊपर १२ योजन या ६० माइल पर वायुमण्डल है इसी में निर्धात, उल्का, मेघ, इन्द्र-धनुस्, वीज, गन्धर्व नगर ॥

निर्धातोलका घनसुरधनुर्विद्युदन्तः कुवायोः ।

संदृश्यन्ते खनगरपरीवेषपूर्वम् ॥

पृथिवी के ऊपर जो वायु हैं वह सात प्रकार के हैं । आवह, प्रवह, उद्वह, संवह, ध्रुवह, परियह और परावह । इन्हीं सात वायुओं को सात पाताल या जो द्वीप हैं उन से गुणन करने से ४८ होते हैं । वस्तुतः एक ही है परन्तु स्थान भेद से सिद्ध २ संख्या की गई है । इसी को पुराण वालों ने ४८ करोड़ वायु लिखा है "कोटि" का अर्थ प्रकार है ॥८ कोटि अर्थात् ४८ प्रकार के । इसी "कोटि" को करोड़ संख्या अर्थ समक कर पौराणिक महात्माने लिख सारा है ॥

आवहः प्रवह उद्वहस्तथा संवहः सुपरिपूर्वकौ वही ॥

सप्तमस्तु पवनः परावहः कीर्तितः कुमरुदावहोपरैः ॥ १॥

(धीवृद्धिद तन्त्र ग्रहभ्रमसंस्था) ॥

सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णुस्तिष्ठन्ति प्रदिशा
विधर्मणि । ऋ० सं० १ । १६४ । ३५ ।

भाय यं - चन्द्रमा और यशुदिको की कक्षा क्रान्ति वृत्त के आम पास है, यह कक्षी क्रान्तिवृत्त के उत्तर या दक्षिण क्रान्तिवृत्त को काट कर जाता है जिन को " विक्षेप " कहते हैं । यह विक्षेप ३१ अंश उत्तर या दक्षिण में रहता है । यह क्रान्ति प्रदेश १५ अंश चौड़ा है ।

भूगोलरेखा वर्णन

वैदिक प्रमाणों से खगोल एवं भूगोल
की रेखादि का वर्णन

यदस्य दक्षिणमक्षयसौ स आदित्यो यदस्य सव्य-
मक्षयसौ स चन्द्रमाः ॥२॥ अथर्ववेदे । काण्डे १५

अर्थात् यत्न नामधारी ईश्वर के दक्षिण आंख भानो सूर्य है बाईं आंख चन्द्रमा, दिन रात नासिका, दिति और अदिति (आकाश के दो खण्ड पूर्व और पश्चिम) दोनो कपाल और संवत्सर शिर है । इस उपदेश से हम को सूर्योद की सत्त्वा, दिन रात का होना, आकाश के विभाग एवं नक्षत्रों का घनाभा आदि का ज्ञान होता है ॥

प्रपितृयाणं पन्थां जानाति प्रदेवयानम् ।

(अथर्ववेदे १५ । १२ । ५)

अर्थात्-सूर्य जब उत्तरायण एवं दक्षिणायन होता है उस को क्रम से उत्तरायण को " देवयान " एवं दक्षिणायन को " पितृयान " कहते हैं ॥

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः । ते देवा ऋतवः ।

शरद्हेमन्तः शिशिरस्ते पितरः स (सूर्यः) ।

यत्रोदगावर्त्तते देवेषु तर्हि भवति ।

यत्र दक्षिणावर्त्तते तर्हि पितृषु भवति ॥

(शतपथब्राह्मणे २ । १ । ३)

साधारणः-वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा इन ऋतुओं में सूर्य उत्तरायण होने के कारण देवभाग (उत्तर मेरु) में होता है और शरद्, हेमन्त, शिशिर इन ऋतुओं में पितृलोक (दक्षिण मेरु) में होता है अर्थात् दक्षिणायन ॥

यथा वै पुरुष एवं विपुवांस्तस्य यथा दक्षिणोऽर्धं
एवं पूर्वार्धं विपुवतो यथोत्तरार्धं एवमुत्तरार्धं
विपुवतस्तस्मादुत्तर इत्याचक्षते प्रवाहुक् सतः
शिर एवं विपुवान् ॥ ऐतरेय ब्राह्मणे १८-१ २२ ।

भावार्थ—जिस प्रकार पुरुष होता उसी प्रकार विषयान् सूर्य होता है। जिस प्रकार पुरुष के शरीर या शिर के पूरार्ध और दक्षिणार्ध होते इसी प्रकार प-
विपुवार्ध एव उत्तरार्ध होते हैं अर्थात् समान दो २ भाग होते हैं। इसी कारण
{ जब सूर्य मेघ एवं कन्या राशिस्थ दीखता है तो उस समय अहोरात्र धरा-
भर होता है ॥

ये ते पन्थाः सवितः पूर्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे ॥

(यजुर्वेद अ० ३४ । १५)

भावार्थ—पृथिवी के भ्रमण मार्ग को रविमार्ग वा क्रान्तिवृत्त कहते हैं,
जिस पर सूर्य प्रत्येक राशि में जाते दीखता है ॥

पडाहुःशीतान् पडु मास उष्णानृतम् ॥

(अथर्ववेद १८ । ५ । १० । १३)

भावार्थ—छः महीने नूर्य के उत्तरायण होने के कारण गर्मी रहती है ।
एवं छः मास के दक्षिणायन होने से शीत होता है ॥

तस्मादादित्यः पण्मासो दक्षिणेनैति पडुत्तरेण ॥

(तैत्तिरीय ब्राह्मणे ६ । ५ । ३)

भावार्थ—विपुवती रेखा से छः मासपर्यन्त सूर्य दक्षिण जाते दीखता है,
एवं छः मासपर्यन्त उत्तरायण में उत्तर की ओर जाते दीखता है ॥

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।

तस्मिन्साकं त्रिशता न शङ्कुवोर्पिताः पट्टिर्न चलाचलासः ॥

(ऋग्वेद १ । १६४ । ४८)

भावार्थ—३६० अंश का एक चक्र (सवत्सर वा क्षेत्र) होता है, जिस में
तीन नाभि (गर्मी, शर्दी, वर्षा ऋतु वा भूत, भविष्यत्, धृत्तमान) हैं । उक्त
३६० अंश समाप्त और अविचल है ॥

पष्टिं सहस्राश्वस्यायुतासनमुष्ट्रोणां विंशतिं शता ।
दश श्यावीनां शता दश त्र्यरूपीणां दश गर्वां सहस्रा ॥

(ऋ० स० ८ । ४६ । २२)

भाषार्थ - और प्रत्येक ३६० में साठ २ कलायें (या दण्ड) होती हैं ।
अर्थात् $360 \times 60 = 21600$ कला ॥ २१६०० कला

त्वमेताञ्जनराज्ञो द्विर्दशावन्धुना सुश्रवसोपजग्मुः ।
पष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण रथया दुष्प-
दावृणक ॥ ऋ० सं १ । ४३ । ९ ॥

भाषार्थ - और प्रत्येक कला में साठ २ विक्ला (या पल) होती है ।
अर्थात् $21600 \times 60 = 1296000$ विक्ला ॥

योऽश्वेभिर्वहतेवस्त उस्तास्त्रिः सप्त सप्ततीनाम् ॥ २६ ॥
अधप्रियमिपिराय पष्टिं सहस्रासन्द्रम् ॥ २९ ॥

(अथर्व स० ८ । ४६ । २९)

भाषार्थ - और प्रत्येक विक्ला में साठ २ अमुकला (विपल) होती है
अर्थात् $1296000 \times 60 = 77760000$ अमुकला ॥

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं
व्यतीरवीविपत् ॥ ऋ० सं० १ । ११५ । ६

भाषार्थ - ३६० अंश का एक चक्र होता है और इस में चार पाद होते
हैं । प्रत्येक पाद में नव्वे २ (९०) अंश होते हैं, जिन को वृत्तपाद कहते हैं ॥

अनवदास्त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परियन्ति सदाः ।

(ऋ० स० १ । १२३ । ८)

भाषार्थ - जहाँ पर ठीक सूर्योदय होता है उस स्थान से (पश्चिम) पर
३० योजन पर उष प्रकाश होता है (अरुणोदय से पहिले जो प्रकाश होता
है) इन सन्ध से दृश्यर देशान्तर लाने और सूर्य एक ही समय में मध्यत्र उदित
वा अस्तमित नहीं होता, इस का उपदेश करता है ॥ ॥ इति ॥

ज्योतिष के ग्रन्थों में बहुत से साङ्केतिक दुर्गह शब्दों से संख्यायें निर्देश की गई हैं, उन प्रत्येक का अर्थ—

साङ्केतिक शब्द	ज्ञापार्थ	साङ्केतिक शब्द	ज्ञापार्थ
अत्यष्टि	१७	इन	सूर्य १२
अज	१	इषु	५
अनल	४	ईक्षण	२
अश्व	शून्य, ०	ईला	१
असि	२	ईश	११
अङ्ग	६	उरग	८
अकिं	शतैश्वर	उदु	नक्षत्र २७,
अन्यत्र	०	अक्ष	नक्षत्र २७
अर्क	१२	अनु	६
अम्बुधि	४	ककुम्	१०
अङ्क	८	कर	२
अवधि	४	काल	६
अग्नि	३	कु	१
अद्रि	७	कुग	मङ्गल
अग	७	कुञ्जर	८
अरुण	१२	हमा	१
अश्वि	२	कति	१
अचल	७	कृत	४
अष्टि	२०	र	शून्य ०
आशा	८	रुग	८
आत्म	जोड़ा हुआ	रोट	५८
आकर	मङ्गल	रात्र	८
आहत	युक्ति	गी	८
इक्षु	सहस्रपति	गुण	३
इन्दु	१	ग्रह	८
इन्द्र	१४	घन	१७
इभ	८	घान	गुणन

(१४८)

ज्योतिष के ग्रन्थों में बहुत से साङ्केतिक दुरुह शब्दों से संख्यायें निर्देश की गई हैं, उन प्रत्येक का अर्थ—

साङ्केतिक शब्द	भाषार्थ	साङ्केतिक शब्द	भाषार्थ
चन्द्र	१	नन्द	९
छिद्र	०	नभस्	०
ज	सुध	नयन	२
जलधि	॥	निशाकर	१
जिग	२४	निगम	४
जिष्णु	१४	पक्ष	२
ज्यलन	३	पर्वत	७
तक्ष	६	पयोधि	४
तक्ष	२५	पावक	३
मान	४९	पृथिवी	१
निधि	१५	प्रज्ञाकर	१२
त्रि	३	वाण	५
गुरङ्ग	७	याहु	२
दन्त	३२	भ	सप्तम २७
दशन	३२	भुज	९
दहन	३	भुजङ्ग	८
दत्त	२	भू	१
दिव्	० शुभ	भूधर	३
दिन	३०	भूप	१६
द्रुक्	२	भूमि	१
द्विप	८	भूमिधर	७
द्यौचर	५४	शोम	सप्तल
द्वि	२	मरुत्	४९
देव	३३	महीधर	७
धरणी	१	महीन	सप्तल
नख	२०	मार्गण	५
मग	७	मुनि	३
नय	८	यम	२

ज्योतिष के ग्रन्थों में बहुत से साङ्केतिक दुरूह शब्दों से संख्यायें निर्देश की गई हैं, उन प्रत्येक का अर्थ—

साङ्केतिक शब्द	भाषार्थ	साङ्केतिक शब्द	भाषार्थ
यमल	२	शिव	११
युगल	२	शिसी	३
युग	४	शिलीमुग	५
रन्ध्र	९	शेषित	विभक्त
रद	३२	शैल	७
रस	६	यटु	६
रवि	१२	सर्प	८
राम	३	सागर	४
रुद्र	११	सायक	५
रूप	१	सितरुक्	१
लोपम	२	सिद्ध	२४
वन्दि	३	सितस्वित	१
वसु	८	सुर	३३
यसुधा	१	सूर्य	१२
यिपत्	शून्य ०	सीरि	शनि
वाहि	४	हत	शुभिव
यिबर	अन्तर	हिनांशु	१
विश्व	१३	हस्ती	८
विधु	१	कुतमुक्	३
वीतिहीन	३	हम	द्विक
व्यास	८	हीन	घटाना
व्योम	० शून्य		
शर	५		
शशि	१		
शशाङ्क	१		
श्रुति	४		
शूली	११		



सूर्यसिद्धान्त भाषानुवादः

—२२८७६१३६१२८—

अचिन्त्याव्यक्तरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने । समस्तज-
गदाधारमूर्त्ये ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥ अल्पावशिष्टे तु
कृते मयनामा महासुरः । रहस्यं परमं पुण्यं जिज्ञा-
सुर्ज्ञानमुत्तमम् ॥ २ ॥ वेदाङ्गमयमखिलं ज्योतिषां गति-
कारणम् । आराधयन्निवस्यन्तं तपस्तेपे सुदुश्चरम् ॥ ३ ॥
तोषितस्तपसा तेन प्रीतस्तस्मै वरार्थिने । ग्रहाणां चरितं
प्रादान्मयाय सविता स्वयम् ॥ ४ ॥ विदितस्ते मया भाव-
स्तोषितस्तपसा ह्यहम् । दद्यां कालाश्रयं ज्ञानं ग्रहाणां
चरितं महत् ॥ ५ ॥ न मे तेजःसहः कश्चिदाख्यातुं ना-
स्ति मे क्षणः । मदंशः पुरुषोऽयं ते निःशेषं कथयिष्यति
॥ ६ ॥ इत्युक्तवान्तर्दधे देवः समादिश्यांश्चात्मनः । स
पुमान्मयमाहैदं प्रणतं प्राञ्जलिस्थितम् ॥ ७ ॥ शृणुष्वैक-
मनाः पूर्वं यदुक्तं ज्ञानमुत्तमम् । युगे युगे महर्षीणां स्व-
यमेव विवस्वता ॥ ८ ॥ शास्त्रमाद्यं तदेवेदं यत्पूर्वं प्राह
भास्करः । युगानां परिवर्त्तन कालभेदोऽत्र केवलम् ॥ ९ ॥

भाषानुवाद—उस ब्रह्मको जिस का रूप ध्यान में नहीं आसकता और
न किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो सकता है, जिस में सब रज तम आदि प्रकृति
के गुण नहीं हैं और नित्य ज्ञान सुखदि गुण वर्त्तमान हैं और जो अखिल
जगत् की धारण करता है, नमस्कार है ॥ १ ॥ सत्ययुग के अन्त से चौड़े समय
पहिले मयनामक महा अक्षर ने यह गूढ़ पुण्यजनक सब से श्रेष्ठ और उत्तम

ज्ञान ॥ २ ॥ जो सब वेदाङ्गों (वेद के छः अङ्ग हैं, श्रिता, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः शास्त्र और ज्योतिष) में अग्रणी है और ग्रह नक्षत्रों की गति का कारण है, जानने की इच्छा से नारायण की आराधना करके अतिकठोर परिश्रम या तप किया ॥ ३ ॥ उस के तप से प्रसन्न होकर वर चाहने वाले मय को ग्रहों का सम्पूर्ण ज्ञान सूर्य ने दिया ॥ ४ ॥ सूर्य ने कहा—हे मय ! मैं तेरा प्रयोजन जाना और मैं तेरे तप से प्रसन्न हुआ, मैं तुम्हें जो काल के आश्रय जो ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान है वह दूंगा ॥ ५ ॥ मेरा तेज काँई नहीं सम्हाल सकता और मुझे उपदेश करने का अवकाश भी नहीं इस लिये यह पुरुष जो मेरा अंश है तुम्हें से सम्पूर्ण शास्त्र कहेगा ॥ ६ ॥ यह कह कर सूर्य अपने अंश पुरुष को आज्ञा देकर अन्तर्धान हो गया और उस पुरुष ने मय से जो हाथ जोड़े और मन्त्र हुआ सड़ा था, यह कहा ॥ ७ ॥ हे मय ! जो उत्तम ज्ञान स्वयं सूर्य ने पूर्व युग में महर्षियों को उपदेश किया था उस को एकाग्र हो अवगण करो ॥ ८ ॥ यह बहुत प्राचीन शास्त्र है जो पूर्वकाल में सूर्य ने वर्णन किया है और प्राचीन और आधुनिक शास्त्रों में युगों के बदलने का कारण केवल काल का भेद है। अर्थात् ग्रहादिकों की गति विधि आदि निरूपण के नियम एकसे रहते हैं परन्तु समय २ परबोध (Observation) द्वारा ग्रहों को देखने से कुछ बीज (Correction) देना पड़ता है, इस कारण कुछ २ काल में भेद पड़ता है ॥ ९ ॥

विशरण—श्लोक २-७ अक्षर जाति के मय ने खगोलस्थ पदार्थों के सम्पत् ज्ञान के लिये “सावित्र विद्या” (ज्योतिष शास्त्र) में कठिन परिश्रम (Study) किया जिस से प्रथम उस ने सूर्य (जो सारे जगत् में सब से बड़ा पदार्थ एवं केन्द्र स्वरूप है) का निश्चय किया (उस का आकार, गति, वर्ण, भगण आदि) और उसी को मूल मानकर और जगत्स्थ अन्यान्य ग्रह, उपग्रह एवं नक्षत्रादि भ्रमस्त आकाशस्थ पदार्थों का ज्ञान प्राप्त किया । इसी को आलङ्कारिक वर्णन में (सूर्य की तपस्यादि) प्राचीन शैली से लिखा है ॥ ज्योतिष शास्त्र को प्राचीन समय में “सावित्रविद्या” कहते थे इस में प्रमाणः—

“अहीनाद्यत्ययः । सावित्रं विदाश्चकार ॥ १० ॥ सह हंसो भूत्वा ।

स्वर्गलोकमियाय । देवभागो ह श्रीतर्पः । सावित्रं विदाश्चकार

॥१॥ शूपो वा घार्प्ययः । आदित्येन समाजगाम ॥ तै० ब्रा० । ३ । १० । १”

अर्थात् अष्टधा के सावित्री ने सावित्रविद्या को जाना और स्वर्ग

को प्राप्त हुआ और ग्रीतर्ष देवभाग ने सावित्रविद्या को जाना और धार्पण्य शूय ने सावित्रविद्या को जाना और सूर्यके तुल्य (विद्यामें) प्रकाशमान हुआ ॥

श्लोक ६।७।८ के विषय में पाठ भेद है। पूना के आनन्द आश्रम नामक पुस्तकालय में एक टीका रहित पुस्तक है जिस के नं० २८०८ में इस प्रकार पाठ है कि "न तेजःसहः कश्चिदाख्यातुं नास्ति मे क्षणः । नदंशः पुरुषोऽयं ते निःशेषं कथयिष्यति ॥ ६ ॥ तस्मात् त्वं त्वां पुरीं गच्छ तत्र ज्ञानं ददामि ते । रोमके नगरे ब्रह्मशापान्मलेच्छावतारधृक् ॥ ७ ॥ इत्यु-
क्त्वान्तर्दधे देवः" अर्थः—हे भय ! मेरा तेज कोई सह नहीं सकता और मुझे कहने का समय नहीं। यह मेरा अंश पुरुष तुम्हें सब कहेगा। इस लिये तू अपनी नगरी को जा, वहां रोमकनगर में ब्रह्मशाप से मैं मलेच्छावतार लेने वाला हूँ तो वहीं तुझे ज्योतिषशास्त्र का उपदेश करूंगा। यह पाठ सटीक एक पुस्तक में ६ श्लोक नहीं है, एवं दूसरी में दोनों हैं। इस पर निस्तर री० वर्जेश (अंग्रेजी अनुवादक) की सम्मति है कि रामश्लोक ६।७।८ असङ्गत हैं किसी ने गिलाये जान पड़ते हैं। इस का पूरा वर्णन भूमिका में किया गया है, वहां देखिये ॥

लोकानामन्तर्कृतकालः कालोऽन्यः कलनात्मकः ॥ स
द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वान्मूर्त्तश्चामूर्त्त उच्यते ॥१०॥ प्राणादिः
कथितो मूर्त्तस्त्वुत्थादोऽमूर्त्तसंज्ञकः ॥ पङ्क्तिः प्राणैर्वि-
नाडी स्यात्तत्पष्ट्या नाडिका स्मृता ॥ ११ ॥ नाडीप-
ष्ट्या तु नाक्षत्रमहोरात्रं प्रकीर्तितम् ॥ तत्त्रिंशता भ-
वेन्मासः सावनोऽर्कोदयैस्तथा ॥ १२ ॥ ऐन्दवस्तिथि-
भिस्तद्वत्संक्रान्त्या सौर उच्यते ॥ मासैर्द्वादशभिर्वर्षं दि-
व्यं तदहर्कथ्यते ॥ १३ ॥ सुरासुराणामन्योऽन्यमहोरात्रं
विपर्ययात् ॥ तत्पष्टिः पङ्क्तिगुणा दिव्यं वर्षमासुरमेव च
॥१४॥ तद्द्विदशसहस्राणि चतुर्युगमुदाहृतम् ॥ सूर्याब्द-
संख्यया द्वित्रिसागरैर्युताहतैः ॥ १५ ॥ सन्ध्यासन्ध्यांश-

सहितं विज्ञेयं तच्चतुर्युगम् ॥ कृतादीनां व्यवस्थेयं धर्म-
पादव्यवस्थया ॥ १६ ॥ युगस्य दशमो भागश्चतुस्त्रिद्वयेकपट्
गुणः । क्रमात्कृतयुगादीनां पष्ठांशः सन्ध्योः स्वकः ॥ १७ ॥

भाषानुवाद—काल दो प्रकार का है, एक वह जो जगत् की उत्पत्ति स्थिति और नाश का कारण होने से अनन्त है । दूसरा जो ज्ञानगम्य है अर्थात् गणित द्वारा जानने योग्य है । ज्ञानगम्य काल दो प्रकार का है । एक मूर्त या स्थूल है, दूसरा सूक्ष्म (जिस का परिमाण नहीं हो सकता) है ॥ १० ॥ प्राण से लेकर ब्रह्मादि पर्यन्त काल को मूर्त काल कहते हैं । एवं ब्रुति आदि (अति सूक्ष्म काल जो व्यवहार में नहीं आता) को अमूर्त काल कहते हैं । छः प्राण की १ विनाही (पल) एवं ६० विनाही की १ नाही (घड़ी, दुपह) होती है ॥ ११ ॥ ६० नाही का १ नाक्षत्रिक अहोरात्र (दिन + रात्रि) और ३० नाक्षत्रिक अहोरात्र का १ नाक्षत्रिक महीना होता है । एक सूर्य के उदय से लेकर दूसरे सूर्य के उदय पर्यन्त काल को "सावन" (Civil day & night) या "पार्थिव" अहोरात्र कहते हैं और ३० मास अहोरात्र का १ सावन सम्य होता है ॥ १२ ॥ ३० तिथियों का १ चान्द्रमास होता है । संक्रान्ति से संक्रान्ति तक काल का १ सौर मास होता है—और प्रत्येक पूर्वोक्त १२ नाक्षत्र मास का १ नाक्षत्र वर्ष, १२ सावनमास का १ सावनवर्ष, १२ चान्द्रमास का १ चान्द्र वर्ष और १२ सौरमास का १ सौरवर्ष होता है । एवं १२ सौर मास का दिव्य अहोरात्र होता है (देवता और असुर का) ॥ १३ ॥ देव और असुरों का अहोरात्र विपर्यय (वरअक्ष) से होता है अर्थात् जय देवताओं का दिन होता है, तब असुरों की रात्रि होती है । एवं जय असुरों का दिन होता है तब देवताओं की रात्रि होती है । ऐसे दिव्य ३० अहोरात्र का १ दिव्यमास और १२ दिव्य महीनों का १ दिव्य वर्ष होता है ॥ १४ ॥ पूर्वोक्त १२००० दिव्य वर्षों की १ चतुर्युगी (चौकड़ी—युग) होती है । जिस के सौर वर्ष ४३२०००० होते हैं ॥ १५ ॥ वक्तु चतुर्युगी का परिमाण सन्ध्या और सन्ध्यांश मिलाकर है । चतुर्युगी में जो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि क्रम से ४, ३, २ और १ (संख्या से जो आगे गुणन होगा) हैं यह धर्म के ४ चरण की नाई हैं ॥ १६ ॥ युग (पूर्वोक्त १ महायुग या चतुर्युगी) के वर्ष क्रि दशम भाग को ४, ३, २ और १ से गुणा करने से क्रम से कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुग के वर्षों

का परिमाण होगा और इन प्रत्येक युगों के वर्ष परिमाण का उठा भाग अपना २ सन्ध्या और सन्ध्यांश वर्ष होता है जो उसी में मिला है अर्थात् प्रत्येक युगमान वर्ष के उठाभागकेवर्ष दो भाग में से एक भाग आदि सन्धि का वर्ष और दूसरा भाग अन्त सन्धि का वर्ष होता है ॥ १७ ॥

११-वियरण-सेकसह के $\frac{1}{3}390$ भाग की घुटि कहते हैं ॥

१२-एक दिन जिस समय मध्याह्निक रेखा के ऊपर कोई स्थिर तारा दीख पड़ती है उस समय से उस के दूसरे दिन उसी रेखा पर-जिस समय उक्त तारा दीख पड़े, उतने समय को नाक्षत्रिक अहोरात्र कहते हैं ॥

१३-एक दिन के मध्याह्निकाल से उसके दूसरे दिनके मध्याह्निकाल पर्यन्त समय को प्रकृत सौर दिन कहते हैं ॥

१४-पृथिवी को उत्तरमेरु के निवासी देव और दक्षिण मेरु के निवासी असुर कहाते हैं । पृथिवी की दैनिक गति से जब उः नास में उ स का उत्तर-मेरुप्रदेश सूर्य के मन्मुख होता है तब देवताओं का उः शास तक दिन और उस समय असुरों की रात्रि और जब पृथिवी का दक्षिणप्रदेश सूर्य के सामने होता है तब असुरों का उः महीने का दिन और उस समय देवों की रात्रि होती है । इस प्रकार पृथिवी की धार्मिक गति में १ वर्ष का-देवता और असुरों का १ अहोरात्र होता है ॥

युगानां सप्ततिः सैका मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ कृताब्दसंख्या तस्यान्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः ॥१८॥ ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश ॥ कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशः स्मृतः ॥ १९ ॥ इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः ॥ कल्पोद्वाहमहः प्रोक्तं शर्वरी तस्य तावती ॥ २० ॥ परमायुः शतं तस्य तयाहोरात्रसंख्यया ॥ आयुषोऽर्द्धमितं तस्य शेषकल्पोऽयमादिमः ॥२१॥ कल्पादस्माच्च मनवः पड्व्यतीताः ससन्धयः ॥ वैवस्वतस्य च मनोर्युगानां त्रिघनो गतः ॥ २२ ॥ अष्टाविंशद्गुणाद-

स्मादात्ममेतत्कृतं युगम् ॥ अतः कालं प्रसंख्याय संख्या-
मेकत्र पिएडयेत् ॥ २३ ॥

भाषानु-पूर्वोक्त ३१ महायुगों (चतुर्युगी) की १ मन्वन्तर संज्ञा है और मन्वन्तर के अन्त में सत्ययुग के वर्ष परिमाण (सौर वर्ष १७२८०० जिस के दिव्य वर्ष ४८०० होते हैं) के बराबर सन्धि का परिमाण है । इस सन्धि समग्र सारी पृथिवी जग से भर जाती है अर्थात् जलमय हो जाती है ॥ १८ ॥ पूर्वोक्त १४ मन्वन्तर का १ कल्प होता है । इस में १४ अन्त की सन्धियां होती हैं और एक आदि सन्धि सत्ययुग के वर्ष परिमाण के बराबर होती है अर्थात् १ कल्प में १४ मन्वन्तर और १५ सन्धिया होती हैं ॥ १९ ॥ पूर्वोक्त रीति से १००० चतुर्युगी का १ कल्प होता है जिस के अन्त में सब प्राणियों का नाश हो जाता है । १ कल्प का १ ब्राह्म दिन होता है और इसी परिमाण की रात्रि अर्थात् पूर्वोक्त २ कल्प का १ ब्राह्म अहोरात्र होता है ॥ २० ॥ ब्रह्मा की आयु (सृष्टि वर्तमान रहेगी) ब्राह्ममान से १०० वर्ष की है अर्थात् पूर्वोक्त ३० ब्राह्म अहो-रात्र का १ ब्राह्ममास, एवं १२ ब्राह्म मास का १ ब्राह्म वर्ष होता है । ऐसे १०० वर्ष की ब्रह्मा की आयु है । इस आयु का आधा भाग बीत गया और अवशिष्ट (बाकी) आयु के कल्पों में से यह वर्तमान पहिला कल्प है अर्थात् १०० वर्ष में से ५० वर्ष पूरे बीत गये । एवं ५१ वा वर्ष अवशिष्ट आयु का बीत रहा है ॥ २१ ॥ इस वर्तमान कल्प (ब्राह्मदिन) में से ६ मन्वन्तर सन्धियों सहित बीत गये हैं और इस वर्तमान वैवस्वत नामक सप्तम मन्वन्तर के ३१ महायुगों में से पूरे २७ चतुर्युग बीत गये हैं ॥ २२ ॥ और २८ वीं चतुर्युगी में से सत्ययुग पूरा बीत गया है । अब काल की संख्या करने के लिये इस २८ वीं चतुर्युगी के कृत युग तक के बीते हुये वर्षों की एक स्थान में योग करो ॥ २३ ॥

विवरण-श्लोक १८ से २३ तक

१४ मन्वन्तरों के नाम ये हैं-१ स्वायम्भुव, २ स्वारोचिष, ३ औत्तमि, ४ तामस, ५ रेवत, ६ जातुघ्न, ७ वैवस्वत, ८ सावर्णि, ९ दत्तसावर्णि, १० ब्रह्म सावर्णि, ११ धर्मसावर्णि, १२ रुद्रपुत्र, १३ रीक्ष्य और १४ भीत्यक । ये १४ मन्वन्तर और १५ सन्धि मिलाकर १००० महायुग होते हैं । महायुग का दशम भाग ४३००० सौर व० कलियुग का परिमाण, इस के द्विगुणित द्वापर, तीन गुणा त्रेता और चार गुणा सत्ययुग और प्रत्येक युग के वर्षों का छठा भाग आदि और छठा भाग अन्त सन्धि के वर्ष होते हैं ॥

युगवर्षज्ञापक चक्र

रुत युग			व्रत युग			द्वापर युग			कलियुग			चतुर्थ युग महायुग		
सन्धि	और	युगमान	सन्धि	और	युगमान	सौर	दिव्य	वर्ष	सौर	दिव्य	वर्ष	सौर	वर्ष	युगमान
१४४०००	४००	१४४०००	१८०००	३००	१८०००	३२०००	२००	३२०००	३६०००	१००	३६०००	३६००००	१०००	१०००
अदि सन्धि	रुत युग का मान	अन्त सन्धि	अदि सन्धि	रुत युग का मान	अन्त सन्धि	अदि सन्धि	रुत युग का मान	अन्त सन्धि	अदि सन्धि	रुत युग का मान	अन्त सन्धि	अदि सन्धि	रुत युग का मान	अन्त सन्धि
१४४०००	४००	१४४०००	१८०००	३००	१८०००	३२०००	२००	३२०००	३६०००	१००	३६०००	३६००००	१०००	१०००
अदि सन्धि	रुत युग का मान	अन्त सन्धि	अदि सन्धि	रुत युग का मान	अन्त सन्धि	अदि सन्धि	रुत युग का मान	अन्त सन्धि	अदि सन्धि	रुत युग का मान	अन्त सन्धि	अदि सन्धि	रुत युग का मान	अन्त सन्धि
१४४०००	४००	१४४०००	१८०००	३००	१८०००	३२०००	२००	३२०००	३६०००	१००	३६०००	३६००००	१०००	१०००
अदि सन्धि	रुत युग का मान	अन्त सन्धि	अदि सन्धि	रुत युग का मान	अन्त सन्धि	अदि सन्धि	रुत युग का मान	अन्त सन्धि	अदि सन्धि	रुत युग का मान	अन्त सन्धि	अदि सन्धि	रुत युग का मान	अन्त सन्धि

१ सन्वन्तर=३१ महायुग

१ महायुग=सौरवर्ष ४३२०००० × ७१=३०६३६००० सौर वर्ष, (१ सन्वन्तर के वर्ष) इन को ११ [सन्वन्तर] से गुणा किया तो ४२८४०००० सौर वर्ष हुये (१४ सन्वन्तर के वर्ष) ११ सन्धि १ सन्धि में ११८००० सौरवर्ष । इन को १५ से

गुणा किया तो २५८०००० सौर वर्ष हुए। इस संख्या को १४ मन्वन्तर की वर्ष संख्या में योग किया तो ४३२०००००० सौर वर्ष हुए। यही १ कल्प वा ब्राह्म दिन का परिमाण हुआ। इसी प्रकार इतने ही वर्ष की ब्राह्म रात्रि होती है। इस वर्तमान कल्प के ६ मन्वन्तर बीत गये ॥

६ × ३०६०२००० (मन्वन्तर परिमाण) = १८३६१२००० सौर वर्ष
मन्वन्तर की घीती हुई सन्धि ७ × १२८०० (सन्धि परिमाण वर्ष) = ८९६०००
बीते हुए चतुर्युग २७ × ४३२००० (१ चतुर्युग वर्ष) = ११६६४०००
गत कृत युग १७५०००

कल्प के आरम्भ से सतयुग के अन्त पर्यन्त १८३६१२००० सौर वर्ष हुए ॥

ग्रहर्क्षदेवदैत्यादि सृजतोऽस्य चराचरम् । कृताद्विवेदा
दिव्याब्दाः शतग्रा वेधसोगताः ॥ २४ ॥ पश्चाद्ब्रजन्तोऽति
जवान्नक्षत्रैः सततं ग्रहाः । जीयमानास्तु लभ्यन्ते तु-
ल्यमेव स्वमार्गगाः ॥ २५ ॥ प्राग्गतित्वमतस्तेषां भगणैः
प्रत्यहं गतिः । परिणाहवशाद्विन्ना तद्वशाद्गानि भुञ्जते
॥ २६ ॥ शीघ्रगस्तान्यथाल्पेन कालेन महताल्पगः । तेषां
तु परिवर्त्तनं पौष्णान्ते भगणः स्मृतः ॥ २७ ॥

भाषानु०—कल्प के आरम्भ से जगद्विर्माता ईश्वर को ग्रह, नक्षत्र, देव, असुर, मनुष्य, मूनि, पर्वतादिकों (चराचर=जङ्गम, स्थावर) की सृष्टि करते हुए ४३२०० दिव्य वर्ष बीत गये ॥ २४ ॥ यह सब अपने २ मार्ग पर नक्षत्रों के साथ अति शीघ्र गति से पूर्व से पश्चिम की ओर जाते हैं परन्तु नक्षत्रों से चलने में पीछे रह जाते हैं। यह गति सब ग्रहों की तुल्य वेग से जनित है ॥ २५ ॥ इस कारण ग्रहों की गति पश्चिम से पूर्व की ओर है और उस गति का ज्ञान ग्रहों के भगणों के नाम से होता है। ग्रहों की कक्षाओं (Orbit) के परिधि (Circumference) भिन्न २ होने के कारण यद्यपि उन की तुल्य वेग से जनित है तथापि भिन्न २ है ॥ २६ ॥ शीघ्र चलने वाले ग्रह थोड़े समय में राशि चक्र का भ्रमण पूरा कर लेते हैं और मन्द २ चलने वाले ग्रह अधिक समय में एक भ्रमण पूरा करते हैं। राशिचक्र में रेवती के योग तारा से चलकर पुनः वहीं छीट कर आ जाने की प्रत्येक ग्रहों का अपना २ "भ्रमण" कहते हैं ॥ २७ ॥

विवरण-२४ शोक ४७४०० दिव्य वर्ष $\times ३६० = १७०६४०००$ सौर वर्ष की १८७०७८४००० (पूर्वोक्त सौर वर्ष) वर्ष से घटाने पर शेष १८५३९२०००० सौर वर्ष कल्प के आरम्भ से कृतयुग के अन्त तक छपतीत हुए हैं। अब इस प्रकार समझना चाहिये कि:-

कृतयुग के अन्त तक	१८५३९२००००
गत त्रेता युग	१२८६०००
गत द्वापर	८६४०००
गत कलि (मिति चैत्र कृष्णपक्ष संवत् १८५८ तक) ५:०२	

योग १८५८८५००२

वर्तमान सृष्टि संवत् यही है और चैत्र शुक्ल १ संवत् १८५८ को १८५८८५००३ का आरम्भ होगा ॥

२६ ॥ यहाँ की कक्षा बड़ी और छोटी होने के कारण प्रत्येक की गति एक ही नहीं होती है। अर्थात् जिन यहाँ की कक्षा बड़ी है (जैसे शनि, बृहस्पति) उन की अपनी कक्षा में सूर्य की परिक्रमा करने में अन्यान्य छोटी कक्षा वाले यहाँ की अपेक्षा अधिक समय लगता है। और जिन की छोटी कक्षा (जैसे-चन्द्रमा, बुध, शुक) है उन की गति अधिक होती है ॥

विकलानां कला पष्ट्या तत्पष्ट्या भाग उच्यते । तत् त्रिंशता भवेद्वाग्निर्भगणो द्वादशैव ते ॥ २८ ॥ युगे सूर्यज्ञ-शुक्राणां खचतुष्करदार्णवाः । कुजार्किगुरुशीघ्राणां भगणाः पूर्वयाचिनाम् ॥ २९ ॥ इन्दोरसाग्नित्रिजीपु सप्तभूधरमार्गणाः । दक्षत्र्यष्टरसाङ्गाक्षि लोचनानिकु-जस्य तु ॥ ३० ॥ बुधशीघ्रस्य शून्यर्तुखाद्रित्र्यङ्कनगन्दवः । बृहस्पतेः खदसाक्षि वेदपङ्कवह्नयस्तथा ॥ ३१ ॥

भाषानुवाद-६० विकलाओं की (Second) १ कला (Minute) और ६० कलाओं का १ अंश (Degree), ३० अंश की एक राशि (Sign) और १२ राशियों का १ भ्रमण (Revolution) होता है ॥ २८ ॥ एक चतुर्गुणी में सूर्य, बुध और शुक पूर्व की ओर चलने में ४३२०००० भ्रमण पूरा करते हैं। मङ्गल,

शनि और बृहस्पति के शीघ्रोच्च के भगण भी ४३२००० ही होते हैं ॥ २८ ॥ एक महायुग में चन्द्रमा के ५७७३३३६ और भङ्गल के २२६८२२ भगण होते हैं ॥ ३० ॥ एक महायुग में बुध के शीघ्रोच्च के १७८३७०६० और बृहस्पति के १६४२२० भगण होते हैं ॥ ३१ ॥

विवरण-२८ श्लोक-सूर्य और चन्द्रमा की कक्षा का वह स्थान जो पृथिवी से अत्यन्त दूर हो, उन का मन्दोच्च कहलाता है (सूर्य और चन्द्रमा का), मङ्गलादि ५ ग्रहों (मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनिश्चर) का वह स्थान जो सूर्य से अत्यन्त दूर हो उन का मन्दोच्च कहलाता है और यह स्थान जो पृथिवी से अत्यन्त दूर हो उन का शीघ्रोच्च कहलाता है ॥

सितशीघ्रस्य पट्सप्तत्रियमाश्विखभूधराः । शनैर्भु-

जङ्गपट्पञ्चरसवेदनिशाकराः ॥ ३२ ॥ चन्द्रोच्चस्याग्नि-

शून्याश्विसुसर्पार्णवायुगे, । वामं पातस्य वस्वग्नि-

यमाश्विशिखिदक्षकाः ॥ ३३ ॥ भानामष्टाश्विखद्वित्रि-

द्विद्वयष्टशरेन्दवः । भोदया भगणैः स्वैः स्वरूनाः स्वस्यो-

दयायुगे ॥ ३४ ॥ भवन्ति शशिनो मासाः सूर्येन्दुभगणान्त-

रम् । रविमासो नितास्ते तु शेषाः स्युरधिमासकाः ॥ ३५ ॥

भाषानुवाद-एक महायुग में शुक्र के शीघ्रोच्च के ७०२२३७६ और शनि के १४६५६८ भगण होते हैं ॥ ३२ ॥ एक महायुग में चन्द्रमा के मन्दोच्च के ४८८२०३ और चन्द्रमा के वामपात या राहु (Scending node or north nod) के २३२२३८ भगण होते हैं ॥ ३३ ॥ एक महायुग में मङ्गलों के १५८२२३७८२ भगण होते हैं । ४८ अक्षत्र भगण संख्या से ग्रहों के भगण घटाने पर महायुग में प्रत्येक ग्रहों की अपनी २ उदयसंख्या निकल आवेगी ॥ ३४ ॥ सूर्य के भगणों में से चन्द्रमा के भगणों को घटाने पर शेष (बाकी) अङ्क महायुग में चान्द्रमास की संख्या होगी और इस चान्द्रमास से सौरमास घटाने पर जो बचे वही महायुग में अधिमास की संख्या होगी ॥ ३५ ॥

विवरण-३२ श्लोक-मङ्गल, बृहस्पति और शनि के भगण और बुध के शीघ्रोच्च और शुक्र के शीघ्रोच्च के भगण एक युग में सूर्य के चारों ओर परि-
तमा की संख्या है ॥

विवरण-३३ श्लोक-क्रान्तिवृत्त जो सूर्य का मार्ग है, ग्रहों की कक्षाये उस के सम क्षेत्र में नहीं हैं, परन्तु उस के साथ कोण बनाती हैं और कभी उस को काट कर ऊपर चढ़ती हैं, कभी उस को काट कर नीचे आती हैं। जिस स्थान में क्रान्तिवृत्त को ग्रहों की कक्षा काटकर ऊपर चढ़ती हैं उस को "पार" (राहु या केतु) कहते हैं। यह पात स्थान बदलता रहता है और इस की घूर्ण गति है अर्थात् पूर्व से पश्चिम की ओर है ॥

विव०-३४ श्लोक-किसी नक्षत्रकान्तिरत्त देश में जहा दिन रात बराबर होता है, एक स्थान पर उदय होकर फिर उसी स्थान पर उदय होना नक्षत्रभगण कहलाता है और जो समय इस में लगता है उसका नाम नाक्षत्र दिवस है, इस लिये युग में १५८२३७८९८ आत्यन्तिक दिन हुये। इस में से जिस ग्रह के भगण संख्या की घटावे, युग में उस ग्रह की उदयसंख्या (दिन) होगी। जैसे सूर्य के भगण ४३२०००० की उक्त संख्या से घटाने पर शेष १५७९८९७८२८ संख्या होगी। यही एक युग में सूर्योदय की संख्या है (सावन दिन हुये), इसी प्रकार अन्यत्र ग्रहों का भी ज्ञानना ॥

वि०३५ श्लोक-एक महायुग में चन्द्रमा के भगण ४७५३३३६। सूर्य के भगण ४३२०००० घटाने से शेष अन्तर ४३४३३३६ युग में चान्द्रमास हैं। सूर्य के भगण को १२ (मास) से गुणा करने पर ५१८४०००० युग में सूर्य मास घटाने पर शेष अन्तर १५८३३३६ युग में अधिमास ॥

सावनाहानि चान्द्रेभ्यो दुभ्यः प्रोक्तव्यं तिथिक्षयाः । उ-
दयादुदयं भानोर्भूमिसावनवासराः ॥ ३६ ॥ वसुद्वयष्टा-
द्विरूपाङ्गसप्तद्वितियो युगोचान्द्राः स्वाष्टस्त्रयोमखा-
ग्निखर्तुनिशाकराः ॥ ३७ ॥ षड्वाहित्रिहुताशाङ्कतिथय-
श्चाधिमासकाः । तिथिक्षयायमार्थाश्चिद्वयष्टव्योमशरा-
ग्निनः ॥ ३८ ॥ खचतुष्कसमुद्राष्टकुपञ्चरविमासकाः ।
भवन्ति भोदया भानुभगणैरुनिताः क्वाहाः ॥ ३९ ॥ अधि-
मासो नरात्र्यर्क्षचान्द्रसावनवासराः । एते सहस्रगणिताः
कल्पे स्युर्भगणादयः ॥ ४० ॥

भाषानुवाद-एक महायुग में चान्द्रदिनों (तिथि) की संख्या से सावन दिन घटानेपर शेष संख्या महायुग में "तिथिलय" संख्या होगी। एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक के काल को "सावनदिन" कहते हैं ॥३६॥ एक महायुग में १५३९६१३२८ सावन दिन और १६०३०३००८० चान्द्रदिन (तिथि) होते हैं ॥३७॥ एक महायुग में १५९३३३६ अधिमास और २५०८२२५२ तिथिलय होते हैं ॥ ३८ ॥ एक महायुग में ५१८५०७३० सौर मास होते हैं और नाक्षत्रदिन की संख्या में से सूर्य के भगणों से घटाने से जो शेष संख्या रहेगी वही युग में पापिंश वा सावन दिन की संख्या होगी ॥ ३९ ॥ पूर्वोक्त भगण, अधिमास, तिथिलय, नाक्षत्रदिन, चान्द्रदिन और सावन दिन इन प्रत्येक को भिन्न भिन्न १०:० से गुणा करने से कल्प में इन प्रत्येक की संख्या होगी ॥ ४० ॥

विवरण ३७ श्लोक-युग में सावन दिनों की संख्या जानकर ग्रहों की दैनिक गति (भुक्ति) जान सकते हैं और पृथिवी या सूर्य की चारों ओर ग्रहादिकों का भगण काल (भगण) भी जान सकते हैं। जिस ग्रह की दैनिक गति जाननी हो तो उस ग्रह के युग के भगणों को युग के सावन दिन संख्या से भाग देने पर भागफल दैनिक गति होगी। इस के लिये त्रैराशिक की क्रिया करे। १ युग के सावनदिन : युग के भगण :: तो दैनिक भगण या दैनिक भुक्ति क्या होगी। जिस कारण दैनिक गति कलाओं में निकाली जाती है। इस लिये प्रत्येक ग्रहों के युगभगण संख्याओं को भिन्न २ बारह से गुणा कर गुणन फल राशि संख्या होगी। उस को ६० से गुणा करने पर अंश होंगे, (अंश संख्या होगी) एवं अंश को ६० से गुणा करने पर कला होगी। उदाहरण के लिये प्रथम सूर्य की मध्य दैनिक गति निकालकर दिखलाता हूँ:-

$$१ \text{ युग में सूर्य के भगण } ४३२०००५ \times १२ \times ३० \times ६० =$$

१ युग में सावनदिन संख्या १५३९६१३२८ ऊपर वाली संख्या को गुणा करने पर कला संख्या होगी। उसमें नीचे वाली संख्या से भाग देने पर कल फल ५८। विषला ८। अनुकला १०। यही सूर्य की मध्य दैनिक गति हुई (यह कला के अन्तर विकला और अनुकला, ६० से गुणा करने पर होगी। कला में भाग न हो सका तो विकला ६० से गुणा कर बनावे, एवं विकला करे। शेषांश को ६० से गुणा करने पर अनुकला होगी) अब उपरोक्त नियम से प्रत्येक मङ्गलादि ग्रहों की भी दैनिक भुक्ति निकल आवेगी। इस लिये प्रत्येक की क्रिया भिन्न २ नहीं लिखी गई ॥

ग्रहगण	अंश	कला	अनुकला	प्रत्यनुकला
रवि	०	५९	=	१०
चन्द्रमा	१३	१०	५५	०
बुध	०	५९	=	१०
शुक्र	०	५९	=	१०
मङ्गल	०	३१	२६	२८
बृहस्पति	०	४	५९	९
शुभशीघ्रोच्च	४	५	३२	२१
शुक्रशीघ्रोच्च	१	३६	७	४४
मङ्गलशीघ्रोच्च	०	५९	=	१०
बृहस्पतिशीघ्रोच्च	०	५९	=	१०
शनिशीघ्रोच्च	०	५९	=	१०
चन्द्रमा का मन्दोच्च	०	६	४१	०

ग्रहों के मन्दोच्चों की गति अत्यन्त धीमी है अर्थात् प्रति कला के $\frac{1}{2}$ भाग से भी न्यून है। इस लिये गणित में शून्य ही लिया जाता है ॥

ग्रहों की दैनिक गति कही गई। अब ग्रहों के भगण काल लाने का नियम लिखा जाता है। जिन ग्रहों का भगण काल (१२ राशियों में १ बार भ्रमण का काल) जानना है, त्रैराशिक द्वारा इस प्रकार लाना चाहिये कि एक युग के भगण में ती इतने (युग) सावन दिन होते हैं ती १ भगण में क्या होगा। इस लिये युग के सावन दिनों में युग के भगण संख्या से भाग देवे, भागफल, इष्ट ग्रह का भगण काल होगा। उदाहरण के लिये, सूर्य का भगण काल निकाला जाता है। जैसे युगीय सावन दिन १५७९९७८२८ में युगीय सौरभगण ४३५०७७० का भाग दिया तो दिन पड़ी ३६५ पल वि० हुआ। यही सूर्य का सावन

३६५ ३१ ३१ ३१

दिनों में १ भगण काल हुआ। इसी प्रकार पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा के परिक्रमा करने का काल २७ दिन १९ घड़ी १८ पल है। इतने समय में चन्द्रमा राशिचक्र के एक स्थान से चल कर पुनः उसी स्थान पर आजाता है। चान्द्र मास उस राशि परा होता है जब चन्द्रमा पुनः सूर्य की राशि में आजावे। चान्द्र मास दिन निकालने के लिये युगीय चान्द्र मास से युगीय सावन दिन में भाग दो तो दिन २९ पड़ी ३१ पल ५० यही अमान्त चान्द्र मास होगा।

अथ प्रत्येक ग्रहों के भगण काल जो पूर्वोक्त क्रिया से स्थिर हुवे हैं, लिखे जाते हैं ।
 मङ्गल का ६८६ दिन ५९ घड़ी, बृहस्पति का ४३३२ दिन १८ घड़ी, शनि का ९९६१
 दिन ४६ घड़ी, बुध का ८३ दिन ५८ घड़ी, शुक्र का २२४ दिन ४२ घड़ी । बुध
 आदि के शीघ्रोच्चों के भगण के लिये देखो श्लोक ३२ का विवरण ॥

प्राग्गतेः सूर्यमन्दस्य कल्पे सप्ताष्टवह्वयः । कौजस्य
 वेदखयमा बौधस्याष्टर्तुवह्वयः ॥ ४१ ॥ खखरन्ध्राणि जैव-
 स्य शौक्रस्यार्थगुणेपवः । गोऽग्नयः शनिमन्दस्य पाता-
 नामथ वामतः ॥ ४२ ॥ मनुदस्तास्तु कौजस्य बौधस्याष्टाष्ट-
 सागराः । कृताद्रिचन्द्राजैवस्य त्रिखाङ्काश्च भृगोस्तथा
 ॥ ४३ ॥ शनिपातस्य भगणाः कल्पे यमरसर्तवः । भग्णाः
 पूर्वमेवात्र प्रोक्ताश्चन्द्रोञ्चपातयोः ॥ ४४ ॥ पण्मनूनां
 तु सन्पीड्य कालं तत्सन्धिभिः सह । कल्पादिसन्धिना
 सार्द्धं वैवस्वतमनोस्तथा ॥ ४५ ॥ युगानां त्रिघनं यातं
 तथा कृतयुगं त्विदम् । प्रोक्त्य सृष्टेस्ततः कालं पूर्वोक्तं
 दिव्यसंख्यया ॥ ४६ ॥ सूर्याब्दसंख्यया ज्ञेया कृतस्यान्ते
 गताअमी । खचतुष्कयमाद्रयग्निशररन्ध्रनिशाकराः ॥ ४७ ॥

भाषानुवाद—एक कल्प में सूर्य के मन्दोच्च के (जो पूर्व की ओर चलता है) ३८७ भगण होते हैं । मङ्गल के मन्दोच्च के २०४ और बुध के मन्दोच्च के ३६८ भगण होते हैं ॥ ४१ ॥ एक कल्प में बृहस्पति के मन्दोच्च के ९७२, शुक्र के मन्दोच्च के ५१५ और शनि के मन्दोच्च के ३८ भगण होते हैं । अथ पातों के भगण की संख्या कहते हैं, जो पूर्व से पश्चिम की ओर चलते हैं ॥ ४२ ॥ एक कल्प में मङ्गल के पात के २१४, बुध के पात के ४८८, बृहस्पति के पात के १७७, शुक्र के पात के ७८ भगण होते हैं ॥ ४३ ॥ और शनि के पात के ६६२ भगण होते हैं, चान्द्रमा के पात और मन्दोच्च के भगण पहिले कहे गये हैं ॥ ४४ ॥ उन्मन्वन्तरों के काल को ६ सन्धिषो सहित और काल की ६०००० की सन्धि सहित काल को एक स्थान में जोड़ कर रखो और सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर

के २१ घटिते हुवे चतुर्युगियों को एवं २८ वर्षों चतुर्युगी के गत सतयुग के काल को एकत्र कर पूर्वोक्त छः मन्वन्तरों के काल में जोड़ने से जो संख्या लब्ध हो उस में से सृष्टि रचना का काल जो दिव्य वर्षों में (२४ वां ह्योकोक्त ४९४००) दिया है । सौर वर्ष बनाकर घटाने से २८वीं चतुर्युगी के अन्त तक १८५३१२०००० सौर वर्ष सृष्टि के गत वर्ष होंगे ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

विवरण ४७ श्लोक—अथ अहर्गण धनाने के नियम लिखे जाते हैं । धर्तमान सृष्टि की आदि से इष्टकाल (जिस सवत् मास दिन तक चाहे) तक सावन दिनों की संख्या का नाम है । अथ उदाहरण के लिये आषण कण्ठा २ संवत् १८४६ तक का लया जावेगा । गत सौर वर्ष सृष्टि की आदि से सवत् १८५८ के अन्त तक १८५५८८५००२ में १२ वर्ष घटाओ तो शेष संवत् १८४५ के अन्त तक १८५५८८४८८० होगा ॥

अत ऊर्ध्वममी युक्ता गतकालाव्दसंख्या । मासी-
कृता युता मासैर्मधुशुक्लादिभिर्गतैः ॥ ४८ ॥ पृथक्स्था-
स्तेऽधिमासत्राः सूर्यमासविभाजिताः । लब्धाधिमासकै-
युक्ता दिनीकृत्य दिनान्विताः ॥ ४९ ॥ द्विष्टास्तिथिं क्षयाभ्य-
स्ताश्चान्द्रवासरभाजिताः । लब्धोनरात्रिरहिता लङ्काया-
मार्हुरात्रिकः ॥ ५० ॥ सावनो द्युगणः सूर्यादिनमासा-
व्दंपास्ततः । सप्तभिः क्षयितः शेषः सूर्यादौ वासरेश्वरः
॥ ५१ ॥ मासाव्द दिनसंख्याप्तं द्वित्रिंशं रूपसंयुतम् । सप्तोद्गु-
णावशेषौ तु विज्ञेयौ मासवर्षौ ॥ ५२ ॥

आपानुवाद—उक्त कृतयुग के अन्त तक की वर्षों की संख्या में इष्ट (जिस संवत्, शाके या समय तक चाहो) काल के गतवर्ष की जोड़ो । पुनः जोड़ने से जो संख्या हो उस को १२ से गुणा करने से मास की संख्या होगी । पुनः इस मास संख्या में चैत्रमास के शुक्ल पक्ष की परिवार से जितने मास घटिते हों जोड़ो तो इष्ट कालतक की मास संख्या होगी ॥ ४८ ॥ इन को भिन्न २ स्थान पर रखो । एक स्थान के अङ्कों को युग के अधिमासों से गुणा करो और युग के सौरमास की संख्या से भाग दो । इस से अधिमास की संख्या निकल आ

येगी। इस अधिमाससंख्या को दूसरे स्थान में रखते हुए अङ्कों के साथ जोड़ कर उस को ३० से गुणा कर दिन बनावे। एव इष्ट काल से जितने चान्द्र दिन बीते हों उस को जोड़े ॥ ४९ ॥ उक्त जोड़े हुए अङ्कों को भिन्न २ दो स्थानों में रखे। उन में से एक को एक महायुग के तिथिसंख्याद्वारा गुणा करे और पूर्वोक्त एक महायुग के चान्द्रदिनो पर भाग करे और भागावशिष्ट छोड़ कर भागफल गतसयतिथिसंख्या होगी। इस तिथिसंख्या को दूसरे स्थान में रखते हुये अङ्को में से घटाने पर जो संख्या लब्ध होगी वही लब्धा में आधीरात तक जितने सावन दिन बीते हैं, सावनदिन की संख्या होगी ॥ ५० ॥ उक्त आये हुये सावनदिनसंख्या से दिन, मास और वर्ष का अधिपति जाना आवेगा। बारआदित्य बार से गिन कर निकल आते हैं। सप्त अहर्गण को ७ से भाग करके शेषाङ्क को आदित्यबार से गिने तो उस तिथि का बार निकल आवेगा अर्थात् ७ भाग करने पर १ बचे तो रविवार। २ बचें तो सोमवार, ३ बचें तो मङ्गलवार, ४ बचें तो बुधवार, ५ बचें तो शुक्रवार, ६ बचें तो शनिवार और यदि कुछ न बचे तो शनिवार जानना ॥ ५१ ॥ उक्त अहर्गण को दो स्थानों में अलग २ रखकर एक को ३० से और दूसरे को ३६० से भाग दो। जो फल हो उस को क्रम से २ और ३ से गुणन करे और दोनों के गुणनफल में १ जोड़दो, पुनः ७ से भाग दो तो भागफल क्रम से मास और वर्ष के अधिपति होने ॥ ५२ ॥

विवरण—अब उक्त संख्याद्वारा सौर वर्ष की १२ से गुणा कर मास बनाओ एव गुणनफल में गतमास चैत्र शुक्लकी आदि से आषाढ़ शुक्लकी आदि तक ३ मास हुये। इन को जोड़ो तो इष्टकाल तक मास संख्या होगी। $१८५४८८४८८० \times १२ + ३ = २२२५८६१८८८३$ मास हुये ॥ ४९ ॥ उक्त संख्या आषाढ़ शुक्ल से आगे आने वाली संक्रांति तक सौर मासों की संख्या है। इन को त्रैराशिक द्वारा चान्द्रमास बनाये। अर्थात् इस संख्या को युग के अधिमास से गुणाकर गुणनफल में युगीय सौर मास संख्या से भाग दे। भागफल गत अधिमास संख्या होगी। जैसे—सौरमास $२२५३०६१८८८३ \times १५३३३६$ (युगीय अधिमास) = $३४३८५८३६०१८८८८८८ \div ५१८४८८००$ (युगीय सौर मास) = ७२१३८४३१४ गत अधिमास हुए और भाग देने से शेषाङ्क $\frac{२८१११८८}{५१८४८८००}$ हुआ। उक्त अधिमास को शेषाङ्क के सहित गत सौर मासों में जोड़ने से योगफल आषाढ़ शुक्ल के आगे

आने वाली सक्रान्ति तक चान्द्रमास की सख्या होगी और यदि उक्त शेषाङ्क को छोड़ दें तो आपाद शुक्ल के अन्त तक गत चान्द्रमास की सख्या होगी ॥

आपाद शुक्ल के अन्त तक गत सौरमास $3383061953 + 321358018$ (गत अधिमास) $= 3704440000$ (गत चान्द्रमास) $\times 30 = 111133200000$ (दिनहुवे) $+ 16$ (गतदिन आपाद शुक्ल के अन्त से श्रावण कृष्ण २ के आदि तक) $= 11113320016$ (सृष्टि की आदि से इसकाल तक गत चान्द्रदिन वा तिथि) अथ हम चान्द्रदिन से सावनदिन बनाने के लिये त्रैराशिक की क्रिया करें अर्थात् गत चान्द्रदिन को युगीय तिथिक्षय से गुणा कर गुणनफल में युगीय चान्द्रदिन का भाग दे, भागफल सख्या गत तिथिक्षय सख्या होगी । गत चान्द्रदिन $11113320016 \div 30 = 3704440005$ (युगीय तिथिक्षय) $= 11113320005$ यही गत तिथिक्षय सख्या हुई और शेष अङ्क जो भाग देने से रह गया $\frac{16}{30}$ । यह तिथिक्षय शेष अङ्कसहित गत चान्द्रदिनों से निकाल दे तो गत तिथि के अन्त तक सावनदिनों की सख्या होगी, परन्तु अहगण इष्टतिथि की अर्द्ध रात्रि पर्यन्त चाहिये । इस लिये शेष अङ्क छोड़ देना चाहिये । यह शेष गत तिथि के अन्त से वर्तमान तिथि के अर्द्ध रात्रि तक का काल है । इस कारण श्रावण कृष्ण २ सयत् १८४६ को लङ्का की आधीरात तक निम्नलिखित अहगण हुये । गत चान्द्रदिन 11113320016 गततिथिक्षय 11113320005 और गत सावन दिन 11113320005 ॥ ४८ ॥ ५० ॥ उक्त अहगण में ३ का भाग देने से शेष १ मिला, इस लिये श्रावण कृष्ण २ को रविवार था ॥ ५१ ॥ पुन उक्त अहगण में ३० का भाग दिया तो $3704440005 \div 30 = 123481333$ (और शेष अङ्क को छोड़ दिया) $\times 2 = 246962666$ $- 123481333 = 123481333$ से भाग दिया तो शेष अङ्क ६ मिला तो श्रावण कृष्ण २ को मास का अधिपति शुक्र था । पुन वर्षाधिपति जानने के लिये $11113320016 \div 360 = 308703333$ (शेष अङ्क को छोड़ दिया) $\times 3 = 926109999$ $+ 1 = 926110000$ $- 308703333 = 617406667$ तो शेष अङ्क ४ रहा इस लिये सयत् १८४६ का वर्षाधिपति बुध था ॥ ५२ ॥

यथास्वभगणाभ्यस्तो दिनरात्रिः कुवासरैः । विभाजितो मध्यगत्या भगणादिर्ग्रहो भवेत् ॥ ५३ ॥ एवं स्वशीघ्रमन्दोच्चा ये प्रोक्ताः पूर्वयायिनः । विलोमगतयः पातास्तद्वज्रक्राद्विशोधिताः ॥ ५४ ॥ द्वादशघ्रा गुरोर्याता भगणा-

वर्त्तमानकैः । राशिभिः सहिताः शुद्धाः पृष्ट्या स्युर्विज-
यादयः ॥५५॥ विस्तरेणैतदुदितं संक्षेपाद्व्यावहारिकम् ।
मध्यमानयनं कार्यं ग्रहाणामिष्टतो युगात् ॥५६॥ अस्मि-
न्कृतयुगस्यान्ते सर्वे मध्यगता ग्रहाः । विना तु पातमन्दो-
च्चान्मेपादौ तुल्यतामिताः ॥ ५७ ॥

भाषानुवाद—उक्त अहर्गण को ग्रहों के एक कल्प के भ्रमणों की संख्या से गुणा करो और कल्प के सावनदिन संख्या से भाग दो तो ग्रहों का भ्रमण-
पादि मध्य अर्थात् राशि, अंश, कला आदि निकल आवेंगे । इस प्रकार ग्रहों
की मध्यगति से स्थान ज्ञात होजावेगा ॥ ५५ ॥ इसी प्रकार शीघ्रोच्च मन्दोच्चों
के मध्यस्थान जिन के भ्रमण पहिले कहे जा चुके हैं और पातों के मध्यस्थान
जाने जा सकते हैं, परन्तु पातों के स्थान १२ राशि में से घटाकर गणित करे क्योंकि
इन की राशि क्रम से विलोम अर्थात् उलटी होती है ॥ ५४ ॥ यह रूपति के
गत भ्रमणों को १२ से गुणा कर गुणनफल में गत राशियों का योग कर यो-
गाङ्क को ६० का भाग देने पर भागफल विजयादि सवत्सर होगा ॥५५॥ ऊपर
अर्थात् ४५ श्लोक से ५४ तक ग्रहों के मध्यमानयन भ्रमण विस्तारपूर्वक कही गयी ।
उपयहार में त्रेतायुग के आरम्भ से ग्रहों का मध्य स्थान निश्चय करना चाहिये
॥ ५६ ॥ जिस कारण इस सत्ययुग के अन्त में पात और मन्दोच्च को छोड़कर सब
ग्रहों के मध्यस्थान मेघ राशि के आरम्भ में थे ॥ ५७ ॥

विवरण—कल्प के आरम्भ में सब ग्रहों का एक ही स्थान था, सब ग्रह
रेवती नक्षत्र के योगतारा से चले, इस लिये इष्ट समय पर उन का मध्यम
स्थान निकालने के लिये त्रैराशिक की किया करनी चाहिये अर्थात् उक्त अह-
र्गण की कल्प के भ्रमणों से गुणा कर गुणनफल में कल्प के सावनदिनों का
भाग देये तो ग्रहों का मध्यस्थान निकलेगा । जैसे— 398481113.0 (अहर्गण)
 $\times 8320000000 = 300622494534200000000 \div 1495995900000$ (कल्प के सावन
दिन) $= 19945358000$ भ्रमण शेष अङ्क $306450000000 \times 12 = 3677400000000$
कल्प के सावनदिन से भाग दिया तो २ राशि हुई और शेष अङ्क $2482400000000 \times 30 = 74472000000000$ अंश हुये, इस में उक्त कल्प के सावनदिन का
भाग दिया तो फल अंश शून्य हुआ । और जो उक्त अंश को ६० से गुणा

किया तो ४५९६६५९६८००००० कला संख्या हुई । इस में उक्त कल्प के सावन दिन का भाग दिया तो २९ कला मिलीं । शेष अङ्क ६९५९८८०००×६०=४१७५-८९२८००० इस में उक्त सावनदिन का भाग दिया तो फल शून्य विकला हुई । इस लिये यावण क० २ संवत् १९४६ को सूर्य का मध्यस्थान १९५५८४९९० भगण, ३ राशि, ० अंश, २९ कला, शून्य विकला । इसी प्रकार चन्द्रमा के भगण से उक्त अहर्गण की गुणन शेष किया पूर्ववत् किया तो चन्द्रमा का मध्यस्थान भगण २१६४९८८५८३। रा० ९ । अं० २१ । क० ५२ । वि० ३७ ॥ शेष यहाँ के निम्नलिखित भगणादि हैं—

	भगण	राशि	अंश	कला	विकला
मङ्गल	१०३९८९३३५१ ।	२ ।	७ ।	२४ ।	५२ ।
बुध	१९५५८७८४९९० ।	२ ।	१ ।	२९ ।	७ ।
शुक्र	१९५५८७८४९९० ।	२ ।	७ ।	२९ ।	० ।
बृहस्पति	१६४९०१०२४ ।	८ ।	२२ ।	१६ ।	४३ ।
शनि	६६३५८८३१ ।	३ ।	२० ।	५५ ।	४७ ।

॥ ५२ ॥ ५३ ॥

बुध के शीघ्रोच्च भगण की अहर्गण में गुणा करने और कल्प के सावन-दिनोंपर भाग करने से ८१२९०२४६३५ भगण/० राशि/३ अंश/८ कला और ४५ वि-कला निकलेंगी । इसी प्रकार शुक्र के शीघ्रोच्च का स्थान ३१७९३८८८५५ भगण, १० राशि, २५ अंश, ६ कला और १९ विकला निकलते हैं ॥

मङ्गल, बृहस्पति और शनि के शीघ्रोच्च का वही स्थान होगा जो सूर्य मध्य का है क्योंकि उन के भगण तुल्य हैं ॥ अब मन्दोच्चों को लिखते हैं—

प्रथम चन्द्र का मन्दोच्च

अहर्गण को ४८८२०३००० में गुणा और १५७९९७८२८००० पर भाग करने से २२१०३४४७२ भगण २ राशि ११ अंश १८ कला और २२ विकला निकलेंगी, यही चन्द्र मन्दोच्च का मध्यस्थान हुआ ॥

अब चन्द्रपात लिखते हैं—अहर्गण को २३२, २३८,००० में गुणा करके १, ५७७,९१७, ८९८,००० पर भाग करो तो १०५, १४६, ०२२ भगण ९ राशि ७ अंश ९ कला और ५७ विकला निकलेंगी । इन राशि आदि का १२ राशि में शोधने से २ । २२ । ५७ । ३ चन्द्रपात का मध्यस्थान हुआ ॥

सूर्य का मन्दोच्च निकालने के लिये अहर्गण को ३८७ में गुणाकरके १,५७७,

९१३, ८२८, ००० पर भाग करो तो १३५ भगण २ राशि १७ अंश १७ कला २३ विकला निकलेंगी । मङ्गल के मन्दोच्च निकालने के लिये अहर्गण को २०४ में गुणा और ५७७, ९१७, ८२८, ००० पर भाग करो । लब्ध भगणादि ९२ । ४ । १० । २ । ४१ । इसी तरह बृहस्पति के मन्दोच्च के भगणादि ४०५ । ५।२१ २२। २७ बुध के मन्दोच्च के १६६ । ७ । १० । २८ । २३ शुक्र के मन्दोच्च के २४२ । २ । १८ । ५२ । २१ और शनि के मन्दोच्च के १७।७ । २६।३७ । ३४ भगण, राशि, १० अंश, कला और विकला निकलेंगे । मङ्गल का पात निकालने के लिये अहर्गण को २१४ में गुणा करके १, ५७७, ९१७, ८२८, ००० पर भाग करो तो ९६। १० । १९।५६।५६ यह लब्ध हुये ॥

राशि आदि को १२ राशि में से शोधो तो १ राशि १८ अंश ३ कला और ॥ विकला । यह मङ्गल के पात का स्थान हुआ । बुध पात निकालने के लिये अहर्गण को ४८८ में गुणा करके १, ५७७, ९१७, ८२८, ००० पर भाग करो तो २२०। ११ । ९ । १८ । २२ लब्ध भगणादि हुये । १२ राशि में शोधने से ० । २०।४० । ३८ बुध पात का स्थान हुआ । बृहस्पति के पात के ७८ भगण ८ राशि १० अंश १९ कला ५६ विकला निकलेंगी । राशि आदि को चक्र में शोधने से २ । १९ । ४० । ४ यह बृहस्पति के पात का स्थान हुआ । शुक्र के पात के ४०८।१०।०।२०।४४ भगणादि निकलेंगे । चक्र में शोधने से १ । २९ । ३९ । १६ राश्यादि शुक्र पात का स्थान हुआ । शनि पात के २९८ । ८ । १८ । ३९ । १८ भगणादि हुए । चक्र में शोधने से ३ । १० । २० । ४१ । यह शनि के पात का स्थान हुआ । चन्द्र का पात पहिले निकाल चुके हैं, सूर्य का पात नहीं होता । अब यहाँ का स्थान एक जगह लिखते हैं:-

सूर्य का मध्य स्थान	३ । ० । २८ । ०	बुध मन्दोच्च	७ । १० । २८ । २३
सूर्य मन्दोच्च	२ । १७ । १७ । २७	बुध शीघ्रोच्च	० । ३ । ८ । ४५
चन्द्र मध्य	९ । २१ । ५२ । ३७	बुध पात	० । २० । ४० । ३८
चन्द्र मन्दोच्च	२ । ११ । १८ । २२	बृहस्पति मध्य	८ । २२ । ५६ । ४३
चन्द्र पात	२ । २२ । ५० । ३	बृहस्पति मन्दोच्च	५ । २१ । २२ । ५७
मङ्गल मध्य	२ । ७ । २४ । ५२	बृहस्पति शीघ्रोच्च	३ । ० । २८ । ०
मङ्गल मन्दोच्च	४ । १० । २ । ४१	बृहस्पति पात	२ । १९ । ४० । ४
मङ्गल शीघ्रोच्च	३ । ० । २८ । ०	शुक्र मध्य	३ । ० । २८ । ०
मङ्गल पात	१ । १० । ३ । ४	शुक्र मन्दोच्च	२ । १८ । ५२ । २१
बुध का मध्य स्थान	३ । ० । २८ । ०	शुक्र शीघ्रोच्च	१० । २३ । ६ । १८

शुक्रपात	१। ५९। ६९। १६	मङ्गल शीघ्रोच्च	५९। ८
शनि मध्य	३। २०। ५५। ४७	बुध	५९। ८
शनि मन्दोच्च	५। २६। ३७। ३४	बुध मन्दोच्च	अत्यन्त अल्प
शनि शीघ्रोच्च	३। ०। २९। ८	बुध शीघ्रोच्च	२४५। ३२
शनि पात	३। १०। २०। ४१	बृहस्पति	४। ५९
सद्य ग्रहों की भुक्ति या मध्यदैनिक		बृहस्पति मन्दोच्च	अत्यन्त अल्प
गति भी नीचे लिखते हैं:-		बृहस्पति शीघ्रोच्च	५९। ८
सूर्य की गति कलादि	५९। ८	शुक्र	५९। ८
सूर्य मन्दोच्च	अत्यन्त अल्प	शुक्र मन्दोच्च	अत्यन्त अल्प
चन्द्रमा की गति	३९०। ३५	शुक्र शीघ्रोच्च	९६। ८
चन्द्रमा मन्दोच्च	६। ४१	शनि	२। ०
चन्द्र पात	६। ११	शनि मन्दोच्च	अत्यन्त अल्प
मङ्गल	३१। २६	शनि शीघ्रोच्च	५९। ८
मङ्गल मन्दोच्च	अत्यन्त अल्प		

मङ्गलादि ग्रहों के पातों की गति अत्यन्त अल्पही-अतः नहीं लिखी। गणित में शून्यही लेते हैं ॥

५५ विवरण-बृहस्पति के एक राशि से दूसरी राशि में जाने का काल एक प्रकार का सवत्सर माना जाता है। ऐसे ६० संवत्सर हैं जिन के नाम विजय से आरम्भ होते हैं। कल्प के आदि में विजय संवत्सर था तो इस समय कौन संवत्सर होगा। यह जानने के लिये जितनी राशि कल्प की आदि से बृहस्पति ने भोगी हैं उन को ६० पर भाग करो - जो शेष रहे तो उस को विजय से गिन कर संवत्सर का नाम निकाल लो ॥

उदाहरण - श्रावण यदि १ सं० १९४६ तक बृहस्पति के १६४, ९०१, ०२५ भगण और ८ राशि होती हैं। इस को १, ९७८, ८१२, ३०८ राशि हुई ६० पर भाग करने से शेष ८ रहे-इस लिये विजय से ८ वां संवत्सर अर्थात् शवर्ग संवत्सर हुआ ॥

५६ विवरण-त्रेतायुग की आदि से सं० १९४६ श्रावण यदि २ की अर्ध-राशि का अहर्गण ३९०, ७८१, ६४७ निकलेगा, इस से सूर्यादि ग्रहों के मध्य निकालने से यही निकलेंगे जो ऊपर लिख आए हैं। बार निकालने के लिये बुधवार से गिनना चाहिये क्योंकि छत के अन्त में मङ्गलवार था ॥

१ ग्राहस्पत्य संवत्सर हमारे १२ सौर वर्ष के समान होता है । अर्थात् ग्रहस्पति ग्रह की मृग्य की एक परिक्रमा करने में हमारे १२ वर्ष की बराबर समय लगता है और वैदिक समय में ५ वर्ष की १ युग संज्ञा थी और ५ वर्ष का एक ही ग्रह "पञ्चाङ्ग" बनता था । इस कारण ग्रहस्पति का १ युग अर्थात् ५ वर्ष हमारे ६० वर्ष के तुल्य होता है । इस कारण पञ्चाङ्ग धनाने के साथ ६० वर्ष तक की गणना कर लिखते थे और ६० वर्षों का कल्पित नाम रखते थे । यह नाम रखना अपनी इच्छा पर है, इसी कारण भिन्न २ ग्रन्थों में भिन्न २ प्रकार से ६० वर्षों के नाम पाये जाते हैं । वस्तुतः इस से कोई विशेष प्रयोजन नहीं । परन्तु कलित वालों ने इन ६० वर्षों से भी भिन्न भिन्न प्रकार के शुभाशुभ फल की कल्पना करली है ॥

ग्रहस्पति के ६० वर्षों के नाम ये हैं—१ विजय २ जय ३ मन्मथ ४ दुर्मुख ५ हेमलम्ब ६ विलम्ब ७ विकारी ८ शर्वरी ९ मय १० शुभाकृति ११ शोभन १२ कोधी १३ विरवावसु १४ पराभव १५ मवङ्ग १६ कालिक १७ सौम्य १८ साधारण १९ विरोधाकृति २० परिधावी २१ प्रमादी २२ आनन्द २३ राक्षस २४ अनल २५ पिङ्गल २६ कालमुक्त २७ सिद्धार्थी २८ रौद्र २९ दुर्मति ३० दुन्दुभि ३१ रुधि-रोद्गारी ३२ रक्षाक्ष ३३ कोधन ३४ लय ३५ पराभव ३६ विजय ३७ शुक्र ३८ प्रमोद ३९ प्रजापति ४० अङ्गिरा ४१ श्रीमुख ४२ भव ४३ भुवन ४४ पाता ४५ ईश्वर ४६ बहु-धान्य ४७ प्रमाथी ४८ विक्रम ४९ वृषा ५० बिम्बभानु ५१ स्वर्जानु ५२ दारुण ५३ पार्थिव ५४ वयस्य ५५ सर्वजित् ५६ सर्वधारी ५७ विरोधी ५८ विकृत ५९ खर ६० नन्दन ॥

मकरादौ शशाङ्कोच्चं तत्पातस्तु तुलादिगः । निरंशत्वं गताश्चान्ये नोक्तास्ते मन्दचारिणः ॥ ५८ ॥ योजनानि शतान्यष्टौ भूकणौ द्विगुणानि तु । तद्वर्गतोदशगुणात्पदं भूपरिधिर्भवेत् ॥ ५९ ॥ लम्बज्याग्रस्त्रिजीवाप्तः स्फुटोभूप-रिधिः स्वकः । तेन देशान्तराभ्यस्ता ग्रहभुक्तिर्विभाजिता ॥ ६० ॥ कलादि तत्फलं प्राच्यां ग्रहेभ्यः परिशोधयेत् । रेखाप्रतीचीसंस्थाने प्रक्षिपेत्स्युः स्वदेशजाः ॥ ६१ ॥ राक्षसालयदेवौकः शैलयोर्मध्यसूत्रगाः । रोहीतकमवन्ती च यथा सन्निहितं सरः ॥ ६२ ॥

आपानुवाद-उस समय केवल चन्द्रमा का मन्दोच्च मकर की आदि अर्धात् ६ रा० शून्य अंश में और चन्द्रमा का पात तुला के आरम्भ में अर्थात् ६ राशि शून्य अंश में पा । एवं अन्यान्य ग्रहों के मन्दोच्च और पात, ये सब भी अंशरहित न थे ॥ ५८ ॥ ८०० योजन को द्विगुण करने से १६०० योजन पृथिवी के व्यासका परिमाण होगा । इस को १० से गुणा कर, पुनः इस का वर्ग मूल निकालने से पृथिवी की परिधि होगी ॥ ५९ ॥ पृथिवी की परिधि को अभीष्ट देश के लम्बव्या से गुणा करो। गुणन फल में त्रिव्या का भाग देने पर भागफल उस अभीष्ट स्थान की स्फुट परिधि होगी । देशान्तर को ग्रह की भुक्ति (गति) ने गुणा कर गुणन फल में इस स्फुट परिधि द्वारा भाग दे ॥ ६० ॥ भागफल से कलादि निकलें उस को ग्रह के मध्य स्थान से घटाएं, यदि अभीष्ट देश मध्य रेखा से पूर्व दिशा में हो। परन्तु यदि इष्ट देश मध्य रेखा से पश्चिम दिशा में हो तो भागफल कलादिको को जोड़ो तो योगफल स्वदेशीय ग्रहों के मध्यस्थान होंगे ॥ ६१ ॥ लङ्का और सुमेरु पर्यन्त के मध्य सूत्र पर जो रेखा कल्पित हुई है उस का नाम मध्य रेखा है । इस मध्य रेखा पर रोहीतक नगर वज्रयिनी एवं कुशलनादि देश अवस्थित हैं ॥ ६२ ॥

विवरण ५१। ५८ -ऊपर लिखी रीति से कृत के अन्त तक अहर्गण लेकर ग्रहों का स्थान निकालने से श्लोक ५१ और ५८ के कथन का प्रमाण निश्चय हो सकता है। कृतान्त का अहर्गण ११३,३३९,६९३,७१३ निकलेगा । इस में सब ग्रहों के मध्य ०।०।०।० निकलते हैं । चन्द्रोच्च १०।०।०।० और चन्द्रपात ३।०।०।० निकलता है, अहर्गण को ३ पर भाग करने से ३ शेष रहते हैं । इस लिये कृत के अन्त में भङ्गलवार निकलता है ॥

वि० ५८-इस से निरक्ष देश पर परिधि ५०५८ योजन निकलती है ॥

वि० ६०-प्रथम चित्र में निपमेरि वृत्त पृथिवी का गोल है, स उस का मध्य है, निरक्ष वृत्त वह बड़ा वृत्त है जहाँ दिन रात्रि सदैव बराबर होते हैं । निर निरक्ष वृत्त का तथा पृथिवी का व्यास है, रि कोई नगर है, जैसे रिवाही, सने अर्ध व्यास है, इस को त्रिव्या भी कहते हैं, ररिधनु रिवाही का अक्ष है । रिमे रिवाही की मरुसे दूरी है, इस दूरी को लम्ब कहते हैं, परिधि रिवाही की स्फुट परिधि है । परि स्फुट परिधि का व्यास है, जरि मेरि धनु की ज्या है, अब स्फुट परिधि निकालने के लिये यह त्रैराशिक करो । सर वा सने (अर्ध व्यास) पर : उरुभू परिधि : जरि पर : स्फुट परिधि क्या होगी

अर्थात् लम्बन्या जरि को भूपरिधि में गुणा करके त्रिज्या पर भाग करो॥ उदाहरण—रिवाड़ी का लम्ब अर्थात् मेरु से फासला ६१ अंश ५१ कला है। ज्या और त्रिज्या निकालने की रीति दूसरी अध्याय के श्लोक १५, १६ में लिखे हैं। ५१ की ज्या ३०३१ है और त्रिज्या ३४३८ होती है। ५०५८ को ३०३१ में गुणा और ३४३८ पर भाग किया तो ४४५८ स्फुट परिधि हुई। लङ्का और उज्जैन से मेरु के बीच होकर जो वृत्त कल्पित किया जावे उस को मध्य रेखा कहते हैं। जैसे ग्रीनविच अंगरेजों का है। उस रेखा से इष्ट स्थान की दूरी को जो उस की स्फुट परिधि पर मापी जाती है, देशान्तर कहते हैं। ग्रह की भुक्ति किसी स्थान पर उस के स्फुट परिधि के एक परिवर्तन के काल में पूरी होती है। उज्जैन वा लङ्का में जिस राशि आदि में ग्रह होगा उस के पश्चिम की ओर जितने देश हैं उन में उस का भोग कुछ अधिक होगा, क्योंकि ग्रह की गति पश्चिम से पूर्व की ओर है, पश्चिम देशों में ग्रह पहिले दृष्टि पड़ेगा और उस के मध्य रेखा तक पहुंचने तक पश्चिम देश में उस का कुछ विशेष भोग हो जायगा। इसी तरह उज्जैन वा लङ्का से पूर्व में जो देश हैं वहां ग्रह की राशि आदि न्यून होंगी ॥

इस ग्रह का भोग कितना न्यून वा अधिक होगा, सो जानने के लिये यह त्रैराशिक करो। इष्ट देश की स्फुट परिधि पर : उक्त ग्रह की भुक्ति :: देशान्तर : ग्रह की विशेष गति क्या होगी ॥

इस लिये भुक्ति को देशान्तर में गुणा करके स्फुट परिधि में भाग करने से ग्रह की विशेष गति निकल आवेगी जिस को मध्य रेखा पर ग्रह के स्थान में जोड़ने या घटाने से इष्ट देश में ग्रह का मध्य स्थान निकल आवेगा ॥

उदाहरण—रिवाड़ी का देशान्तर ११ योजन पूर्व की ओर है। इस लिये ग्रह की मध्य भुक्ति को ११ में गुणा करके ४४५८ पर भाग करने से जो गति न्यून-धिक करनी है वह निकल आवेगी ॥

यि० ६१—सूर्य की भुक्ति ५८ । ८ है, उस को ११ योजन में गुणा करके ४४५८ पर भाग करें, तो ८ विकला आती हैं। चूँकि रिवाड़ी मध्य रेखा से पूर्व की ओर है इस लिये सूर्य के स्थान से ८ विकला घटाओ, तो रिवाड़ी में सूर्य का स्थान ३ । ० । २८ । ५१ यह हुआ। चन्द्रमा की भुक्ति ५८० । ३५ है इस को ११ में गुणा और ४४५८ में भाग करने से १ । ५१ कलादि लब्ध हुई। इन को चन्द्रमा के स्थान से घटाने से ८ । ६१ । ५० । ४० यह रिवाड़ी में

चन्द्रमा का मध्यस्थान हुआ। इसी तरह मङ्गल का ५ विकला, बुध के शीघ्रोच्च का ३६ विकला, बृहस्पति का १ विकला, शुक्र के शीघ्रोच्च का १४ विकला, शनि का ० विकला, चन्द्रमन्दोच्च का १ विकला और चन्द्रपात का ० विकला देशान्तर फल निकलेगा। इन को यहाँ के स्थान में से घटाने से निम्न लिखित यह हो जायेंगे ॥

सूर्य ३।०।२८।५१। चन्द्रमा ८।२१।५०। ४०। मङ्गल २।७।२४।
४७ बुध शीघ्रोच्च ०।३।८।८ बृहस्पति ८।२२।२६। ४२ शुक्र शीघ्रोच्च १०।
२५। ६। ५ शनि ३।२०। ५५। ४७ चन्द्रमन्दोच्च २।११। १८। २१ चन्द्रपात
२।२२। ५०। ३॥

विवरण ६२-यहाँ लङ्का से वर्तमान लङ्का देश नहीं समझना चाहिये क्योंकि यह तो निरल से ऊपर है और लङ्के की मध्य रेखा से बहुत पूर्व है। लङ्का कोहं टापू वा नगर निरल पर वर्तमान लङ्का देश के दक्षिण पश्चिम कोण में था, अथ वहाँ समुद्र है। कोहं नगर वा टापू नहीं है। जो बड़ा घृत पृथिवी के उत्तर दक्षिण मेरु तथा रोहीतक लङ्के तथा लङ्का के बीच में होकर कल्पित किया जाये उस को मध्य रेखा कहते हैं ॥

अतीत्योन्मीलनादिन्दोः पश्चात्तद्गणितागतात्। यदा भवेत्तदा प्राच्यां स्वस्थानं मध्यतो भवेत् ॥६३॥ अप्राप्य च भवेत् पश्चादेवं वापि निमीलनात्। तयोरन्तरनाडीभिर्हन्याद् भूपरिधिस्फुटम् ॥६४॥ पृष्ट्या विभज्य लब्धैस्तु योजनैः प्रागथापरैः। स्वदेशपरिधिर्ज्ञेयः कुर्याद्देशान्तरं हि तैः ॥६५॥ वारप्रवृत्तिः प्राग्देशे क्षपाऽर्द्धेऽभ्यधिके भवेत्। तद्देशान्तरनाडीभिः पश्चादूने विनिर्दिशेत् ॥६६॥

भाषानुवाद-इष्ट स्थान पर यदि चन्द्रमा के सर्वप्राप्त ग्रहण का आरम्भ या अन्त गणित से आये हुये काल से पीछे हो तो इष्ट स्थान वरु मध्य रेखा से पूर्व दिशा में है, जानना ॥ ६३ ॥ (उन्मीलन से मोक्ष) परन्तु यदि चन्द्रमा के सर्वप्राप्त ग्रहण का आरम्भ या अन्त गणित से आये हुये काल से पहिले हो तो इष्ट स्थान मध्यरेखा की पश्चिम दिशा में जानना (निमीलन से स्पर्श) गणितगत काल और ग्रहणदर्शनकाल दोनों काल का अन्तर दृष्ट, पलादि में निकाल

भायानुवाद-ग्रहका स्थान आधी रात से पहिले या पीछे जानना हो तो ग्रह की दैनिक भुक्ति (गति) को दृष्ट (जिस समय मध्यस्थान स्थित करना हो) पहियों से गुणा कर गुणन फल में ६० का भाग दे, भागफल जो कलादि होंगे उन को ग्रह के स्थान से घटावे । यदि दृष्टकाल आधी रात से पहिले हो तो, एवं यदि दृष्ट काल आधी रात से पीछे होतो जोड़ देवे । इस प्रकार करने से ग्रह का तात्कालिक मध्यस्थान निरूपित होगा ॥ ६७ ॥ रवि मार्ग के जिस स्थान में चन्द्रमा की क्रांति का योग मिला है उस स्थान से २१६० कला के ८० वें भाग का एक भाग (३-३०') उत्तर या दक्षिण में पात द्वारा चन्द्रमा चलायमान हो जाता है अर्थात् चन्द्रमा उक्त परिमाण से अपने स्थान से उत्तर या दक्षिण की ओर चला जाता है । इस को चन्द्रमा का विलेप कहते हैं उक्त ३-३०' चन्द्रमा का परम विलेप है ॥ ६८ ॥ चन्द्रमा का जो परम विलेप हो, उस को ॥ से भाग करके, भागफल को दो भाग में बितना होगा वही बृहस्पति का परम विलेप । इसी प्रकार मङ्गल का परम विलेप ॥ एवं चन्द्रमा के परम विलेप का १/२ बुध, शुक्र और शनि का होगा ॥ ६९ ॥ चन्द्रमा का मध्य परम विलेप २३० कला, मङ्गल का ९० कला, बुध का १२० कला, बृहस्पति का ६० कला, शुक्र का १२० कला, एवं शनि का १२० कला ॥ ७० ॥

विवरण-ग्रहों के मध्यस्थान जो श्लोक ६१ के अर्थ में लिखे हैं वह रिवाजी के अर्धरात्रिक हैं । यदि आधी रात के ७ घड़ी ३० पल उपरान्त समय के ग्रह घनाने हों तो ७ घड़ी ३० पल को ग्रहों की भुक्ति में गुणा कर गुणन फल में ६० का भाग देवे और भागफल को ग्रहों के स्थान में जोड़ देवे तो तात्कालिक ग्रह हो जायेंगे । गणित करने से सूर्य के ७ कला २४ विकला, चन्द्रमा के ८८ कला ४८ वि०, मङ्गल के ३ कला १६ विकला, बुध शीघ्रोच्च के ३० कला ॥ १ वि०, बृहस्पति के कला शून्य ० वि० ३९, शुक्रश्री के १२ क० १ वि०, शनि के कला ० वि० १५, चन्द्रमा के मन्दोच्च के कला ० वि० ५० और चन्द्रपात के कला ० विकला २४ इन को ग्रहों के अपने २ स्थान में जोड़ने से आषण कृष्ण २ की आधी रात से ७ घड़ी ३० पल घीतने पर होंगे ॥ पात में से कलाओं को घटाना चापिये । सूर्य ३ । ० । ३९ । १५, चन्द्रमा ८ । २३ । २८ । २९, मङ्गल २ । ३ । २८ । ४४, बुध शीघ्रोच्च ० । ३ । ३८ । ५१, बृहस्पति ८ । २२ । २३ । १९, शुक्रश्री-प्रोच्च १० । २४ । १८ । ६, शनि १ । २० । १६ । २, चन्द्रमा के मन्दोच्च ५ । ११ । १९ । ११, और चन्द्रपात २ । २३ । ४८ । ४६ ॥ ६७ ॥

ग्रह की कक्षा का वृत्त जिस बिन्दु में क्रान्ति वृत्त को काट कर उससे उत्तर की ओर चढ़ता है उस बिन्दु को " पात " कहते हैं। जब ग्रहपात से दूर होता है तो क्रान्ति वृत्त से उस की दूरी को जो दक्षिण या उत्तर में होती है विलेप कहते हैं। जब ग्रह पात से ३ राशि आगे वा पीछे होता है तब वह क्रान्ति वृत्त से अत्यन्त दूर हो जाता है। इस अत्यन्त दूरी का नाम " परम विलेप " है। ३ राशि और भोग कर ग्रह का कक्षा वृत्त पुनः क्रान्ति वृत्त को काट कर उससे दक्षिण में जाता है यह दूसरा पात है परन्तु गणित में पहिला ही पात लिया जाता है। चन्द्रमा का परम विलेप राशिचक्र की कलाओं का $\frac{1}{2}$ है अर्थात् राशि चक्र २१६०० कला में २३७ चन्द्रमा का परम विलेप है।

इति भाषानुवादे प्रथमोऽध्यायः



अथ द्वितीयोऽध्यायः

—*—

अदृश्यरूपाःकालस्य मूर्तयो भगणाश्रिताः । शीघ्रम-
न्दोच्चपाताख्या ग्रहाणां गतिहेतवः ॥ १ ॥ तद्वातरश्मि-
भिर्यद्वास्तैः सव्येतरपाणिभिः । प्राक्पश्चादपकृष्यन्ते
यथात्तन्नं स्वदिङ्मुखम् ॥ २ ॥ प्रवहाख्यो मरुत् तांस्तु
स्वोच्चाभिमुखमीरयेत् । पूर्वापरापकृष्टास्ते गतिं यान्ति
पृथग्विधाम् ॥ ३ ॥ ग्रहात् प्राग्भगणार्धस्थः प्राङ्मुखं
कर्पति ग्रहम् । उच्चसंज्ञोऽपरार्धस्थस्तद्वत्पश्चान्मुखं ग्रहम्
॥ ४ ॥ स्वोच्चापकृष्टा भगणैः प्राङ्मुखं यान्ति यद्ग्रहाः ।
तत् तेषु घनमित्युक्तमृणं पश्चान्मुखेषु तु ॥ ५ ॥ दक्षिणो-
त्तरतोऽप्येवं पातोराहुः स्वरंहसा । विक्षिपत्येव विक्षेप-
श्चन्द्रादीनामपक्रमात् ॥ ६ ॥

मायानुयाद-अदृश्यरूप, शीघ्रोच्च, मन्दोच्च, एवं पात काल की भूर्ति हैं
और भगणों के आश्रित हैं । इन्हीं के कारण ग्रहों की (स्पष्ट) गति होती
है ॥ १ ॥ वात शीघ्रोच्च, मन्दोच्च एवं पात अपने वायुरूप रस्सियों से सब ग्रहों
को घात कर अपनी ओर खींचते हैं । यह ही मन्दोच्चादि अपने दहिने ओर
घायें रज्जु को पकड़ कर पूर्व और पश्चिम की ओर आकर्षण करते हैं । जो
ग्रह इन के घामभाग में हैं उन को घायें हाथ से एवं जो इन में दहिने ओर
हैं, उन को दहिने हाथ से अपनी ओर खींचते हैं ॥ २ ॥ प्रवह नामक वायु
भी सब ग्रहों को अपने उच्चकी ओर खींचता है । इस लिये ग्रहगण पूर्व
और पश्चिम की ओर आकर्षित होते हैं और इसी कारण ग्रहों की अनेक

प्रकार की गति होती है ॥ ३ ॥ ये उच्चादि यदि ग्रहस्थान से पूर्व छः राशि अर्थात् मेघादि छः राशियों में होने, से ग्रहों को पूर्व की ओर एवं दूसरे आधे में अर्थात् तुलादि छः राशियों में रहने से पश्चिम की ओर आकर्षण करते हैं ॥ ४ ॥ ग्रहगण अपने उच्च से आकर्षित होकर जितने अंशादिक पूर्व की ओर जाते हैं उतने अंशादि उन के मध्यस्थान में जोड़ना पड़ता है और इसी प्रकार जितना अंशादि पश्चिम में आकर्षित होते हैं उतने अंशादि ग्रहमध्यस्थान से घटाना चाहिये ॥ ५ ॥ इसी प्रकार यास (राहु) अपनी शीघ्रता से चन्द्रादि ग्रह को रविमार्ग में चन्द्रमा के शेष क्रान्तिस्थान से उत्तर या दक्षिण की ओर ले जाता है । इस प्रकार जिस ग्रह को जितना विक्षेप करता है उस ग्रह का उतना उत्तर या दक्षिण विक्षेप होता है ॥ ६ ॥

विवरण—चन्द्रमा की कक्षा जिस स्थान में क्रान्ति वृत्त को काट कर ऊपर पड़ती है, उस को राहु कहते हैं और ६ राशि भोग कर दूसरे स्थानमें पुनः क्रान्ति वृत्त को काट कर दक्षिण की ओर जाती है, उस को केतु कहते हैं ॥ ६ ॥

वि० श्लो० १-६ ग्रहों की जो उच्च, पात आदि की गणना का वर्णन है वह केवल गणित की सुगमता के लिये है, वस्तुतः ग्रहों से भिन्न पातादि कोई जीव वा ग्रह की नाईं अपर ग्रह नहीं हैं, जैसा कि भास्कराचार्य ने लिखा है:-

ग्रहः पूर्वगत्या प्रतिमण्डलेनैव भ्रमति । यदेत-
न्नीचोच्चवृत्तं तत्प्राज्ञैर्गणकैः फलार्थं कल्पितम् ।

(सि० शिरोमणि गोलाध्याय छेदकाधिकार)

अर्थात्—वस्तुतः ग्रहगण पूर्व गति से प्रति वृत्त में घूमण करते हैं । ये जो नीच एवं उच्च वृत्त हैं, केवल गणकों ने गणित की सुगमता के लिये कल्पना कीये हैं । इसी प्रकार ब्रह्मगुप्त ने भी अपने “ब्रह्मसिद्धान्त” में लिखा है कि:-

प्रतिपादनार्थमुच्चाः प्रकल्पिताः ।

ग्रहगतेस्तथा पाताः ॥ २६ ॥ गोलाध्याये ।

अर्थात्—ग्रहों की स्पष्ट गति (True motion) प्रतिपादन के लिये “उच्च” और “पात” की कल्पना की गई है ॥

उत्तराभिमुखं पातो विक्षिपत्यपरार्धगः । ग्रहं प्राग्भगणा-
र्धस्यो याम्यायामपकर्षति ॥ ७ ॥ युधमार्गवयोः शीघ्रा-

तद्वत्पातो यदा स्थितः । तच्छीघ्राकर्षणात्तौ तु विक्षि-
प्येते यथोक्तवत् ॥ ८ ॥ महत्वान्मण्डलस्यार्कः स्वल्प-
मेवापकृष्यते । मण्डलाल्पतया चन्द्रस्ततो बहूपकृष्यते
॥ ९ ॥ भौमादयोऽल्पमूर्तित्वाच्छीघ्रमन्दोच्चसंज्ञकैः ।
दैवतैरपकृष्यन्ते सुदूरमतिवेगिताः ॥ १० ॥ अतो धनर्णं
सुमहत् तेषां गतिवशाद्भवेत् । आकृष्यमाणास्तैरेवं व्यो-
म्नि यान्त्यनिलाहताः ॥ ११ ॥

भाषानुवाद—यही पात यदि पश्चिम विभागस्थ अर्पात् तुलादि छः राशि
के अन्तर्गत होता है तो ग्रहों को उत्तर की ओर विक्षेप करता है । एवं
यह पात यदि ग्रहों के पूर्व भागस्थ अर्पात् मेघादि छः राशि के मध्यवर्ती
होता है तो ग्रहादिकों को दक्षिण की ओर विक्षेप करता है ॥ ७ ॥ परन्तु
जब बुध और शुक्र के पात उन के शीघ्रोच्च से समान गति और समान
अन्तर होता है उस समय उच्च के शीघ्रोच्च के आकर्षण द्वारा पूर्वोक्त रीति
से विक्षेप को प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥ सूर्य का मण्डल की गुरुता के कारण
उस के उच्च का आकर्षण बहुत थोड़ा होता है । एव चन्द्रमा के मण्डल लघु
होने के कारण सूर्य की अपेक्षा इस को उच्च बहुत आकर्षण करता है । मङ्गल, बुध,
बृहस्पति, शुक्र, शनि इन पांच ग्रहों के मण्डल छोटे होने से इन को शीघ्रोच्च
और मन्दोच्च बहुत वेग से आकर्षण करते हैं ॥ ९ ॥ पूर्वोक्त कारण से ग्रहों
के मन्दोच्च के आकर्षण में जो गति होती है उस का योगफल या वियोगफल
अधिक होता है । इस प्रकार ग्रहगण शीघ्रोच्च और मन्दोच्च से आकर्षित हो
कर और प्रबल वायु से ताड्यमान होकर आकाश भाग में घमण करते हैं ॥ ११ ॥

वक्रानुवक्रा कुटिलामन्दा मन्दतरा समा । तथा शी-
घ्रतरा शीघ्रा ग्रहाणामष्टधा गतिः ॥ १२ ॥ तत्रातिशीघ्रा
शीघ्राख्या मन्दा मन्दतरा समा । ऋज्वीति पञ्चधा ज्ञेया
या वक्रा सानुवक्रगा ॥ १३ ॥ तत्तद्गतिवशान्नित्यं यथा
दृक्तुल्यतां ग्रहाः । प्रयान्ति तत्प्रवक्ष्यामि स्फुटीकरणमा-
दरात् ॥ १४ ॥

भाषानुवाद—ग्रहों की गति ८ प्रकार की है, वक्रा १, अति वक्रा २, विकला ३, मन्दरा ४, मन्दतरा ५, समा ६, शीघ्रतरा ७ और शीघ्रा ८ ॥ १२ ॥ पूर्वोक्त ८ प्रकार की गतियों में से अतिशीघ्रा, शीघ्रा, मन्दरा, मन्दतरा और समा ये ५ सरला (सीधी) गति हैं और वक्रा, अतिवक्रा और कुटिला, ये ३ वक्रगति हैं ॥ १३ ॥ ग्रहगण प्रतिदिन गमन करते हैं। उन की गति किसी दिन शीघ्र, कभी अति शीघ्र होती है। सुतरां उन की गति अनेक प्रकार की हो जाया करती है। इस समय यही ग्रहगणों की गति स्थिति निरूपणके लिये स्फुट प्रकरण कहूंगा उस स्फुट करने से जो नियम होगा, वही देखने पर भी जाना जायेगा ॥ १४ ॥

राशिलिप्ताष्टमो भागः प्रथमं ज्यार्धमुच्यते । तत्तद्वि-
भक्तलब्धोनमिश्रितं तद्द्वितीयकम् ॥ १५ ॥ आद्येनैवं
क्रमात्पिण्डान् भक्त्वा लब्धोनसंयुताः । खण्डकाः स्यु-
श्चतुर्विंशज्ज्यार्धपिण्डाः क्रमादमी ॥ १६ ॥ तत्त्वाश्वि-
नोऽङ्गार्धकृता रूपभूमिधरर्तवः । खाङ्गाष्टौ पञ्चशून्येश-
वाणरूपगुणेन्दवः ॥ १७ ॥ शून्यलोचनपञ्चैकाशिवद्रूप-
मुनीन्दवः । वियञ्चन्द्रातिधृतयो गुणारन्ध्राम्बराशिवनः
॥ १८ ॥ मुनिपङ्कजमनेत्राणि चन्द्राग्निकृतदक्षकाः । प-
ञ्चाष्टविपयाक्षीणि कुञ्जराशिवनगाशिवनः ॥ १९ ॥ रन्ध्र-
पञ्चाष्टकयमावस्वद्रूपयमास्तथा । कृताष्टशून्यज्वलना-
नगाद्रिशशिवहयः ॥ २० ॥ पट्पञ्चलोचनगुणाश्चन्द्रने-
त्राग्निकृतवहयः । यमाद्रिवन्हिज्वलनारन्ध्रशून्यार्णवाग्नयः
॥ २१ ॥ रूपाग्निसागरगुणावस्वग्निकृतवहयः । प्रोज्-
भ्योत्क्रमेण व्यासार्द्धादुत्क्रमज्यार्धपिण्डकाः ॥ २२ ॥

भाषानु०—एक राशिमें १८०० कला होती हैं, उस के अष्टमभाग में २२५ कला, इसी को इस राशि का प्रथम ज्यार्ध कहते हैं। इस प्रथम ज्यार्ध २२५ को २२५ से भाग करने पर जो १ भाग फल होता है इस १ को प्रथम ज्यार्ध २२५ से

घटाने पर शेष २२४ होगा। इस २२४ को प्रथम ज्याहुं २२५ के साथ जोड़ देने से योगफल ४४९ होगा। यही द्वितीय ज्याहुं है ॥१५॥ उक्त द्वितीय ज्याहुं ४४९ को प्रथम ज्याहुं से भाग करके भागफल २ लेकर यह २ इस के साथ पूर्वद्वितीय ज्याहुं निष्कासन भाग फल से जोड़ने से ३ होगा। इस ३ को उक्त भाजक २२५ से घटाने पर २२२ बचेगा, इसी २२२ को द्वितीय ज्याहुं ४४९ के साथ जोड़ने से ६७१ होगा, यही तृतीय ज्याहुं है। इसी प्रकार क्रमशः १४ ज्याहुं गणना करनी होगी ॥१६॥ किसी घट के चतुर्थांश जिस का व्यासाहुं ३४३८ वच के ३४ अंश की ज्याहुं निम्नलिखित होंगी ॥

अंश या कला	ज्या	अंश या कला	ज्या		
प्रथम कोण ३३	२२५	२२५	१३ वां कोण ४८॥॥	२४७५	२२६७
द्वितीय " ७३	४५०	४४९	१४ वां " ५२	२७००	२४३१
तृतीय " ११३	६७५	६७१	१५ वां " ५६	२९२५	२५८२
चतुर्थ " १५३	९००	८९०	१६ वां " ६०	३१५०	२७२८
पञ्चम " १९३	११२५	११०५	१७ वां " ६३	३३७५	२८५९
छठा " २३३	१३५०	१३१५	१८ वां " ६७	३६००	२९८८
सप्तम " २७३	१५७५	१५२०	१९ वां " ७१	३८२५	३०८४
अष्टम " ३१३	१८००	१७१९	२० वां " ७५	४०५०	३१७७
नवम " ३५३	२०२५	१९१५	२१ वां " ७८	४२७५	३३७२
दशम " ३९३	२२५०	२०९३	२२ वां " ८२	४५००	३४८९
एकादश " ४३३	२४७५	२२६७	२३ वां " ८६	४७२५	३६३१
द्वादश " ४७३	२७००	२४३१	२४ वां " ९०	४९५०	३७३८

पूर्वोक्त ज्याहुं परिमाण सब की उलटे प्रकार से ३४३८ व्यासाहुं से प्रत्यक् प्रत्यक् घटाने पर जो अङ्क घटाने से बचेंगे उनको उत्क्रमज्या कहते हैं। अर्थात् ॥१५॥ अंश में इस प्रकार उत्क्रमज्या हो जाती हैं। १६-२२ श्लोक तक ॥

मुनयोरन्ध्रयमला रसपट्टकामुनीश्वराः ॥ द्व्यष्टैकारूप-
पङ्क्त्याः सागारार्थहुताशनाः ॥२३॥ खर्तुवेदा नवाद्रचर्था
दिङ्मगास्त्रयार्थकुञ्जराः ॥ नगाम्बरवियञ्चन्द्रारूपभूधरश-

द्वाराः ॥ २४ ॥ शरार्णवहुताशैका भुजङ्गाक्षिशरेन्दवः ।
 नवरूपमहीध्रैका गजैकाङ्कनिशाकराः ॥ २५ ॥ गुणाश्वि-
 रूपनेत्राणि पावकाग्निगुणाश्विनः । वस्वर्णवार्धयम-
 लास्तुरङ्गतुनगाश्विनः ॥ २६ ॥ नवाष्टनवनेत्राणि पाव-
 कैकयमाग्नयः । गजाग्निसागरगुणा उत्क्रमज्यार्धपि-
 ण्डकाः ॥ २७ ॥

भाषानुवाद—अथ क्रम से १ से २४ तक की उत्क्रमज्या और अपक्रमज्या नीचे लिखी जाती है ॥

संख्या	उत्क्रमज्या	अपक्रमज्या	संख्या	उत्क्रमज्या	अपक्रमज्या
१	७	७९	१३	११३१	१०५०
२	२८	१८१	१४	१३४५	११०७
३	६६	२७३	१५	१५१८	११६२
४	११७	३६२	१६	१७१८	१२१०
५	१८२	४४८	१७	१८१८	१२५३
६	२४१	५३५	१८	२१२३	१२९१
७	३५४	६१८	१९	२३३३	१३२३
८	४६०	६९८	२०	२५४८	१३५८
९	५७८	७७६	२१	२७६७	१३७७
१०	७१०	८५०	२२	२९६८	१३८८
११	८५३	९१९	२३	३११३	१३९५
१२	१००७	९८८	२४	३२३८	१३९७

परमापक्रमज्या तु सप्तारन्ध्रगुणेन्दवः । तद्गुणा ज्या
 त्रिजीवाप्ता सञ्ज्ञापं क्रान्तिरुच्यते ॥ २८ ॥ ग्रहं संशोध्य
 मन्दोज्जात् तथा शीघ्राद्विशोध्य च । शेषं केन्द्रपदं तस्माद्
 भुजज्या कोटिरेव च ॥ २९ ॥ गताद् भुजज्या विपमे
 गम्यात् कोटिः पदे भवेत् । युग्मे तु गम्याद् बाहुज्या को-

टिज्या तु गताद् भवेत् ॥ ३० ॥ लिप्तास्तत्वयमैर्मक्ता
लब्धं ज्यापिण्डकं गतम् । गतगम्यान्तराभ्यस्तं विभजेत्
तत्त्वलोचनैः ॥ ३१ ॥ तद्वाप्तफलं योज्यं ज्यापिण्डे गत-
संज्ञके । स्यात्क्रमज्याविधिरयमुत्क्रमज्यास्वपिस्मृतः ॥ ३२ ॥

भाषानुवाद-यहाँ की परम क्रान्तिय्या १३८७ । जब यहाँ की मध्यक्रान्ति
लानी हो तब अभीष्टज्या को परम क्रान्तिय्या १३८७ से गुणा कर-गुणन फल
को व्यासाहं ३५३८ से भागदेवे । जो भाग फल हो वह पूर्वोक्त जो व्याहंसंख्या
के साथ समान, इस व्याहंसंख्या में धनु होगी वही धनु ग्रह की मध्य क्रान्ति
होगी ॥ २८ ॥ ग्रह के मन्दोच्च से उसी ग्रह का मध्य पटाने से जो शेष रहे उस
को मन्दकेन्द्र कहते हैं । एवं मन्द केन्द्र और मध्य को शीघ्रोच्च से पटाने पर
जो बचे उस को शीघ्र केन्द्र कहते हैं । इसी शीघ्र केन्द्र और मन्द केन्द्र से
भुजज्या और कोटिज्या निरूपित होंगी । १२ राशि के वृत्त में किसी चतु-
र्थांश में यह केन्द्र होता है उस को (केन्द्र) जान कर इस केन्द्र की भु-
जज्या और कोटिज्या स्थिर करे ॥ २९ ॥ १२ राशि के वृत्त के विषम खण्ड में
(अर्थात् मेघ, वृष, मिथुन प्रथम-एवं तुला, श्यिक, धनु तृतीय-इन की विषम
पद संज्ञा है) अर्थात् राशि चक्र के प्रथम और तृतीय भाग में धनु का जितना
भाग योंत गया है उस को भुजज्या और गम्य अर्थात् इस खण्ड के पूरा
होने को जितना भाग अवशिष्ट (बाकी) है उस को कोटिज्या कहते हैं ।
और सम खण्ड (अर्थात् कर्क, सिंह, कन्या द्वितीय-एवं मकर, कुम्भ, मीन
चतुर्थ भाग-इन की युग्म वा सम पद संज्ञा है) अर्थात् द्वितीय, चतुर्थ भाग
में धनु का गम्य अर्थात् इस खण्ड के पूरा होने में जितने भाग अवशिष्ट हैं
उस को भुजज्या, एवं इस धनु के जितना भाग पूरा हुआ है उस को कोटि-
ज्या कहते हैं ॥ ३० ॥ अभीष्ट अश को कला बनाकर २२५ से भाग देवे । इन
भागफल संख्या में पूर्व कथित जो ज्या के साथ समान होगा, उस का नाम
गतज्या । इस गत ज्या के पीछे जो ज्या लिखी है, उस को गम्यज्या कहते
हैं । इस गत और गम्यज्या को घटाने से जो बचेगा, उस के द्वारा पूर्व भाग
के अवशिष्टाद् से गुणा कर गुणनफल में २२५ का भाग देवे । इस भागफल
को वक्त गतज्या के साथ जोड़ देवे । योगफल अभीष्ट ज्या होगी । इसी नियमसे
अभीष्ट अश की क्रमज्या निकालनी चाहिये । एवं इसी प्रक्रिया से अवशिष्ट

अंश की व्युत्क्रमज्या भी निरूपित होगी ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

ज्यां प्रोज्झ्य शेषं तत्त्वाश्विहतं तद्विवरोद्धृतम् । सं-
ख्या तत्त्वाश्विसंवर्गे संयोज्य धनुरुच्यते ॥ ३३ ॥ रवे-
र्मन्दपरिध्यंशा मनवःशीतगोरदाः । युग्मान्ते विपमान्ते
च नखलिप्तोनितास्तयोः ॥ ३४ ॥ युग्मान्ताऽर्धाद्रयः खा-
ग्नी सुराःसूर्या नवार्णवाः । ओजे द्वयगा वसुयमा रुद्रा
रुद्रा गजाव्ययः ॥ ३५ ॥ कुजादीनामतः शीघ्रया युग्मान्तेऽ-
र्धाग्निदत्तकाः । गुणाग्निचन्द्राः खनगा द्विरसाक्षीणि
गोमनयः ॥ ३६ ॥ ओजान्ते द्वित्रियमला द्विविधे यमपर्वताः ।
खत्तुदत्ता वियद्वेदाः शीघ्रकर्मणि कीर्त्तिताः ॥ ३७ ॥

भाषानुवाद—जिस ज्या पियड का धनु स्थिर करना हो उस ज्या से पूर्व
वर्ती अशुद्ध ज्या को घटावे । जो शेष रहे, उस को २२५ से गुणन करे । पुनः
उस गुणन फल को शुद्ध और अशुद्ध दोनों ज्याओं के अन्तर (घटाने से
को ही) से भाग देवे । पुनः जिसनी ज्या अभीष्ट हो वतनी संख्या और २२५
इन्हों दोनों के गुणनफल में पूर्वोक्त भागफल जोड़ने से जो हो वही अभीष्ट
ज्या पियड की धनु होगी ॥ ३३ ॥ युग्म खण्ड में सूर्य की मन्द परिधि १४
अंश और चन्द्रमा की मन्द परिधि ३२ अंश । किन्तु विपमखण्ड में पूर्वोक्त दोनों
मन्द परिधि बीस २ कला न्यून होगी । अर्थात् विपमखण्ड में सूर्य की मन्द
परिधि १३ अंश ४० कला और चन्द्रमा की मन्द परिधि ३१ अंश ४० कला ॥ ३४ ॥
युग्म खण्ड में मङ्गल की मन्द परिधि ७५ अंश, बुध की म० प० ३० अंश, बृहस्पति
की म० प० ३३ अंश, शुक्र की म० प० १२ अंश और शनि की म० प० ४८ अंश
और विपम खण्ड में मङ्गल की मन्द परिधि ७२ अंश, बुध की म० प० २८
अंश, बृहस्पति की म० प० ३२ अंश, शुक्र की म० प० ११ अंश, एवं शनि की
म० प० ४८ अंश ॥ ३५ ॥ अथ इस समय मङ्गलादि ग्रहों की शीघ्रपरिधि का परि-
माण कहा जाता है । युग्म खण्ड में मङ्गल की शीघ्रपरिधि २३५ अंश, बुध
की शी० प० १३० अंश, बृहस्पति की शी० प० ३० अंश, शुक्र की शीघ्रपरिधि २६२
अंश, एवं शनि की शीघ्रपरिधि ३९ अंश ॥ ३६ ॥ विपम खण्ड में मङ्गल की

शीघ्रपरिधि २३२ अंश, शुक्र की शीघ्रपरिधि १३२ अंश, बृहस्पति की शी० प० ७२ अंश, शुक्र की शी० प० २६० अंश, एवं शनि की शी० प० ४० अंश ॥ ३१ ॥

ओजयुग्मान्तरगुणा भुजज्या त्रिज्ययोद्घृता ।

युग्मे वृत्ते धनर्णं स्यादोजादूनाधिके स्फुटम् ॥३८॥

तद्गुणे भुजकोटिज्ये भगणांशविभाजिते ।

तद्भुजज्याफलधनुर्मान्दं लिप्तादिकं फलम् ॥३९॥

भाषानुवाद-जिस ग्रह की शुद्ध परिधि लानी होवे-उस ग्रह के पूर्वोक्त युग्मखण्ड और विषम की दोनों मन्दपरिधि को आपस में घटाकर उस अन्तर फल को अंगीष्ट केन्द्र की भुजज्या से गुणन करे, एवं गुणन फल में उभासार्द्ध से भाग देवे, अनन्तर इस भाग फल को पूर्वोक्त युग्मखण्ड के मन्दपरिधि से यदि न्यून हो तो उस को जोड़े, एवं यदि अधिक हो तो घटावे । यही योग या वियोग फल उस ग्रह की शुद्ध परिधि होगी ॥३८॥ मान्द और शीघ्र केन्द्र की भुजज्या और कोटिज्या को अपने-२ स्फुट परिधि से अलग-२ गुणन करके गुणन फल को ३६० से भाग देवे, दोनों भागफल, भुजपरिधिकल और कोटि फल होगा । पुनः यह देखना चाहिये कि जो ह्य इस भुजफल के समान है उसी ह्य की धनु में जितनी कला हैं, वही मन्दफल है ॥३९॥

शीघ्रयं कोटिफलं केन्द्रे मकरादौ धनं स्मृतम् । संशोध्यं तु

त्रिजीवायां कर्कादौ कोटिजं फलम् ॥ ४० ॥ तद्वाहुफल-

वर्गैक्यामूलकर्णश्रलाभिधः । त्रिज्याभ्यस्तं भुजफलं चल-

कर्णविभाजितम् ॥४१॥ लब्धस्य चापं लिप्तादिफलं शीघ्रय-

मिदं स्मृतम् । एतदाद्ये कुजादीनां चतुर्थे चैव कर्मणि ॥४२॥

मान्दं कर्मैकमर्केन्दोर्भामादीनामयोच्यते । शीघ्रयं मान्दं

पुनर्मान्दं शीघ्रयञ्चत्वार्यनुक्रमात् ॥ ४३ ॥ मध्येशीघ्रफ-

लस्यार्द्धं मान्दमर्धफलं तथा । मध्यग्रहे मन्दफलं सकलं

शीघ्रघमेव च ॥४४॥

भाषानुवाद-पूर्वोक्त प्रक्रियानुसार शीघ्र केन्द्र से शीघ्र कोटि फल स्थिर करने

से जो अङ्क होगा वह केन्द्र यदि ३ राशि से न्यून और ९ राशि से अधिक हो तो व्यासार्द्ध (३४३८) के साथ यह कोटिफल योग करे और यदि केन्द्र ३ राशि से अधिक किंवा ९ राशि से न्यून हो तो यह कोटिफल व्यासार्द्ध से घटाये, तो स्फुट कोटि निकल आवेगी) ॥४०॥ इस योग वा वियोग फल करे वर्ग की द्वितीय भुजफल के वर्ग के साथ जोड़े, पुनः इस योगफल का वर्ग मूल निकाले। वर्ग मूल संख्या ही शीघ्र कर्ण होगी। तदनन्तर द्वितीय भुजफल के अङ्क को (कोटि १९ में कहा गया है) व्यासार्द्ध से गुणन कर गुणन फलमें उक्त शीघ्र कर्ण की संख्या का भाग देवे ॥४१॥ इस शीघ्र कर्ण से भाग कर जो भाग फल हो, उस ज्या के अनुसार चतुः स्थिर करने पर जो हो वही ग्रहों का फलादि शीघ्र फल होगा। मङ्गलादि ५ ग्रहों के स्फुट साधन समय प्रथम संस्कार में और चतुर्षु संस्कार में इन शीघ्र फल की आवश्यकता होती है ॥४२॥ सूर्य और चन्द्रमा का केवल एक ही बार मान्द्य फल संस्कार करने से इन का स्फुट स्थिर होगा, किन्तु मङ्गलादि पांच ग्रहों का प्रथम से शीघ्र फल पीछे मान्द्य फल अनन्तर पुनर्बार मान्द्य फल एवं पुनर्बार शीघ्र फल संस्कार करने से उन का स्फुट होगा ॥४३॥ पहिले ग्रहों के मध्य में शीघ्र फल का अर्द्धांश संस्कार करना, संस्कार करने पर जो फल मिले उस के साथ मान्द्य फल का अर्द्धांश संस्कार करना चाहिये अर्थात् जो मान्द्य फल उल्लिखित शीघ्र फलार्द्ध संस्कृत मध्य से स्थिर हुआ है, वही संस्कार करना होगा, उस के पश्चात् पुनः ग्रहों के मध्य में मान्द्य फल का समस्त भाग (जो शीघ्र फलार्द्ध और मान्द्य फलार्द्ध संस्कृत मध्य द्वारा जाना गया है) संस्कार किया जावेगा। इसी का नाम मन्द स्पष्ट है, पुनः इस मन्द स्पष्ट द्वारा जो शीघ्र फल स्थिर होगा वही शीघ्र फल का सम्पूर्ण भाग मन्द स्पष्ट में संस्कार करना चाहिये। इस प्रकार संस्कार करने से ग्रहों का स्फुट स्थिर होगा ॥४४॥

अजादिकेन्द्रे सर्वेषां शीघ्रघे मान्द्ये च कर्मणि । धनं ग्रहाणां लिप्तादि तुलादावृणमेव च ॥ ४५ ॥ अर्कबाहुफलभ्यस्ताः ग्रहभुक्तिर्विभाजिता । भचक्रकलिकाभिस्तु लिप्ता कार्या ग्रहेऽर्कवत् ॥ ४६ ॥ स्वमन्दभुक्तिसंशुद्धा मध्यभुक्तिर्निशापतेः । दीर्घान्तरादिकं कृत्वा भुक्तावृण-

णधनं भवेत् ॥ ४० ॥ ग्रहभुक्तेः फलं कार्यं ग्रहवन्मन्द-
कर्मणि। दीर्घ्यान्तरगुणा भुक्तिस्तत्त्वनेत्रोद्घृता पुनः४८

भाषानुवाद—सब ही ग्रहों के शीघ्र केन्द्र वा मन्द केन्द्र सेपादि छ राशि के अन्तर्वर्त्ती होने से उन की कलादि शीघ्र फलाङ्क वा मन्द फलाङ्क धन अर्थात् जोड़ना होगा और तुलादि छ राशि के अन्तर्वर्त्ती होने से ये ही कलादि फल सकल क्रण अर्थात् घटाना पड़ेगा ॥ ४५ ॥ * भुजान्तर सस्कार ग्रह के दैनिक स्फुट गति सख्या को सूर्य के मन्द फल के फलाङ्क से गुणा कर गुणनफलके अङ्क को राशि चक्र के २१६०० कला द्वारा भाग करने से जो भाग फल मिले उस के कलादि की अङ्क सख्या जिस प्रकार सूर्य का मन्द फल जोड़ा या घटाया जाता है उसी प्रकार ग्रह के स्फुट में जोड़ना या घटाना पड़ेगा। इस प्रकार लङ्का के मध्य रात्रि का स्फुट निर्णीत होगा। ग्रहस्थान में जो जोड़ने या घटाने का उल्लेख हुआ है उस को लङ्का के मध्य रात्रि के अहर्गण से ग्रह का जो मध्य निरूपित होता है उस से जानना चाहिये। चन्द्रमा की दैनिकगति के अङ्क से चन्द्रमा के मन्दोद्य के दैनिकगति के अङ्क को घटाने से जो अङ्क अवशिष्ट रहे (वही बचा हुआ द्वारा चन्द्रमा के मन्दोद्य से गति का परिमाण जाना जायेगा) इस अवशिष्ट अङ्कद्वारा पश्चात् लिखित निपमानुसार चन्द्रमा का मन्दफल निरूपण करके चन्द्रमा के दैनिक गति के अङ्क साथ घटाने या जोड़ने से चन्द्रमा की यथार्थ गति निरूपित होगी ॥ ४७ ॥ मन्द फल सस्कार में जिसप्रणाली से ग्रह का मन्दफल निर्णीत होता है, उसीप्रकार ग्रह की दैनिकगति से ग्रह का मन्दगति फल साधन करना चाहिये। ग्रह के मन्दकेन्द्र की ज्या निरूपण करने के समय जो “गत” और “गम्य” ज्या निर्णीत हुआ है, वही दोनों ज्या के परस्पर घटाने से जोधचे उस के द्वारा ग्रह की दैनिक भुक्ति के अङ्क को गुणाकर गुणनफल को २२५ से भाग करे, पुन भाग फल को अपने मन्दपरिधि द्वारा गुणन करे ॥ ४८ ॥

स्वमन्दपरिधिद्विगुणा भगणांशोद्घृताः कलाः। कर्कादौ तु

* टिप्पणी—लङ्का में यथार्थ मध्यरात्रि स्फुट गणना के लिये अहर्गण निरूपण पूर्वक जो ग्रहस्फुट स्थिर किया जाता है उसी ग्रहस्फुट में यह भुजान्तर सस्कार करना पड़ता है ॥

धनं तत्र मकरादावृणंस्मृतम् ॥ ४६ ॥ मन्दस्फुटीकृतां
 भुक्तिं प्रोज्झ्य शीघ्रोच्चभुक्तितः । तच्छेषं विवरेणाथ
 हन्यात् त्रिज्यान्त्यकर्णयोः ॥ ४७ ॥ चलकर्णहतं भुक्तौ कर्णं
 त्रिज्याधिके धनम् । ऋणमूनेऽधिके प्रोज्झ्य शेषं वक्र-
 गतिर्भवेत् ॥ ४८ ॥ दूरस्थितः स्वशीघ्रोच्चाद् ग्रहः शिथिल-
 रश्मिभिः । सव्येतराकृष्टतनुर्भवेद्वक्रगतिस्तदा ॥ ४९ ॥ कृत-
 तुचन्द्रैर्वेदेन्द्रैः शून्यज्येकैर्गणाष्टभिः । शरस्रैश्चतुर्थेषु
 केन्द्रांशैर्भूसुतादयः ॥ ५० ॥

भाषानुवाद—पूर्वोक्तगुणफल को ३६० से भाग देवे, भागफल जो फलदि-
 मिळे (उसी को मन्दगति फल कहते हैं) उस को ग्रह की दैनिक मध्यगति के
 अङ्क के साथ जोड़े या घटावे । यदि मन्द केन्द्र कर्कादि छः राशि के अन्त-
 र्गती हो तो जोड़े, एवं मकरादि छः राशि के अन्तर्वर्ती हो तो घटावे तो
 सूर्य और चन्द्रमा की दैनिकगति और मङ्गलादि अन्यान्य ग्रह की मन्द स्पष्ट
 गति साधित होगी ॥ ४६ ॥ पूर्वोक्त मन्द स्पष्टगति के अङ्क को दैनिक शीघ्रोच्च
 गति के अङ्क से घटाकर धके हुये अङ्क को व्यासार्ध और द्वितीय शीघ्र कर्ण-
 इन दोनों के अन्तराङ्क (घटा कर जो धके) से गुणा कर गुणन फल को इसी
 शीघ्र कर्ण की अङ्क सरुया से भाग करे । यदि कर्ण व्यासार्ध की अपेक्षा अधिक
 होवे तो उक्त भाग फल की मन्द स्पष्ट गति के अङ्क के साथ जोड़े । एवं कर्ण
 व्यासार्ध की अपेक्षा न्यून होने से घटावे, किन्तु यदि भाग फल मन्द स्पष्ट गति
 की अपेक्षा अधिक हो अर्थात् घट न सके तो भाग फल से मन्द स्पष्ट गतिके
 अङ्क को घटावे, घटाने से जो शेष हो उसी को ग्रह की चक्र गति कहते हैं ॥ ४७ ॥
 जिस समय कोई ग्रह अपने शीघ्रोच्च से दूर में अर्थात् ३ राशि अपेक्षा अधिक
 दूर में हो रहता है, उस समय उस की रश्मि शिथिल हो जाने से उस बाईं
 या दहिनी ओर उस को आकर्षण करता है अर्थात् ग्रह उस के बाईं ओर
 होने से दक्षिण ओर की, एवं दहिनी ओर होने से उस को बाईं ओर
 खेंपता है । इसी कारण ग्रहों की चक्रगति होती है ॥ ४८ ॥ ग्रहस्फुट गणना
 समय चतुर्थ संस्कार का केन्द्रांश १६४ होने से मङ्गल चक्र गमन आरम्भ

हो जाता है इसी प्रकार १४४ अंश होने से बुध, १३० अंश होने से वृहस्पति, १६३ अंश होने से शुक, एवं ११५ अंश होने से शनि का वक्रगमन आरम्भ होता है ॥ ५३ ॥

भवन्ति वक्रिणस्तैस्तु स्वैः स्वैश्चक्राद्विशोधितैः । अव-
शिष्टांशतुल्यैः स्वैः केन्द्रैरुज्झन्ति वक्रताम् ॥ ५४ ॥ म-
हत्त्वाच्छीघ्रपरिधेः सप्तमे भृगुभूसुतौ । अष्टमे जीवश-
शिजौ नवमे तु शनैश्चरः ॥ ५५ ॥ कुजार्किगुरुपातानां ग्रह-
वच्छीघ्रजं फलम् । वामं तृतीयकं मान्दं बुधभार्गवयोः
फलम् ॥ ५६ ॥ स्वपातोनाद्ग्रहाज्जीवाशीघ्राद्भृगुजसौ-
म्ययोः । विक्षेपघ्नान्त्यकर्णांस्तौ विक्षेपस्त्रिज्ययाविधौः ॥ ५७ ॥

संक्षेपवाद-उल्लिखित सब अंशों को अलग अलग ३६० अंश से घटाने से

वियोग करे, घटाने से जो शेष रहे उस की भुज्या को उक्त ग्रहों में परम विक्षेप ऋद्ध से (जो अ० १ श्लोक ७० में कहा गया है) गुणा कर गुणनफल को चतुर्थं शोधकरण के अङ्क से भाग देवे । जो भागफल मिले वही मङ्गल, बृहस्पति, शनि, बुध और शुक्र का विक्षेप है, किन्तु चन्द्रमा के विक्षेप साधन काल में चतुर्थं शोधकरण स्थल में व्यासार्द्ध से भाग करना होता है । वही भागफल चन्द्रमा का विक्षेप होगा ॥ ५७ ॥

विक्षेपापक्रमैकत्वे क्रान्तिर्विक्षेपसंयुता । दिग्भेदे विद्युता स्पष्टा भास्करस्य यथा गता ॥ ५८ ॥ ग्रहोदयप्राणहता खखाष्टैकोद्धृता गतिः । चक्रासवो लब्धयुताः स्वाहोरात्रासवः स्मृतः ॥ ५९ ॥ क्रान्तेः क्रमोत्क्रमज्ये द्वे कृत्वा तत्रोत्क्रमज्यया । हीना त्रिज्या दिनव्यासदलं तद्विक्षिणोत्तरम् ॥ ६० ॥ क्रान्तिज्याविषुवद्भ्रात्री क्षितिज्या द्वादशोद्धृता । त्रिज्यागुणाहोरात्रार्धं कर्णात्माचरजासवः ॥ ६१ ॥

भाषानुवाद—किसी ग्रह की स्पष्ट क्रान्ति स्थिर करनी हो तो (नेप से कन्या तक ६ राशि उत्तर और तुला से मीन तक ६ राशि दक्षिण) उस ग्रह के विक्षेप और अपक्रम (क्रान्ति) यदि रयिमार्ग के एक दिशा में अवस्थित हो तो उस की मध्य क्रान्ति के साथ विक्षेपाङ्क को जोड़े और एक दिशा में अवस्थित न हो तो मध्य क्रान्ति से विक्षेपाङ्क घटावे । इसी प्रकार योग या वियोग करके जो फल मिले वही उस ग्रह की स्पष्ट क्रान्ति है । परन्तु सूर्यकी मध्य क्रान्ति ही उस की स्पष्ट क्रान्ति है ॥ ५८ ॥ सायन ग्रह जिस राशि में अवस्थित हो उस राशि के लग्नमान के प्राणाङ्क से उस ग्रह की दैनिक कलादि गति के अङ्क को गुणन करके गुणन फल को १८०० से भाग देवे, भागफल को १२ राशि के लग्नमान के प्राणाङ्क के साथ जोड़ने से जो समष्टि होगी, वही उस ग्रह के अहोरात्र का परिमाण होगा ॥ ५९ ॥ पूर्वोक्त अनुसार ग्रह की क्रान्ति का क्रमज्या और उत्क्रमज्या साधन पूर्वक उत्क्रमज्या को व्यासार्द्ध से घटा कर जो बचे वही महाविषुव रेखा के दक्षिण या उत्तर दैनिक वृत्त का व्यासार्द्ध होगा । इसी को द्युज्या कहते हैं । द्युज्या क्रमज्या को ही क्रान्तिज्या कहते हैं ॥ ६० ॥ उपरोक्त क्रान्तिज्या को विषुव दिन की पलभा से गुणा कर, गुणन फल में १२ का भाग दे । भागफल कुज्या होगी । कुज्या को व्यासार्द्ध से गुणा

फर गुणनफल को पूर्व कथित द्युज्या से भाग देवे । भागफल चरज्या होगी । इस चरज्या की कला आदि धनु ही चरार्ध का माण होगा ॥ ६१ ॥

तत्कार्मुकमुदयक्रान्तौ धनहानी पृथक् स्थिते । स्वाहो-
रात्रचतुर्भागे दिनरात्रिदले स्मृते ॥ ६२ ॥ याम्यक्रान्तौ विप-
र्यस्ते द्विगुणे तु दिनक्षपे । विक्षेपयुक्तो नितया क्रान्त्या-
भानामपि स्वके ॥ ६३ ॥ भभोगोऽष्टशतीलिप्ताः स्वाश्विशै-
लास्तथातिथेः । ग्रहलिप्ता भभोगोऽष्टा भानि भुक्त्या दि-
नादिकम् ॥ ६४ ॥ रवीन्दुयोगलिप्ताभ्यो योगाभभोगभा-
जिताः । गता गम्याश्च पष्टिप्ता भक्तियोगाप्तनाडिकाः ॥ ६५ ॥

भाषानुवाद—यदि क्रान्ति उत्तरदिश्वर्त्तिनी हो तब अहोरात्र के परिमाण के चतुर्धाश को दो भिन्न स्थानों में रखकर एक स्थानस्थ उक्त चरार्ध जोड़े और अन्य स्थानस्थ अङ्क से घटावे तो यथाक्रम दिनाह्नमान और रात्र्यह्नमान निरूपित होगा और यदि यह क्रान्ति दक्षिणदिश्वर्त्तिनी हो तब उक्त चरार्ध को यथाक्रम घटावे और जोड़े इस प्रकार—इस प्रकार करने से पूर्वयत् दिनाह्नमान और रात्र्यह्नमान स्थिर होवेगा । दिनाह्नमान और रात्र्यह्नमान को द्विगुण करने से दिनमान और रात्रिमान होगा । इस प्रकार नाक्षत्रिक दिन के परिमाण को जानने ही से यथाक्रम उम २ की क्रान्ति के अङ्क के साथ उम २ के वित्-
पाङ्क को जोड़े या घटावे ॥ ६२ । ६३ ॥ भभोग प्रधात् नक्षत्र के परिमाण ८०० फला और तिथि या चान्द्रदिन का परिमाण ७२० कला अश्लेष समय के ग्रह क्षुट की राश्यादि की कला धनकर पूर्वोक्त भभोग (८००) में भाग करने

हुवे अङ्क को ८८० से घटावे, घटाने से जो बिले उस का नाम "गम्य" है। इन दोनों अङ्कों को भिन्न भिन्न ६० से गुणा कर गुणनफल को सूर्य और चन्द्रमा की स्फुट गति की समष्टि से भाग करने से, जो फल हो वह यथाक्रम घर्तमान योग के गत एवं गम्य दण्डादि होंगे ॥ ६५ ॥

विंवरण-विष्कुम्भ, प्रीति, आयुमान्, सीमाग्य, शोभन, अतिगण्ड, सुकर्मा, धृति, शूल, गण्ड, एष्टि, भुव, व्याघात, हयंण, वज्र, सिद्धि, व्यतिपात, बरीयान्, परिय, शिव, सिद्ध, साध्य, शुभ, शुक्र, ब्रह्मा, इन्द्र, वैष्ण्वि, ये ही २७ योग एक आदि क्रम से अष्टिनी आदि नक्षत्रों के योग का नाम है।

अर्कोनचन्द्रलिप्ताभ्यस्तिथयो भोगभाजिताः । गता गम्याश्च पष्टिघ्ना नाद्योभुक्त्यन्तरोद्धृताः ॥ ६६ ॥ ध्रुवानि शकुनिर्नागं वृतीयं तु चतुष्पदम् । किंस्तुघ्नं तु चतुर्दश्याः कृष्णायाश्चापरार्थतः ॥ ६७ ॥ ववादीनि ततः सप्त चराख्यकरणानि च । मासेऽष्टकृत्व एकैकं करणानां प्रवर्तते ॥ ६८ ॥ तिथ्यर्द्धभोगं सर्वेषां करणानां प्रकल्पयेत् । एषा स्फुटगतिः प्रोक्ता सूर्यादीनां स्वचारिणाम् ॥ ६९ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

भाषानुवाद-अभीष्ट समय में चन्द्रमा के स्फुट से सूर्य स्फुट घटाने पर जो राश्यादि यथे तन की कला बना कर तिथि भोग ७२० से भाग देवे, जो भागफल हो वह गत तिथि वा चान्द्र दिन और जो अवशिष्ट रहे, वह घर्तमान तिथि के गत (वीतर) अंश, एवं इस अवशिष्ट अङ्क को ७२० से घटाने पर जो धवे यही गम्य घीतने वाला । इस गत और गम्य इन दो अङ्कों को पुनः पुनः ६० से गुणन कर गुणनफल को भिन्न २६० स्थानों में रखे तदन्तर चन्द्रमा की दैनिक स्फुट गति से सूर्य की दैनिक स्फुट गति घटा कर जो धवे उस से पूर्व स्थापित दोनों अङ्कों को यथाक्रम से भाग देवे, भागफल यथान्तम से घर्तमान तिथि का गत और गम्य दण्डादि अथगत हो सकता है । ॥ ६६ ॥ रुद्रपक्ष की चतुर्दशी के परार्द्ध से आरम्भ होकर शुक्लपक्ष की परिव्राते पूर्णार्द्ध तक क्रमशः शकुनि, नाग, चतुष्पद और किंस्तुघ्न, ये चार स्वर कारण होते हैं ॥ ६७ ॥ और ववादि ७ चर नामक करण शुक्लपक्ष की परिव्राते परार्द्ध से यथाक्रम से होते हैं । ये करण प्रत्येक मास में आठ बार परिवर्तित

होते हैं ॥६८॥ तिथिमान का अर्द्धभाग ही प्रत्येक करण का भोग काल है ।
सूर्यादि की दर्शनोपयोगी गति आदि का वर्णन किया गया ॥६९॥

विवरण—किस तिथि के पूर्वाह्न और पराह्न में कौन करण होगा, यह नीचे लिखित चक्र द्वारा भली भाँति ज्ञात होगा। चक्रकी प्रथम पङ्क्ति में १ से ३० तिथि अर्थात् शुक्लपक्ष की परिवासे अमावस्या तक लिखा है, द्वितीय और पञ्चम पङ्क्ति में इस २ तिथि के पूर्वाह्न में जो २ करण होंगे उस २ का अङ्क रक्खा गया है। और तृतीय और ६ठी पङ्क्ति में इस २ तिथि के पराह्न में जो २ करण होंगे उस २ का अङ्क रक्खा गया है। जैसे—प्रथम पांति के एक के अङ्क में शुक्ल पक्ष की परिवा है। इस तिथि के पूर्वाह्न होने से द्वितीय पांति के प्रथम में “कि०” द्वारा किंस्तुम्भ करण, एवं पराह्न होने से तृतीय पांति के १ अङ्क में घव करण होगा। इस प्रकार क्रमशः गणना करनी होगी। इन सम्पूर्ण करणों का नाम—वध, चतुष्पद, भाग और किंस्तुम्भ है। ये ही चार करण मिल कर ११ करण होंगे। निम्नलिखित चक्र में विष्टि के बदले में (०) शून्य और शकुनि के बदले में (श०), चतुष्पद के बदले में (च०), भाग के बदले में (भा०), किंस्तुम्भ के बदले में (कि०), ये सब लिखे हैं ॥

करणों के नाम—शकुनि, चतुष्पद, भाग, किंस्तुम्भ, ये चार प्रुवकरण हैं और वध, घालव, फौलव, तैतिल, गर, वणिज् विष्टि; ये सात चरकरण हैं ॥

तिथियों के अनुसार करण ज्ञापकचक्र ॥

तिथियों के अङ्क	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	शुक्लपक्ष
तिथियों के पूर्वाह्न में जो करण होते हैं	कि	२	४	६	१	३	५	०	२	४	६	१	३	५	०	
तिथियों के पराह्न में जो करण होते हैं	१	३	५	०	२	४	६	१	३	५	०	२	४	६	१	
तिथियों के अङ्क	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	शुक्लपक्ष
तिथियों के पूर्वाह्न में जो अङ्क होते हैं	२	४	६	१	३	५	०	२	४	६	१	३	५	०	च०	
तिथियों के पराह्न में जो करण होते हैं	३	५	०	२	४	६	१	३	५	०	२	४	६	श०	कि०	

करण के जो सिख २ नाम हैं वह कलित ज्योतिष का विषय है और "करण" संज्ञा भी प्राचीन ग्रन्थों में अर्थात् गृह्यसूत्र और महाभारत आदि में नहीं पाई जाती परन्तु इस समय "पञ्चाङ्ग" के ५ अङ्गों में से करण एक अङ्ग माना जाता है और कलित जो महाराज इस से जी माना प्रकार के शुभाशुभ फल की कल्पना करते हैं । देखो भूमिका ॥

इति भाषानुवादे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥



अथ तृतीयोऽध्यायः

त्रिमशनाधिकारः

शिलातलेऽम्बुसंशुद्धे वज्रलेपेऽपि वा समे । तत्र शङ्कु-
लैरिष्टैः समं मण्डलमालिखेत् ॥ १ ॥ तन्मध्ये स्थापये-
च्छङ्कुं कल्पनाद्वादशाङ्गुलम् । तच्छायाग्रं स्पृशेद्यत्र
वृत्ते पूर्वापरार्धयोः ॥ २ ॥ तत्र विन्दू विधायोभौ वृत्ते
पूर्वापरभिधौ । तन्मध्ये तिमिना रेखा कर्त्तव्या दक्षि-
णोत्तरा ॥ ३ ॥ याम्योत्तरदिशोर्मध्ये तिमिना पूर्वपश्चिमा ।
दिङ्मध्यमत्स्यैः संसाध्या विदिशस्तद्वदेव हि ॥ ४ ॥

भाषानुवाद—जल की नाईं बराबर पत्थर पर या कठिन समक्षेत्र में दृष्टजङ्गुली
के परिमाण का समवृत्त रचना करे। उसमें १२ अङ्गुल का शङ्कु (काठ का दण्ड उत्तम
बना हुआ) स्थापन करे उस के आगे वृत्त को पूर्वाग्रह या अपराग्रह में जिस जगह
छुए वहां दो पूर्वापर (पूर्वान्तिक और अपरान्तिक) विन्दु (चिन्ह) लिखे। तिमि
रेखा (दो वृत्त के छेद में उत्पन्न गछली की नाईं स्थापन का नाम "तिमि"
है) द्वारा उन दोनों विन्दु के बीच दक्षिणोत्तर रेखा खेंचे, दक्षिणोत्तर के दो
विन्दुओं को केन्द्रकारक (मार्ग कर) व्यासार्ध परिमाण से वृत्त खेंचे, वही
तिमि होगी, उस से पूर्व और पश्चिम रेखा बनती है, दिशा के मध्य उत्त
तिमि द्वारा ईशानादि (ईशान, अग्नि, नैऋत्य, धातव्य, इन चार विदिशाओं
का निश्चय करे) विदिशा की रेखा होगी ॥ १, २, ३, ४ ॥

चतुरस्रं वहिःकुर्यात्सूत्रैर्मध्याद्विनिर्गतैः । भुजसूत्राङ्गुलै-
स्तत्र दक्षैरिष्टप्रभा स्मृता ॥ ५ ॥ प्राक्पश्चिमाश्रिता रेखा
प्रोच्यते सममण्डलम् । उन्मण्डलञ्च विपुवन्मण्डलं परि

कीर्त्यते ॥ ६ ॥ रेखा प्राच्यपरा साध्या विपुवद्वाग्रगा
तथा । इष्टच्छायाविपुवतोर्मध्यमग्राभिधीयते ॥ ७ ॥
शङ्कुच्छाया कृतियुतेर्मूलं कर्णोऽस्य वर्गतः । प्रोज्झ्य
शङ्कुकृतिं मूलं छायाशङ्कुर्विपर्ययात् ॥ ८ ॥

भाषानुवाद—अभीष्ट स्थान से दिक् सम्पातरूप रेखा से निकली हुई
आठों दिशाओं की रेखा द्वारा जो केन्द्र के दृष्ट से बाहर है, छाया के परि-
माण से दृष्ट खँचकर पूर्व पश्चिम की रेखा से दृष्ट के बाहर एक सम चतुष्कोण
क्षेत्र खँचे, दृष्ट में छाया के अनुसार भुज (शङ्कु के आगे की छाया की दूरता
के परिमाण को भुज कहते हैं) पूर्व में या पश्चिम में उत्तर में या दक्षिण में
खँचकर भुजाय के साथ जहाँ केन्द्र का संयोग हुआ है, वहाँ इष्ट छाया दिशा
ज्ञात हो जावेगी ॥ ५ ॥ पूर्वोपर रेखा का नाम सममण्डल रेखा विपुवन्मण्डल
रेखा और उन्मण्डल रेखा, ये तीनों नाम हैं ॥ ६ ॥ उक्त सम चतुष्कोण
में विपुव छाया के परिमाण पूर्वोपर रेखा से दूर उत्तर भाग में एक सम रेखा
साधन करो विपुवद् रेखा से इष्ट छाया रेखा के अन्तरको “अया” कहते हैं ॥ ७ ॥ शङ्कु
छायाका वर्ग करो और इस शङ्कुवर्ग में शयर्ग को जोड़ो। पुनः उस योगफल का
वर्ग मूल निकालने से छाया कर्ण होता है। छाया कर्ण का वर्ग करो, इस को
शङ्कु वर्ग से घटावे। पुनः शेष अङ्क का वर्ग मूल निकालने से छाया होगी।
और उस के विपरीत करने से अर्धात् छाया कर्ण के वर्ग से छाया वर्ग घटाने
से शेष फल शङ्कु वर्ग होगा ॥ ८ ॥

* त्रिंशत्कृत्यो युगेभानां चक्रं प्राक्परिलम्बते । तद्गुणाद्
भूदिनैर्भक्ताद्दुग्गुणाद्दवाप्यते ॥ ९ ॥ तद्दोस्त्रिघ्नाद-
शास्त्रांशा विज्ञेया अयनाभिधाः । तत्संस्कृताद्ग्रहात्क्रा-
न्तिच्छायाचरदलादिकम् ॥ स्फुटं द्रवतुल्यतां गच्छेदयने
विपुवद्वये ॥ १० ॥ प्राक्चक्रं चलितं हीने छायार्कात्क-
रणागते । अन्तरांशैरथावृत्य पश्चाच्छेपैस्तथाधिके ॥ ११ ॥

* इस के टीकाकार पं० रङ्गनाथ ने लिखा है कि यह पाठ (त्रिंशत्
इत्यादि) भ्रान्तादिक है। सौरसिद्धान्तग्रन्थ में ऐसा पाठ है कि—“युगे घट्यत
कृत्यो हि भक्तं प्रागविलम्बते” ॥

एवं विषुवती छाया स्वदेशे या दिनार्धजा । दक्षिणो-
त्तररेखायां सा तत्र विषुवत्प्रभा ॥ १२ ॥

भाषानुवाद—एक महायुग में भ्रमक (राशिचक्र) पूर्व और पश्चिम दिशा में ६०० बार चलता है अर्थात् राशिचक्र विषुव रेखा से पश्चिम ओर २१ अंश चल कर पुनः अपनी विषुव रेखा पर (अपने स्थान पर) फिर आता है और उस स्थान से पूर्व की ओर इसी प्रकार २१ अंश जाकर पुनः अपनी विषुवरेखा पर वापिस आजाता है । इस प्रकार एक महायुग में ६०० बार जाता और आता है । इस लिये एक कल्प में ६००००० बार जाता और आता है । इसी को “अयन” कहते हैं । एवं इसी के अंश को अयनांश कहते हैं । इस ६०० को अहर्गणसे गुणा कर गुणनफलको युगके साधनदिनसे भाग देवे । भागफल भागणादि (भागण, राशि, कला, विकला) होंगे । इस भागफल में से भागण को छोड़ देवे और राशि, कला, विकला जो हों उस का भुज बनावे (पूर्वोक्त रीति से) उस भुजांश को तीन से गुणा कर गुणनफल में १० से भाग देवे । भागफल अयनांश होगा । ग्रहों का अयनसंस्कार करने से ग्रहों की क्रान्ति, उषा, चर आदि स्थिर होते हैं । दोनों विषुव दिन में (दोनों उत्तरायण और दक्षिणायन की सन्धि) उक्त नियमों का अन्वयास निश्चय होता है ॥ ८ । १० ॥ छाया द्वारा जाना हुआ सूर्य से गणित द्वारा छाया हुआ स्पष्ट सूर्य यदि न्यून हो तो चक्र (क्रान्तिवृत्त) पूर्ववर्ती है और छायागत सूर्य से गणितागत स्पष्ट सूर्य अधिक हो तो चक्र (क्रान्तिवृत्त) पश्चिमवर्ती होगा । अन्तरांश द्वारा क्रान्तिवृत्त चलता है ॥११॥ अपने अपनीष्ट देश में इस प्रकार से विषुव दिन के मध्याह्न की छाया दक्षिणोत्तर रेखा में दिखाई देती है यही वहां की विषुव छाया है ॥ १२ ॥

शङ्कुच्छायाहते त्रिज्ये विषुवत्कर्णभाजिते । लम्बाक्षज्ये
तयोश्चापे लम्बाक्षौ दक्षिणौ सदा ॥ १३ ॥ मध्यच्छाया-
भुजस्तेन गुणिता त्रिभमौर्विका । स्वकर्णाप्ता धनुर्लिप्ता
नन्तास्ता दक्षिणे भुजे ॥ १४ ॥ उत्तराश्चोत्तरे याम्यास्ताः
सूर्यक्रान्तिलिप्तिकाः । दिग्भेदे मिश्रिताः साम्ये विशिल-

ष्टाश्राक्षलिप्तिकाः ॥१५॥ ताम्ब्योऽक्षज्या च तद्वर्गं प्रोज्जम्ब्य
त्रिज्याकृते पदम् । लम्बज्यार्कगुणाक्षज्या विषुवद्वाथ
लम्बया ॥१६॥ स्वाक्षार्कनतभागानां दिक्साम्येऽन्तरम-
न्यथा ॥ दिग्भेदेऽपक्रमः शेषस्तस्य ज्या त्रिज्यया हता ॥१७॥

भाषानुवाद—दो स्थानों में रखी हुई त्रिज्या की अलग २ शङ्कु अर्थात् १२ से गुणा कर गुणनफल को विषुवच्छाया कर्ण से भाग देवे, भागफल पहिले स्थान में रखी हुई त्रिज्या की लम्बज्या होगी और दूसरे स्थान में रखी हुई त्रिज्या की अक्षज्या होगी और लम्बज्या का धनु बनाने से लम्ब होगा और अक्षज्या का धनु बनाने से अक्ष होगा ॥ १३ ॥ इष्टदिन ॥ मध्यान्ह की छाया का नाम "भुज" है, उस को त्रिज्या से गुणा कर गुणनफल को मध्यान्ह छायाकर्ण से भाग देवे, भागफल का धनु बनावे, यही "गति" होगी, यह नतकला मध्यान्ह छाया (भुज) यदि पूर्वापर रेखा से दक्षिण में हो तो उत्तर नत कला होगी और यदि पूर्वापर रेखा से उत्तरभुज उत्तर में हो तो दक्षिण नतकला होगी । उक्त नत कला और सूर्यक्रान्ति यदि एक दिशा में हों तो दोनों को एकत्र जोड़े और यदि दोनों भिन्न दिशा में हों तो एक में से दूसरे को घटावे तो योगफल वा वियोगफल स्वीय अक्ष होगा ॥ १४ ॥ १५ ॥ उक्त अक्ष कलाओं से अक्षज्या होती है, अक्षज्या का वर्ग करे, एव इस को त्रिज्या वर्ग से घटावे, शेष अङ्क का मूल निकाले, वही लम्बज्या होगी । अक्षज्या को १२ से गुणा कर गुणनफल में लम्बज्या का भाग देवे, भागफल विषुवच्छाया होगी ॥ १६ ॥ स्वदेश के अक्ष और इष्ट दिन के मध्यान्ह सूर्यन-
तांश एक दिशा में हों तो दोनों के अन्तर (घटाने से) करने से शेषफल सूर्य
क्रान्ति होगी, एवं यदि दोनों भिन्न दिशा में हों तो दोनों को योग करने से
योगफल सूर्य क्रान्ति होगी । इस सूर्य क्रान्तिज्या को त्रिज्या से गुणन करे ॥१७॥

परमापक्रमज्याया चापं मेपादिगोरविः । कर्कादौ प्रो-
ज्जम्ब्य चक्रार्धात् तुलादौ भार्यसंयुतात् ॥ १८ ॥ मृगादौ
प्रोज्जम्ब्य भगणान्मध्यान्हेऽर्कः स्फुटोभवेत् । तन्मान्दमं-
सकृद्व्यामं फलं मध्योदिवाकरः ॥ १९ ॥ स्वाक्षार्कप-

क्रमयुतिदिक्ताम्येऽन्तरमन्यथा । शेषं नतांशाः सूर्यस्य
तद्वाहुज्या च कोटिजा ॥ २० ॥ शङ्कुमानाहुलाभ्यस्ते
भुजत्रिज्ये यथाक्रमम् । कोटिज्यया विभज्याप्ते छाया
कर्णावहर्दले ॥ २१ ॥ क्रान्तिज्या विपुवत्कर्णगुणाप्ता शङ्कु-
जीवया । अर्काग्रा स्वेष्टकर्णघ्नी मध्यकर्णोद्घृता स्वका
॥ २२ ॥ विपुवद्भायुतार्काग्रा याम्ये स्यादुत्तरो भुजः ।
विपुवत्यां विशोध्योदग्गोले स्याद्वाहुरुत्तरः ॥ २३ ॥

भाषानुवाद—उक्त गुणफल में परम क्रान्तिज्या (११६९) का भाग देवे,
भागफल की ज्या घमावे तो नेपादि (नेप, वृष, मिथुन) राशियोंसे सायन
रवि स्पष्ट होगा और उक्त भागफल ज्या फर्कटादि (कर्क सिंह कन्या)
राशियों में चक्रार्द्ध से (६ राशि से) घटाने पर शेष फल मध्याह्न काल से
स्फुट सूर्य होगा और तुलादि (तुला, वृश्चिक, धनु) राशियों में ३३ राशि
योग करने से सायन रवि स्पष्ट होगा और मकरादि (मकर, कुम्भ, मीन)
राशि में १२ राशि से वियोग करने पर सायन रवि स्पष्ट होगा । सूर्य स्पष्ट
से सान्द्रफल निर्णय करके उलटी रीति से अनेक बार संस्कार करने से सूर्य
मध्य होगा अर्थात् सूर्य स्पष्ट की सूर्य मध्य की नाहं गणित कर मन्दोच्चादि
संस्कार द्वारा सान्द्रफल प्राप्त होकर उलटी रीति से संस्कार करने से स्पष्ट
सूर्य होगा । उक्त की मध्य जान कर सान्द्रफल पुनः उक्त रीति से सूर्य स्पष्ट
में छिपरीत साध से संस्कार करे ॥ ११५ । १८ । १९ ॥ अथर्वेण कर अर्थात् और

कर्ण से गुणा कर गुणनफल में त्रिज्या का भाग देवे, भागफल स्वर्ग की अग्र होगी ॥ २२ ॥ दक्षिण मोल में विषुवच्छाया से सूर्य के अग्नीष्ट कालिक कर्ण की अग्र को जोड़े तो उत्तरभुज होगा और उत्तरमोल में विषुवच्छाया से सूर्य के अग्नीष्ट कालिक कर्ण की अग्र को घटावेतो शेष फल उत्तरभुज होगा ॥ २३ ॥

विपर्ययाद्भुजो याम्योभवेत् प्राच्यपरान्तरे । माध्या-

न्हिकोभुजो नित्यं छाया माध्यान्हिकी स्मृता ॥ २४ ॥ लम्बा-

क्षजीवे विषुवच्छायाद्वादशसंगुणे । क्रान्तिज्याप्ते तु

तौ कर्णौ सममण्डलगे रवौ ॥ २५ ॥ सौम्याक्षो ना यदा क्रान्तिः

स्यात्तदा द्युदलश्रवः । विषुवच्छाययाभ्यस्तः कर्णौ

मध्याग्रयोद्घृतः ॥ २६ ॥ स्वक्रान्तिज्या त्रिजीवाग्नी ल-

म्बज्याप्ताग्रामोर्विका । स्वेष्टकर्णहता भक्ता त्रिज्ययाग्रा-

ह्नुलादिका ॥ २७ ॥

भाषानुवाद-यदि सूर्य से अग्नीष्ट कालिक कर्ण की अग्र विषुवच्छाया न पड़ सके तो विषुव छाया को अग्नीष्ट कालिक सूर्य के कर्ण की अग्र को घटावे, शेषफल दक्षिण भुज होगा । पूर्वोपर रेखा के मध्य में दक्षिण, अर्थात् उत्तरभुज होता है और मध्यान्हकालिक छाया का नाम भुज है ॥ २४ ॥ लम्बज्या को विषुव छाया से गुणा कर गुणनफल में क्रान्तिज्या का भाग देवे, भागफल यदि सम मण्डलस्थ सूर्य हो तो "छाया" होगी । पुनः अक्षज्या को १२ से गुणा कर गुणनफल में क्रान्तिज्या का भाग देवे । भागफल यदि सम दलस्थ सूर्य हो तो छाया कर्ण होगा ॥ २५ ॥ यदि उत्तर क्रान्ति अक्ष से मूल है तो समदलस्थ सूर्य की साधित क्रान्ति मध्याह्न कर्ण की विषुवच्छाया से गुणा कर गुणनफल में मध्याह्न कर्ण की अग्र का भाग देवे, भागफल सम मण्डलस्थ यह का छाया कर्ण होगा ॥ २६ ॥ इष्ट कालिक क्रान्तिज्या को त्रिज्या से गुणा कर गुणनफल को लम्बज्या से भाग देवे, भागफल अग्र होगी, उस को अपने इष्ट कर्ण से गुणा कर गुणनफल में त्रिज्या से भाग देवे, भागफल अह्नुलादिक होगा ॥ २७ ॥

त्रिज्यावर्गार्धतोऽग्रज्या वर्गोनाह द्वादशाहतात् । पुनर्द्वा-

दशनिघ्नाञ्च लभ्यते यत् फलं बुधैः ॥ २८ ॥ शङ्खवर्गाद्वि-
युक्तविषुवद्वर्गभाजितात् तदेव करणी नाम तां पृथक्
स्थापयेद्विषुधः ॥ २९ ॥ अर्कघ्नी विषुच्छायाग्रज्यया गुणि-
ता तथा । भक्ता फलाख्यतद्वर्गसंयुक्तकरणीपदम् ॥ ३० ॥
फलेन हीनसंयुक्तं दक्षिणोत्तरगोलयोः । याम्ययोर्विदिशोः
शङ्खरेखं याम्योत्तरे रवौ ॥ ३१ ॥ परिभ्रमति शङ्खोस्तु शङ्ख-
रुत्तरयोस्तु सः । तत्त्रिज्यावर्गविश्लेषान्मूलं दृग्ज्याभि-
धीयते ॥ ३२ ॥ स्वशङ्खना विभज्याप्ते दृक्त्रिज्ये द्वादशाहते ।
छायाकर्णौ तु कोणेषु यथास्वं देशकालयोः ॥ ३३ ॥

भाषानुवाद-त्रिज्या वर्ग के आधे से (५९०८९१) पूर्व प्रकार छाया हुआ
साहसकालिक अयन्या वर्ग को घटाकर विषुगफल को १४४ से गुणा कर गुणन
फल को विषुवछाया में ७२ निठा कर वर्ग करे, इस वर्ग से उस गुणनफल में
भाग देवे, भागफल "करणी" होगी । इस को अलग एक स्थान में रख छोड़े
॥ २८ ॥ २९ ॥ विषुवछाया को १२ से गुणा करे गुणनफल को अयन्या से गुणा कर
गुणनफल को ७२ निठा कर विषुवछाया के वर्ग से भाग देवे, भागफल "फल"
होगा । इस फल के वर्ग और करणी को एकत्र जोड़े, पुनः इस का वर्गमूल
निकाले, इस वर्गमूल को दक्षिण गोल में "फल" से घटावे और उत्तर गोल
में "फल" में जोड़े तो योग या विषुग फल कोण शङ्ख होगा । 'सूर्य दक्षिण
में हो तो कोणशङ्ख दक्षिणदिशा के दो कोणों में (आनेय, नैऋत्य=विदिशा)
और सूर्य उत्तर गोल में हो तो कोण शङ्ख उत्तर के दो कोणों (ईशान,
घायट्य=विदिशा) में ॥ ३० ॥ ३१ ॥ उस का वर्ग और त्रिज्या वर्ग का अन्तर
(बाकी घटाने पर) का वर्गमूल निकालने से दृग्ज्या होगी । दृग्ज्या को १२
से गुणा कर गुणनफल को और त्रिज्या को १२ से गुणा कर गुणनफल को
क्रम से कोण कटाङ्क से भाग देने से भागफल इष्ट स्थान में इष्ट स्थान की
छाया (पहिला फल) होगी और कर्ण होगा (दूसरे का फल) ॥ ३२ ॥ उत्तर
दिशा में सूर्य होने पर त्रिज्या से चरज्या को योग करे, योगफल "अन्या"
होगी । दक्षिणगोल में सूर्य हो तो त्रिज्या से चरज्या को घटावे । यह फल

“अन्त्या” होगी। नष्पाम्ह से इष्ट काल घटाने पर वियोग फल का अर्धादि (अथ, फला) घटाने से “नत” होगा, नत को अनुसार उत्क्रमज्या अन्त्य से घटाकर वियोगफल को अपने अहोरात्रार्ध व्यास से गुणा करे ॥ ३३ ॥

त्रिज्योदयचरजायुक्ता याम्यायां तद्विवर्जिता । अन्त्या
नतोत्क्रमज्योना स्वाहोरात्रार्धसंगुणा ॥ ३४ ॥ त्रिज्याभक्ता-
भवेच्छेदो लम्बज्याघ्नोऽथभाजितः । त्रिभज्ययाभवेच्छेद-
स्तद्वर्गं परिशोधयेत् ॥ ३५ ॥ त्रिज्याद्वर्गात्पदं दृग्ज्या
छायाकर्णो तु पूर्ववत् । अभीष्टच्छाययाभ्यस्ता त्रिज्या
तत्कर्णभाजिता ॥ ३६ ॥ दृग्ज्या तद्वर्गसंशुद्धात् त्रिज्या
वर्गाच्च यत्पदम् । शङ्कुसत्रिभजीवाघ्नः स्वलम्बज्यावि-
भाजिताः ॥ ३७ ॥ छेदः सत्रिज्ययाभ्यस्तः स्वाहोरा-
त्रार्धभाजितः । उन्नतज्या तथा हीना स्वान्त्या शेषस्य
कार्मुकम् ॥ ३८ ॥

भाषानुवाद—उक्त गुणनफल को त्रिज्या (३४३८) से भाग देवे, भागफल छेद होगा। छेद को लम्बज्या से गुणा कर, गुणन फल को त्रिज्या से भाग देवे, भागफल इष्ट काल का शङ्कु होगा। त्रिज्या वर्ग (११८८८४४) से उस शङ्कु वर्ग (१४४) को घटाने से शेष फल का वर्गमूल निकाले तो दृग्ज्या होती है। इस से छाया और कर्ण पूर्वोक्त रीति से स्थिर होता है ॥ ३३ । ३४ । ३५ । अभीष्ट कालिक छाया को त्रिज्या से गुणा कर, गुणनफल को छाया कर्ण से भाग देवे, भागफल दृग्ज्या होगी। इस को वर्ग को त्रिज्या वर्ग से घटावे और शेष अङ्क का वर्ग मूल निकालने से शङ्कु होगा। उस शङ्कु को त्रिज्या से गुणा कर गुणनफल को अपनी लम्बज्या से भाग करे, भागफल “छेद” होगा। उस छेद को त्रिज्या से गुणाकर गुणनफल को स्वाहोरात्रार्ध से भाग करे, भागफल को स्वीय “अन्त्य” से घटाने पर शेष “उन्नतज्या” होगी, उस का पटु करे ॥ ३६ । ३७ ॥

उत्क्रमज्याभिरेवं स्युः प्राक्पश्चार्धनतासवः ॥ ३८ ॥ इष्टा-
ग्राप्ती तु लम्बज्या स्वकर्णाङ्गलभाजिता । क्रान्तिज्या सा

त्रिजीवाघ्नी परमापक्रमोद्धृता । तच्चापं भादिकं क्षेत्रं
पदैस्तत्र भवोरविः ॥३९॥ इंष्टेऽहि मध्ये प्राक् पश्चाद्धृते
बाहुत्रयान्तरे । मत्स्यद्वयान्तरयुते स्त्रिस्पृक्सूत्रेण भा-
भ्रमः ॥४०॥ त्रिभद्युकर्णार्धगुणाः स्वाहोरात्रार्थभाजिताः।
क्रमादेकद्वित्रिभज्यास्तच्चापानि पृथक् पृथक् । स्वा-
धीधः परिशोध्याथ मेपात्तद्धोदयासवः ॥४१॥ स्वागाष्टयो-
ऽर्थगोऽगैकाः शरच्चङ्कहिमांशवः ॥

भायानुवाद-उक्तत ज्ञा के परिमाण से धनु बनाने पर पूर्वार्द्ध और
अपराद्धं नति प्राण स्थिर होगा ॥ ३८ ॥ इष्ट ज्ञा से सन्ध्या को गुणा कर
गुणफल की अपनी कर्णाङ्गुल संख्या से भाग देवे, भागफल सूर्य की क्रान्ति-
ज्ञा होगी, वरा को त्रिज्ञा से गुणा कर गुणन फल में परमापक्रमज्ञा से
भाग करे, भागफल ज्ञा का धनु (राश्यादि) करने से (यदि यह बात
मालूम हो कि चक्र के विषमपद या समपद में) सायन सूर्य स्फुट होगा ॥३९॥
जभीष्ट दिन को पूर्वोपर सूत्र के मध्यस्थान से ३ चिन्ह करके मत्स्यद्वय गत
रेखा के संयोग स्थान से तीन चिन्ह की स्पर्श करता हुआ तीन वृत्त खेचने
से छाया शेष का भ्रमण मार्ग निर्णयित होगा ॥४०॥ एक दो और तीन राशि
की ज्ञा को क्रमशः तीन राशि के द्युज्ञा (१३८७) द्वारा गुणा करके स्वर
राशि के अहोरात्रार्द्ध ज्ञा द्वारा भागकर धनु निश्चय करे । प्रथम द्विराशि के
फल से प्रथम वियोग और त्रिराशि फल से द्विराशि फल घटाकर कला मेपादि
का लङ्कोदय प्राण होगा । प्राण संख्या मेघ १६७१, वृष १७८३, मिथुन १८३५ ॥४१॥

स्वदेशचरखण्डोना भवन्तीष्टोदयासवः ॥ ४२ ॥ व्यस्ता
व्यस्तैर्युताः स्वैः स्वैः कर्कटादस्तास्ततस्त्रयः ॥४३॥ उत्क्रमेण
पठेवैते भवन्तीष्टा तुलादयः ॥ ४४॥ गतभोग्यासवः का-
र्याभास्करादिष्टकालिकात् । स्वोदयासुहता भुक्तभो-
ग्याभक्ताः स्ववह्निभिः ॥ ४५ ॥ जभीष्टघटिकासुभ्यो भो-

ग्यासून्प्रविशोधयेत् । तद्वत्तदेष्ट्यलग्नासूनेवं यातांस्त-
थोत्क्रमात् ॥ ४६ ॥ शेषंचेत्त्रिंशताभ्यस्तमशुद्धेन विभा-
जितम् । भागहीनं च युक्तं च तल्लग्नं क्षितिजे तदा ॥ ४७ ॥

भाषानुवाद—उत्त से स्वदेश चरखण्डा वियोग करने से इष्ट देश का उदय प्राण होगा ॥४२॥ पश्चिम से क्रम से छहोदय प्राण के साथ पश्चिम से चर खण्डा योग करने से कर्कोदि उदय प्राण होगा ॥ ४३ ॥ मेपादि छः राशि के उदय प्राण पश्चिम से लुखादि के उदयप्राण होंगे ॥ ॥ ॥ उदय ज्ञान द्वारा तात्कालिक (सायन) रविस्पष्ट के गत और भोग्य प्राण होंगे ॥४५॥ स्वाभीष्ट घटिका के प्राण से भोग्य घटावे । फिर क्रम २ से पिछली पिछली राशियों के प्राण जय तक घट न सकें इसी प्रकार करता जावे ॥४६ ॥ शेष को ३० से गुणा कर गुणन फल में शीघ्र राशि की प्राणसंख्या से भाग देने से जो अंशादि हो उसको गत राशिकी संख्या में जोड़ने से (सायन) लग्न स्पष्ट होगा ॥४७॥

प्राक्पश्चात्तनाडीभिस्तस्माल्लङ्कोदयासुभिः। भानौ क्षय-
धने कृत्वा मध्यलग्नं तदा भवेत्॥४८॥ भोग्यासूनूनकस्याथ
भुक्तासूनधिकस्य च । संपिण्ड्यान्तरलग्नासूनेवं स्यात्
कालसाधनम् ॥४९॥ सूर्यादूने निशाशेषे लग्नेऽर्कादधिके
दिवा । भचक्रार्धयुताद्धानोरधिकेस्तमयात्परम् ॥ ५० ॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

भाषानुवाद-उक्त प्रकार से पञ्चात्मत प्राण लङ्कोदय प्राण खण्डा लेकर रविरुद्र में प्राण और योग करने से मध्य वा दक्षम लग्न स्थिर होगा ॥४८॥ लग्न और रवि स्पष्ट के मध्य में न्यून का शीघ्र और अन्य का भुक्त एवं इन दोनों के मध्य स्थित राशि गण के प्राण संख्या को एकत्र करने से जो प्राण संख्या होगी, उस से काल साधित होगा ॥ ४९ ॥ लग्नस्पष्ट सूर्यरुद्र से न्यून होने से निशा शेष और अधिक होने से दिन में और छः राशि युक्त सूर्य से लग्न अधिक हो सो सन्ध्या के पीछे होगा ॥ ५० ॥

इति भाषानुवादे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥



ओ३म्

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथ चन्द्रग्रहणाधिकारः

सार्धानि षट्सहस्राणि योजनानि विवस्वतः । विष्कम्भो मण्डलस्येन्दोः सहाशीत्या चतुःशतम् ॥१॥ स्फुटस्वभुक्त्या गुणितौ मध्यभुक्तोद्घृतौ स्फुटौ । रवेः स्वभगणाभ्यस्तः शशाङ्कभगणोद्घृतः ॥ २ ॥ शशाङ्कक्षगुणितो भाजितो वार्कक्षया । विष्कम्भश्चन्द्रक्षयांतिथ्याप्तमानुलिप्तिकाः ॥ ३ ॥ स्फुटेन्दुभुक्तिर्भूव्यासगुणिता मध्योद्घृता । लब्धं सूचीमहीव्यासस्फुटार्कश्रवणान्तरम् ॥४॥ मध्येन्दुव्यासगुणितं मध्यार्कव्यासभाजितम् । विशोध्य लब्धं सूच्या तु तमोलिप्तास्तु पूर्ववत् ॥५॥

भाषानुवाद-सूर्यमण्डल अर्थात् सूर्य के विम्ब व्यास का परिमाण ६५०० योजन और चन्द्रमा के विम्ब व्यास का परिमाण १८० योजन है, इन को क्रम से सूर्य के विम्ब व्यास को सूर्य की स्पष्ट गति से गुणा कर, गुणनफल में सूर्य की मध्य गति से भाग दे, भागफल सूर्य के स्फुट विम्ब व्यास का परिमाण होगा । इसी प्रकार चन्द्रमा के विम्ब व्यास को चन्द्रमा की स्पष्ट गति से गुणा कर गुणनफल में चन्द्रमा की मध्य गति का भाग दे, भागफल चन्द्रमा के स्फुट व्यास का परिमाण होगा ॥१॥ सूर्य के स्पष्ट व्यास को अपने भगण (मृ०ज०) से गुणा कर, गुणनफल में चन्द्रमा के भगण का भाग दे, या चन्द्रमा की कक्षा योजन संख्या से गुणा कर, गुणनफल में सूर्य की कक्षा योजन संख्या का भाग दे, भागफल चन्द्रमा की कक्षा में अर्थात् चन्द्राधिष्ठित आकाश गोल में सूर्य स्पष्ट व्यास का परिमाण होगा । इस के पश्चात् सूर्य स्पष्ट विम्ब व्यास की योजन संख्या को १५ से भाग दे, भागफल सूर्य के विम्ब व्यास की कक्षा होगी

उस चन्द्रमा के स्पष्ट बिम्ब व्यास योजन संख्या को १५ से भाग दे, भागफल चन्द्रमा के स्पष्ट बिम्ब व्यास की कला होगी ॥ २ । ३ ॥ चन्द्रमा की स्पष्ट गति को पृथिवी के व्यास (१६००) से गुणा कर गुणनफल में चन्द्रमा की मध्य गति का भाग दे, भागफल "सूची" होगी । पृथिवी के स्पष्ट व्यास की सूर्य के स्पष्ट बिम्ब व्यास से घटावे, जो अवशिष्ट हो, उस को चन्द्रमा के मध्य व्यास (४८०) से गुणा कर, गुणनफल में सूर्य के मध्य व्यास योजन संख्या का भाग दे, भागफल को उक्त "सूची" से घटाने पर शेष अङ्क "तमव्यास" संख्या होगी । इस को पहिले की नार्द १५ से भाग दे, भागफल तम व्यास की कला होगी ॥ ४ । ५ ॥

भानोर्भार्थे महीच्छाया तत्तुल्येऽर्कसमेऽपि वा । शशाङ्क-
पाते ग्रहणं कियद्भागाधिकोनके ॥६॥ तुल्यौ राश्यादि-
भिः स्याताममावास्यान्तकालिकौ । सूर्येन्दू पौर्णमास्यन्ते
भार्थे भागादिकौ समौ ॥ ७ ॥ गतैष्यपर्वनाडीनां स्वफ-
लेनोनसंचुतौ । समलिप्तौ भवेतां तौ पातस्तास्कालिकौ
ऽन्यथा ॥ ८ ॥ छादको भास्करस्येन्दुरधःस्थो घनवद्भ-
वेत् । भूच्छायां प्रादुमुखश्चन्द्रो विशत्यस्य भवेदसौ ॥९॥
तात्कालिकेन्दुविक्षेपं छादच्छादकमानयोः । योगार्धात्
प्रोज्झ्य यच्छेपं तावच्छन्नं तदुच्यते ॥ १० ॥

भाषानुवाद-सूर्य से ६ राशि दूर अर्थात् १८० अंश पर पृथिवी की छाया स्थित है । चन्द्रपात या छाया (सूछाया) सूर्य के बराबर राशि अंश में यदि अवस्थित हो तो ग्रहण का सम्भव होगा । उक्त परिमाण से न्यून या अधिक होने पर भी ग्रहण होगा ॥ ६ ॥ अमावस्या के अन्त काल में सूर्य और चन्द्रमा की राशि अंश कलादि बराबर होती हैं और पूर्णमासी के अन्त में सूर्य और चन्द्रमा में १८० अंश (६ राशि) का अन्तर (फरक) हो जाता है अर्थात् अमावास्या की मूर्ध के अधोभाग में चन्द्रमा आजाता है और पूर्णमासीको चन्द्रमा और पृथिवी की छाया समसूत्रस्थ हो जाती है और सूर्य १८० अंश पर रहता है ॥ ७ ॥ मध्य रात्रिक स्पष्ट (अ० १ । ६७ ब्रोक) राश्यादि (राशि,

तद्ग्राह्यमधिके तस्मिन्सकलं न्यूनमन्यथा।योगार्धादधि-
के न स्याद्विक्षेपे ग्राह्यसम्भवः ॥ ११ ॥ ग्राह्यग्राहकसंयोग-
वियोगौ दलितौ पृथक् । विक्षेपवर्गहीनाभ्यां तद्वर्गाभ्या-
मुभेपदे ॥ १२ ॥ पृष्ठ्या संगुण्य सूर्येन्दोर्भुक्त्यन्तरविभा-
जिते । स्यातां स्थितिविमर्दाधं नाडिकादिफले तयोः
॥ १३ ॥ स्थित्यर्थेनाडिकाभ्यस्ता गतयः पट्टिभाजिताः ।
लिप्तादिप्रग्रहे शोध्यं मोक्षे देयं पुनःपुनः ॥ १४ ॥ तद्विक्षेपैः
स्थितिदलं विमर्दाधं तथा सकृत् । संसाध्यमन्यथा पाते
तल्लिप्तादिफलं स्वकम् ॥ १५ ॥

भाषानुवाद-जो ग्राह्यमान ग्रहयन्त्र से "उत्तमान" अधिक हो तो 'उप्रास' वा सम्पूर्ण ग्रहण होगा (सर्वग्रास) और ग्राह्य मान से "उत्तमान" न्यून हो तो, न्यून ग्रहण किया जावेगा । और ग्राह्य और ग्राहकमान को जोड़ कर, आधार करने पर यदि यह आधार विक्षेप से न्यून हो तो, ग्रहण नहीं होगा । ग्रहण दो प्रकार का है एक सर्वग्रास वा सम्पूर्ण ग्रहण, और दूसरा आंशिक वा उपग्रह ग्रहण होता है ॥ ११ ॥ ग्राह्यमान और ग्राहकमान की एकत्र जोड़ें, पुनः उस जोड़े हुए अङ्क को आधार कर एक स्थान में रखें और ग्राह्यमान से ग्राहकमान को घटावे, जो शेष अङ्क हो उस को दूसरे स्थान में रखें । एवं पहिले रखे हुए योगार्ध का वर्ग करे, इसी प्रकार दूसरे स्थान में रखे हुए वियोगार्ध का वर्ग करे, और योगार्ध वर्ग से विक्षेप वर्ग को घटावे, इसी प्रकार वियोगार्ध वर्ग से विक्षेप वर्ग को घटावे, और दोनों घटा हुए वर्ग का मिश्र वर्ग मूल निकाले, पुनः उन दो वर्ग मूलों को मिश्र ६० से गुणा करे, गुणनफल में सूर्य की स्पष्टगति से चन्द्रमा की स्पष्टगति को घटावे, घटाने से जो फल हो, उस के दोनों मिश्र २ स्थापित गुणनफल में भाग दे, भागफल क्रम से योगार्ध का फल स्थूलस्थित्यर्ध दण्डादि और वियोगार्ध का फल स्थूल विधर्ध दण्डादि होंगे ॥ १२ ॥ १३ ॥ सूर्य चन्द्रमा और पात (राहु) की गति को स्थित्यर्ध दण्ड से गुणा कर, गुणनफल में ६० का भाग देवे, भागफल कलादि स्पर्श में सूर्य और चन्द्रमा को घटावे और मोक्ष

में सूर्य और चन्द्रमा में जोड़े, और पात में इस के विपरीत करे अर्थात् मोक्ष में पात से घटावे और स्पर्श में पात में जोड़े उस से अर्थात् तात्कालिक चन्द्रमा और उस के पात द्वारा छाई हुई शर कला से स्थित्यर्ह निर्णय करे जयतक निश्चय न हो धारम्भार इसी प्रकार करता जावे ॥ १४ ॥ १५ ॥

स्फुटतिथ्यवसाने तु मध्यग्रहणमादिशेत् । स्थित्यर्थना-
डिकाहीने ग्रासोमोक्षस्तु संयुते ॥ १६ ॥ तद्वदेव विमर्दार्ध-
नाडिकाहीनसंयुते । निमीलनोन्मीलनाख्ये भवेतां सकल-
ग्रहणे ॥ १७ ॥ इष्टनाडीविहीनेन स्थित्यर्थनार्कचन्द्रयोः ।
भुक्त्यन्तरं समाह्न्यात् पट्याप्ताः कोटिलिप्तिः ॥ १८ ॥
भानोग्रहे कोटिलिप्ता मध्यस्थित्यर्थसङ्ख्याः स्फुटस्थित्यर्थ-
सम्भक्ताः स्फुटाः कोटिकलाः स्मृताः ॥ १९ ॥ क्षेपोभुज-
स्तयोर्वर्गयुतेर्मूलं श्रवस्तु तत् । मानयोगार्थतः प्रोज्झय
ग्रासस्तात्कालिको भवेत् ॥ २० ॥

आपामुवाद-स्फट तिथि के अन्त में मध्यग्रहण होता है । उस से मूल स्थित्यर्ह दण्ड घटाने पर स्पर्श (ग्रास) काल होता है और स्फट तिथि के अन्त में मूल स्थित्यर्ह दण्ड जोड़ने से मोक्ष काल होता है ॥ १६ ॥ इसी प्रकार सम्पूर्ण ग्रहण में (१६ श्लोक में जैसा कहा है) मूल विमर्दार्ध घटिका मध्यग्रहण समय से घटावे तो निमीलन काल होगा और मध्यग्रहण समय में मूल विमर्दार्ध दण्ड जोड़े तो उन्मीलन काल होगा । सम्पूर्ण ग्रहण में "स्पर्श" को "निमीलन" और "मोक्ष" को "उन्मीलन" कहते हैं ॥ १७ ॥ सूर्य और चन्द्रमा की गति के (परस्पर घटा कर) अन्तर कला से ग्रहणारम्भ से इष्ट दण्डादि घटाकर शेष अङ्क को स्थित्यर्ह से गुणा करे, गुणन फल में ६० का भाग दे, भागफल कोटि कला होगी ॥ १८ ॥ सूर्य ग्रहण में पूर्वोक्त प्रकार से छाई हुई कोटि कला को स्थित्यर्थ से गुणा करे, गुणन फल में स्फुट स्थित्यर्ह का भाग देवे, भागफल स्फुट कोटि कला होगी ॥ १९ ॥ विक्षेप के वर्ग और कोटि कला के वर्ग को एकत्र जोड़े, पुनः इसका वर्गमूल निकाले, यही मूल कारण होगा । चन्द्रमा और सूर्य के भाग

को एकत्र जोड़ कर इस का आधा करे । इस आधे से कर्क को घटावे । शेष अङ्क तात्कालिक होगा ॥ २० ॥

मध्यग्रहणतश्चोर्ध्वमिष्टनाडीर्विशोचयेत् । स्थित्यर्धान्मौ-
क्षिकाच्छेषं प्राग्वच्छेषं तु मौक्षिके ॥ २१ ॥ ग्राह्यग्राहकयो-
गार्धाच्छोभ्याः स्वच्छन्नलिप्तिकाः । तद्वर्गात् प्रोज्झ्य
तत्कालविक्षेपस्य कृतिम्पदम् ॥ २२ ॥ कोटिलिप्ताखेः
स्पष्टस्थित्यर्धेनाहताहताः । मध्येन लिप्तस्तन्नाद्यः स्थिति-
वद्ग्रासनाडिकाः ॥ २३ ॥ नतज्यार्क्षज्ययाभ्यस्ता त्रिज्याप्ता
तस्य कार्मुकम् । वलनांशाः सौम्ययाम्याः पूर्वापरकपा-
लयोः ॥ २४ ॥ राशित्रययुताद् ग्राह्यात्क्रान्त्यंशैर्दिवसमै-
र्युताः । भेदेऽन्तराज्जघावलनासप्तत्यङ्गुलभाजिता ॥ २५ ॥
सोन्नतं दिनमध्यर्धे दिनार्धामं फलेन तु । छिन्द्याद्विक्षेप-
मानानि तान्येपामङ्गुलानि तु ॥ २६ ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

भाषानुवाद-मध्य ग्रहण के अनन्तर मौक्षिक स्थित्यर्ध से इष्ट नाडी घटा कर कोटि स्थिर करे और शेष क्रिया पूर्वोक्त (श्लोक १८ में जैसा कहा है) रीति से करे ॥ २१ ॥ यावत् और ग्राहक के मान को एकत्र जोड़े और योग फल को आधा करे । उस आधे से अभीष्ट ग्रास की कला को घटावे, शेष अङ्क को वर्ग करे । वर्ग फल से अभीष्ट ग्रास कालिक विक्षेप के वर्ग को घटावे, शेष अङ्क का वर्गमूल निकाले वही कोटि कला होगी ॥ २२ ॥ परन्तु सूर्यग्रहण में कोटि कला स्पष्ट स्थित्यर्ध से गुणा कर गुणन फल में मध्य स्थित्यर्ध से भाग करे, भाग फल कोटि कला होगी । उस से जिस प्रकार " स्थिति " का साधन किया जाता है, अर्थात् जिस नियमों से स्थिति का निश्चय करते हैं, उसी प्रकार ग्रास नाडी को स्थिर करना चाहिये ॥ २३ ॥ जिस काल का चलन स्थिर करना हो उस काल के नत का निर्णय करे । चन्द्रग्रहण में चन्द्रमा का एव सूर्य ग्रहण में सूर्य का नत स्थिर करे । स्वदिनादुन्तगत

दण्ड पूर्व नत दण्ड एवं खदिनाहुं से न्यून दण्ड पश्चिम नत दण्ड होता है । उस नत को ९० से गुणा कर गुणन फल में खदिनाहुं से भाग दे, भाग फल नतांश होगा, उस की ज्या, नत ज्या होती है, उस को अभीष्ट अक्षज्या से गुणा कर, गुणन फल में त्रिज्या से भाग दे, भाग फल ज्या को धनु घनाये-यह बलनांश होगा, उस को ६० से भाग देवे, भागफल क्रम से पूर्वापर कपाल के पूर्वापर नत का पूर्व का उत्तर बलनांश एवं पश्चिम का उत्तर बलनांश होगा ॥ २४ ॥ जिस काल का बलनांश जाना हो उस काल के ३ राशिपुत्र प्राप्त से ग्रह स्फुट की क्रान्ति निर्देश करे । बलनांश और यदि एक दिशा में हो तो योग करे, और यदि त्रिज दिशा में हो तो घटाये तो स्फुट बलन होगा । स्फुट बलन ज्या को ३० अङ्गुल से भाग दे, भागफल अङ्गुलादिक बलन प्रस्त ग्रह का होगा ॥ २५ ॥ दिनमान में स्वीय अर्द्ध और अभीष्ट काल की उक्त घटिका के साथयोग करे, योगफल को दिनाहुं से भाग दे, जो भाग फल हो उस से कलात्मक विलेप याच्य और ग्राहक विम्वयमान प्रभृति को भाग करने से भाग फल, अङ्गुलादि होंगे ॥ २६ ॥

इति भाषानुवादे चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥



ओ३म्

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथ सूर्यग्रहणाधिकारः

मध्यलग्नसमे भानौ हरिजस्य न सम्भवः । अक्षोदङ्गम-
ध्यमक्रान्तिसाम्येनावनतेरपि ॥ १ ॥ देशकालविशेषेण
यथा वनतिसम्भवः । लम्बनस्यापि पूर्वान्यदिग्बशाच्च
तथोच्यते ॥ २ ॥ लग्नं पर्वान्तनाडीनां कुर्यात्स्वैरुदयासु-
भिः । तज्ज्यान्त्यापक्रमज्याघ्नी लम्बज्याप्तोदयाभिधा ॥ ३ ॥
तदा लङ्कोदयैर्लग्नं मध्यसंज्ञं यथोदितम् । तत्क्रान्त्यक्षां-
शसंयोगो दिक्साम्येऽन्तरमन्यथा ॥ ४ ॥ शेषं नतांशस्त-
न्मौर्विमध्यज्या साभिधीयते ।

भाषानुवाद—अमावास्या के अन्त काल में यदि सूर्य स्फुट और मध्य
लग्न (अ० ३ । ४८) तुल्य हो तो लम्बन का सम्भव नहीं होता है अर्थात्
उस समय लम्बन नहीं होता । उत्तर अक्षांश और दृश्य लग्न की क्रान्ति समान
हो तो अवनति (नति) की भी सम्भावना नहीं होती, अर्थात् उस समय
नति नहीं होती है ॥ १ ॥ देश और काल की विशेषता से जो मोल स्थित
द्वारा जिस प्रकार नति की सम्भावना या उत्पत्ति होती है और मध्य रेखाके
पूर्व या पश्चिम में होने के कारण जो लम्बन होता है सो इस समय कहा
जाता है ॥ २ ॥ स्वदेशीय उदय माण से पर्वान्त (अमावास्या या पूर्वमासी)
काल की (सायन) स्थिर करे । उस की भुजज्या को परमापक्रमज्या (१३८९)
से गुणा कर, गुणनफल में स्वदेशीय लम्बज्या का भाग दे, भागफल को
“उदय” कहते हैं ॥ ३ ॥ पर्वान्त काल में लङ्का के उदय माण से (सायन)
मध्य लग्न साधन करे । मध्यलग्न की क्रान्ति और अक्षांश एक दिशा में हो
तो योग करे और यदि भिन्न दिशा में हो तो घटावे, शेष अङ्क नतांश होता
है । उस की ज्या करने से मध्यज्या होती है ॥ ४ ॥

मध्योदयज्ययाभ्यस्ता त्रिज्याप्रा वर्गितं फलम् ॥ ५ ॥
 मध्यज्या वर्गविश्लिष्टं दृक्क्षेपः शेषतः पदम् । तत्त्रि-
 ज्यावर्गविश्लेषान्मूलं शङ्कुः स दृग्गतिः ॥ ६ ॥ नतांश-
 याहुकोटिज्ये स्फुटे दृक्क्षेपदृग्गती । एकज्यावर्गतश्छे-
 दो लब्धं दृग्गतिजीवया ॥ ७ ॥ मध्यलग्नार्कविश्लेषज्या
 छेदेन विभाजिता । रवीन्दोर्लम्बनं ज्ञेयं प्राक्पश्चाद्
 घटिकादिकम् ॥ ८ ॥ मध्यलग्नाधिके भानौ तिथ्यन्तात्
 प्रविशोधयेत् । धनमूनेऽसकृत्कर्म यावत्सर्वं स्थिरीभ-
 वेत् ॥ ९ ॥ दृक्क्षेपः शीततिग्मांशोर्मध्यभुक्त्यन्तराहतः ।
 तिथिघ्नत्रिज्यया भक्तो लब्धं सावनतिर्मवेत् ॥ १० ॥ दृक्-
 क्षेपात् सप्ततिहताद्भवेद्वावनतिः फलम् । अथवा त्रि-
 ज्यया भक्तात्सप्तसप्तकसङ्गणात् ॥ ११ ॥

भाषानुवाद-पूर्वोक्त मध्यज्या को पूर्वोक्ता उदयज्या से गुणा करे, गुणन
 फल को त्रिज्या से भाग दे, भागफल को वर्ग करे । वर्गफल को मध्यज्या के
 वर्ग से घटावे शेष अङ्क का वर्ग मूल निकाले, यही मूल दृक्क्षेप होगा । इस
 दृक्क्षेप वर्ग से त्रिज्या वर्ग घटाकर शेष अङ्क का मूल निकाले, यही मूल दृग्-
 गति होगी ॥ ५ । ६ ॥ स्पष्ट पक्ष में दशम लग्न के नतांश की भुजज्या को
 दृक्क्षेप कहते हैं और कंठिज्या को दृग्गति कहते हैं ॥ ७ ॥ एक राशि के
 ज्या के वर्ग को दृग्गति (पूर्वोक्त ज्या) से भाग करे, भागफल "छेद" होगा ।
 मध्यलग्न से उस काल के सूर्य को घटाकर उस की ज्या घनाये, इस ज्या
 में छेद का भाग दे, भागफल दृक्क्षेप मध्यलग्न से पूर्व और पश्चिम निश्चय कर
 सूर्य से चन्द्रमा के लम्बन दृक्क्षेप स्थिर होंगे ॥ ८ ॥ मध्यलग्न से सूर्य अधिक
 हो तो तिथ्यन्त से काल लम्बन घटावे और यदि न्यून हो तो जोड़े । पुनः
 लम्बन साधन करके तिथ्यन्त में संस्कार करे । जब तक स्थिर न हो तब तक
 ऐसा ही करता जावे ॥ ९ ॥ दृक्क्षेप (पूर्वोक्ता) को सूर्य की गति से चन्द्रमा की
 भुक्ति घटाकर, शेष अङ्क से गुणा कर गुणनफल में १५ गुणित त्रिज्या से (त्रिज्या

ओ३म्

अथ षष्ठोऽध्यायः

परिलेखाधिकारः ॥

न छेद्यकमृते यस्माद्भेदा ग्रहणयोः स्फुटाः । ज्ञायन्ते
तत्प्रवक्ष्यामि छेद्यकज्ञानमुत्तमम् ॥ १ ॥ सुसाधिताया-
मवनौ विन्दुं कृत्वा ततो लिखेत् । सप्तवर्गाङ्गुलेनादौ
मण्डलं बलनाश्रितम् ॥ २ ॥ ग्राह्यग्राहकयोगार्धसम्मि-
तेन द्वितीयकम् । मण्डलं तत्समासाख्यं ग्राह्यार्धेन तृती-
यकम् ॥ ३ ॥ याम्योत्तराप्राच्यपरासाधनं पूर्ववद्विशाम् ।
प्राग्निन्दोग्रहणं पश्चान्मोक्षोऽर्कस्य विपर्ययात् ॥ ४ ॥ यथा-
दिशं प्राग्ग्रहणं बलनं हिमदीधितेः । मौक्षिकं तु विप-
र्यस्तं विपरीतमिदं रवेः ॥ ५ ॥

भाषानुवाद—छेद्यक (गोल स्थिति को दिखलाने के लिये कल्पित प्रकार) के बिना सूर्यग्रहण और उस की स्पर्श और मोक्ष दिशा और परिमाण का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता अर्थात् सूर्य और चन्द्रग्रहण में विम्ब मण्डल के किस ओर से ग्रहण आरम्भ हो कर किस ओर समाप्त होगा और कितना भाग मण्डल का आच्छादित (ग्रहण) होगा, यह विषय बिना छेद्यक के भली भाँति नहीं ज्ञात होगा इस लिये उत्तम ज्ञानसाधक छेद्यक को कहता हूँ ॥ १ ॥ जल की नाईं बराबर की हुई भूमि (अभीष्ट स्थान) में दृष्ट मध्य विन्दु अर्थात् केन्द्र ज्ञापक चिह्न (point) करे, पुनः उस विन्दु से ४९ अङ्गुल परिमित व्यासार्ध से, “बलन” देने के लिये एक दृष्ट लिखे ॥ २ ॥ प्राच्य और ग्राहक के विम्बमान की अङ्गुलियों के आधे परिमित, व्यासार्ध से दूसरा दृष्ट लिखे । इस का नाम समाप्त दृष्ट होगा । और प्राच्य के विम्बमान के अङ्गुलियों के अर्ध परिमित व्यासार्ध से तीसरा दृष्ट लिखे ॥ ३ ॥ पूर्ववत् (अ० ३। श्लो० १४

वह) आठ दिशाओं में से याम्योत्तर एवं पूर्वोपर रेखा अर्थात् दक्षिण उत्तर रेखा एवं पूर्व और पश्चिम को गई रेखा को साधन करे। चन्द्रग्रहण में चन्द्रमा के बिम्बमण्डल की पूर्व ओर स्पर्श (ग्रहण आरम्भ) एवं पश्चिम ओर मोक्ष (ग्रहण समाप्त) होता है और सूर्यग्रहण में इस के विपरीत होता है अर्थात् सूर्यमण्डल के पश्चिम भाग में स्पर्श एवं पूर्व भाग में मोक्ष होता है ॥४॥

विवरण—शीघ्रगामी चन्द्रमा सूर्यसे छः राशि (१८० अंश) अन्तर में पूर्व की ओर चलता २ पृथिवी की छाया में आजाता है इस कारण चन्द्रग्रहण में पहिले पूर्व दिशा से (मण्डल के) ग्लान होता है। एवं पश्चिम दिशा में मोक्ष होता है। और सूर्यग्रहण में चन्द्रमा सूर्य को पीछे आकर टक लेता है इस लिये सूर्य के पश्चिम दिशा में स्पर्श और पूर्वभाग में मोक्ष होता है ॥४॥

चन्द्रमा के ग्राह्य स्पर्शिक चलन की पूर्व चिन्ह से दक्षिण हो तो दक्षिण में, उत्तर हो तो उत्तराभिमुख देवे। पूर्व और पश्चिम सूत्र (रेखा) अर्हुं ज्या की नाई चलनाभिन्न वृत्त में चलन देवे, (इस लिये उस वृत्त की चलनाभिन्न वृत्त संज्ञा है) चन्द्रमा के मोक्ष कालिक चलन को विपरीत भाव से पश्चिम चिन्ह से पूर्वोपर सूत्र से अर्हुं ज्या की नाई दक्षिण हो तो उत्तराभिमुख, उत्तर हो तो दक्षिणाभिमुख चलन देवे। सूर्यग्रहण में चन्द्रग्रहण की अपेक्षा उलटे प्रकार से चलनदान होगा। मोक्ष कालिक चलन पूर्व चिन्ह से पूर्वोपर सूत्र से अर्हुं ज्या की नाई दक्षिण हो तो दक्षिणाभिमुख, उत्तर हो तो उत्तराभिमुख देना। स्पर्श कालिक चलन, पश्चिम चिन्ह से पूर्वोपर सूत्र (रेखा) अर्हुं ज्या की नाई दक्षिण हो तो उत्तराभिमुख, उत्तर हो तो दक्षिणाभिमुख देना ॥५॥

चलनाग्राह्येन्मध्यं सूत्रं यदात्र संस्पृशेत् । तत्समासे
ततो देवौ विक्षेपौ ग्रासमौक्षिकौ ॥ ६ ॥ विक्षेपाग्राह्य
पुनःसूत्रं मध्यविन्दुं प्रवेशयेत् । तद्ग्राह्यविन्दुसंस्प-
र्शाद्ग्रासमौक्षौ विनिर्दिशेत् ॥७॥ नित्यशोऽर्कस्य विक्षे-
पाः परिलेखे यथादिशम् । विपरीताः शशाङ्कस्य तद्व-
शादथ मध्यमम् ॥ ८ ॥ चलनं ग्राह्यमुखं देयं तद्विक्षेपै-
कता यदि । भेदे पश्चान्मुखं देयमिन्दोर्भानोर्विपर्ययात्

॥ ६ ॥ चलनाग्रात्पुनःसूत्रं मध्यविन्दुं प्रवशयेत् । मध्य
सूत्रेण विक्षेपं चलनाभिमुखं नयेत् ॥ १० ॥

भाषानुवाद-चलनाग्र (प्रथम वृत्त में जहां स्पर्शिक चलनाग्र और जहां भौतिक चलनाग्र जाना गया है) से मध्यविन्दु (केन्द्ररूप) तक सूत्र (रेखा) रचना करे । इस रेखा को समास नामक द्वितीय वृत्त में जिस प्रदेश में स्पर्श (छुए) करे, उस रेखा से समास वृत्त में अर्द्ध व्या की नाई, स्पर्श और भोक्त का विलेप यथायोग्य देना ॥ ६ ॥ समास वृत्त में विक्षेपाग्र से जिस स्थान में ग्राह्यवृत्त को स्पर्श किया है, वहां से रेखा को द्वितीय धार चलनाग्र से रेखा में मध्य केन्द्र तक उसी प्रकार विलेपाग्र से मध्य विन्दु तक रेखा प्रवेश करे । उस रेखा से ग्राह्य विन्दु के वृत्त और परिधि के संयोग स्थान से ग्रास और भोक्त दिखलावे, स्पर्शिक शराग्ररेखा को ग्राह्यवृत्त में जहां पर मिला हुआ है वहां स्पर्श और भौतिक शराग्ररेखा को ग्राह्य वृत्त में जहां संयोग हुआ है, वहां भोक्त कहे ॥७॥ सूर्यग्रहण के परिच्छेद (ग्रहण को दिखलाने के लिये कल्पित प्रकार) में नित्य ही चन्द्रमा के विलेप अपनी ठीक दिशा में होते हैं । और चन्द्रग्रहण में चन्द्र विलेप यदि विपरीत दिशा में हों तो अर्थात् दक्षिण में हों तो उत्तर और उत्तर में हों तो दक्षिण विलेप होते हैं । इसी के अनुसार स्पर्शिक और भौतिक विलेप देवे, (यह उदाहरण विपरीत दिशा का दिया गया है) तत्पश्चात् मध्य ग्रहण कालिक दिशा के साथ सूर्यग्रहण में मध्य ग्रहण कालिक स्पष्ट विलेप दिक् बिन्दु से और चन्द्रग्रहण में मध्य कालिक विपरीत दिक् बिन्दु से, यदि उस विलेप को एकता ही तो चलन विलेप मध्यग्रहण कालिक विलेप है । आशय यह है कि इन दोनों की एक दिशा होनी । (यहां चन्द्र विलेप दिशा का यथा दिक् स्थित होना ही विपरीत दिशा जानना)

विक्षेपाग्राह्यखेदुवृत्तं ग्राहकार्धेन तेन यत् । ग्राह्यवृत्तं
समाक्रान्तं तद् ग्रस्तं तमसा भवेत् ॥ ११ ॥ छेदकं लि-
खता भूमौ फलके वा विपश्चिता । विपर्ययो दिशां कार्यः
पूर्वापरकपालयोः ॥ १२ ॥ स्वच्छत्वाद् द्वादशांशोऽपि
ग्रस्तश्चन्द्रस्य दृश्यते । लिप्तात्रयमपि ग्रस्तं तीक्ष्णत्वान्न वि-

वस्वतः ॥१३॥ स्वसंज्ञिताख्यः कार्यां विक्षेपाग्रेषु बिन्दवः।

तत्र प्राङ्मध्ययोर्मध्ये तथा मौक्षिकमध्ययोः ॥ १४ ॥

भाषानुवाद-मध्यकालिक बलनाभ से मध्यबिन्दु तक रेखा रचना करे । इस रेखा पर मध्यबिन्दु से पुनः बलनाभिमुख विक्षेप का चिन्ह करे । ग्राहक के मान की आधा करे । उस आधे परिमाण को व्यासाहृत के साथ विक्षेपाग्र के चारों ओर दृष्ट कल्पना करने से भी दृष्ट होगा वह दृष्ट ग्राह्य दृष्ट में जितना व्याप्त हो वही तमसादृत अर्थात् उतना भाग मण्डल का ग्राहक से आच्छादित होकर अन्धकार से घिर जावेगा ॥ १० ॥ ११ ॥ समतल भूमि में या फलक (काठ की पट्टी) पर छेद्यक छिर कर पूर्वोपर कपाल छीट पीट करे अर्थात् पूर्व कपाल में बाएँ ओर से पश्चिम लिखना और पश्चिम कपाल में बाईं ओर से पूर्व लिखना, यह तौ ठीक क्रम से हुआ । परन्तु इस को बढ़ा कर करना कि पूर्व के स्थान में पश्चिम और पश्चिम के स्थान में पूर्व लिखना ॥ १२ ॥ चन्द्रमा की स्वरूपता के कारण चन्द्रमण्डल के १२ अंश ग्रहण होने पर भी हम लोग देखते हैं । परन्तु सूर्य की किरणों की प्रखरता से ३ कला का सूर्य ग्रहण भी हम लोगों को नहीं दिखलाई देता ॥ १३ ॥ विक्षेपाग्रों में स्पर्शिक विक्षेप मौक्षिक विक्षेप एवं माध्य विक्षेपों का पहिले अपने अपने स्थान में स्पर्श भोज और मध्यग्रहण जानने के लिये अधिन भाग में अपने १ मान का साङ्केतिक ३ बिन्दु लिखे । जैसे-स्पर्श शर के अग्रभाग में स्पर्श चिह्नोद्भूत बिन्दु, भोज शर के आगे सो० चि० बिन्दु, एवं मध्यशर के आगे न० चि० बिन्दु लिखे, इस प्रकार तीनों बिन्दुओं को स्थापन करे ॥१४॥

लिखेन्मरस्यौ तयोर्मध्यान्मुखपुच्छविनिःसृतम् । प्रसार्य

सूत्रद्वितयं तयोर्यत्र युतिर्भवेत् ॥ १५ ॥ तत्र सूत्रेण विलि-

खेत्त्रापं विन्दुत्रयस्पृशासपन्था ग्राहकस्योक्तो येनासौ

सम्प्रयारयति ॥ १६ ॥ ग्राह्यग्राहकयोगार्थात् प्रोज्झयेत्

ग्रासमागतम् । अवशिष्टाङ्गुलसमां शलकां मध्यबिन्दुतः

॥१७॥ तयोर्मार्गोन्मुखोदद्याद्ग्रासतः प्राग्रहाश्रिताम् ।

विमुञ्चतो मौक्षदिशि ग्राहकाध्वानमेव सा ॥१८॥ स्पृशे-

द्वयत्र ततोवृत्तं ग्राहकार्धेन संलिखेत् । तेन ग्राह्याददा-
क्रान्तं तत्तमोग्रस्तमादिशेत् ॥१८॥

भाषानुवाद—स्पर्श और मध्यविन्दु के द्वारा (अ० ३ श्लोक २ । १) और मोक्ष एवं मध्यविन्दु द्वारा दो मत्स्य अंकित करे और दोनों मत्स्य रेखाओं के बीच से उन के मुख और पुच्छ से निकलती हुई दो रेखा खेंचे । जहां इन दो रेखाओं का संयोग हो उस को केन्द्र मान कर वृत्त तीन विन्दुओं को छूता हुआ एक धनुष् बनावे । वह धनुष् ही ग्राहक का मार्ग होगा । अर्थात् जिस मार्ग से ग्राहक ग्राह्य विन्ध्य को आच्छादन के लिये जावेगा ॥ १५ । १६ ॥ ग्राह्य और ग्राहक मान को एकत्र जोड़े, पुनः इस के आधे से दृष्ट घास घटा कर जो बचे, उस परिमाण से मध्यविन्दु से रेखा उसी मार्ग की ओर खेंचे । मध्य-ग्रहण के पूर्व होने पर स्पर्श दिशा में और मध्यग्रहण के पश्चिम दिशा में होने पर मोक्षाभिमुख एक रेखा लावे । रेखांत विन्दु को केन्द्र मान कर ग्राहक मान के आधे परिमाण से सम्पूरण एक वृत्त रचना करे, वह वृत्त और ग्राह्य वृत्त दोनोंके अधिकृत अंश ही तत्कालीन आच्छादित अंश हैं ॥१७।१८।१९॥

मानान्तरार्धेन मितां शलाकां ग्रासदिद्मुखीम् । निमी-
लनाख्यां दद्यात् सा तन्मार्गं यत्र संस्पृशेत् ॥२०॥ ततो-
ग्राहकखण्डेन प्राग्वन्मण्डलमालिखेत् । तद्ग्राह्यम-
ण्डलयुतिर्यत्र तत्र निमीलनम् ॥ २१ ॥ एवमुन्मीलने
मोक्षदिद्मुखीं सम्प्रसारयेत् । विलिखेन्मण्डलं प्राग्व-
दुन्मीलनमथोक्तवत् ॥२२॥ अर्धादूने सधूमं स्यात्कृष्ण-
मर्धाधिकं भवेत् । विमुञ्चतः कृष्णताम्रं कपिलं सकलग्रहे
॥ २३ ॥ रहस्यमेतद्देवानां न देयं यस्य कस्य चित् ।
सुपरीक्षितशिष्याय देयं वत्सरवासिने ॥ २४ ॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

भाषानुवाद—ग्राह्य मान से ग्राहकमान की घटावे, शेष कल के आधे परिमाण की एक शलाका ग्रास दिशा में उस मार्ग पर स्थापन करे और वन

के अग्र भाग को केन्द्र कर ग्राहकमान के परिमाण का वृत्त खेंचे । उस वृत्त में जहाँ पर वह मण्डल की छुवे उसी दिशा में निमीलन आरम्भ होगा ॥२०॥
 २१ ॥ इस प्रकार से मोक्ष दिशा की ओर उक्त शलाका को स्थापन करके पूर्व-
 वत् अर्थात् जहाँ पर मण्डल स्पर्श करे "यही सम्मीलन" दिशा होगी ॥२२॥
 चन्द्रग्रहण में प्रास आधे से न्यून होने पर भूवर्धन, आधे से अधिक होने पर काठा
 रङ्ग, जब मण्डल का तीन हिस्सा तो काठा और छाल मिला हुआ रङ्ग, और
 संपूर्ण प्रास होने पर मण्डल कपिलवर्ण (जर्द रङ्ग) होगा । एवं मोक्ष काल
 में छाछ काठा मिला हुआ रङ्ग होता है ॥ २३ ॥

विवरण—भूमि की छाया में कोई प्रकाश नहीं, इस कारण चन्द्रमाकी
 आच्छादिका होने पर चन्द्रग्रहण में अनेक प्रकार के रङ्ग दीखते हैं और च-
 न्द्रमा जलस्वरूप सूर्य का आच्छादक होता है । इस कारण सूर्यग्रहण में सदा
 काठा रङ्ग होता है, दूसरा रङ्ग नहीं होता । इस कारण यहां सूर्य ग्रहणका
 रङ्ग नहीं कहा गया ॥ २३ ॥

यह उद्यक ज्ञान का तत्त्व विद्वानों के लिये रहस्य है, इस लिये जिस
 किसी अपरोक्षित (जिस की भलीभांति व्योतिष विद्या में तीक्ष्ण दृष्टि न
 पाई जाये) सर्वसाधारण व्यक्ति को इस का उपदेश न करना चाहिये । किन्तु
 एक वर्ष तक जिस विद्यार्थी की परीक्षा ले ली है, उसी शिष्य को इस का
 उपदेश करना चाहिये ॥ २४ ॥

इति भाषानुवादे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ

अथ सप्तमोऽध्यायः

तारा ग्रहाणामन्योन्यं स्यातां युद्धसमागमौ । समागमः
शशाङ्केन सूर्येणास्तमनं सह ॥१॥ शीघ्रे मन्दाधिकेऽतीतः
संयोगो भवितान्यथा । द्वयोः प्राग्यायिनीरेवं वक्रिणी-
स्तु विपर्ययात् ॥२॥ प्राग्यायिन्यधिकेऽतीतो वक्रिण्येभ्यः
समागमः । ग्रहान्तरकलाः स्वस्वभुक्तिलिप्ता समाहताः
॥ ३ ॥ भक्त्युत्तरेण विभजेदनुलोमविलोमयोः । द्वयो-
र्वक्रिण्यथैकस्मिन् भुक्तियोगेन भाजयेत् ॥ ४ ॥ लब्धं
लिप्तादिकं शोध्यं गते देयं भविष्यति । विपर्ययाद्भवक्र-
गत्योरेकस्मिंस्तु धनव्ययौ ॥ ५ ॥

भाषानुवाद-तारा और पांच ग्रहों अर्थात् मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि के परस्पर योग (एक के साथ दूसरे का मिलना) का नाम "युद्ध" और "समागम" कहते हैं। चन्द्रमा के साथ उक्त पांचों ग्रहों में से किसी एक ग्रह के योग का नाम "समागम" और सूर्य के साथ उक्त पांचों ग्रहों में से किसी एक ग्रह के योग का नाम "अस्तमन" है ॥ १ ॥ जिन दो ग्रहों का "योग" जानना हो उन में से यदि शीघ्रगामी ग्रह मन्दगामी ग्रह की अपेक्षा अधिक हो तो "योग" यत (हो गया अर्थात् काल से पहिले) और मन्दगामी ग्रह शीघ्रगामी ग्रह की अपेक्षा अधिक हो तो "योग" भावी (इष्ट काल के पीछे होगा) जानना । यह नियम दो पूर्वगामी ग्रहों के लिये है और वक्रगामी ग्रहों का तो उस के उल्टा होता है, अर्थात् वक्री मन्दगामी ग्रह की अपेक्षा वक्री शीघ्रगामी ग्रह अधिक हो तो "योग" भावी और वक्री शीघ्रगामी ग्रह की अपेक्षा वक्री मन्दगामी ग्रह अधिक हो तो "योग" गत जानना और दोनों ग्रहों में से एक वक्री, एक दूसरा पूर्वगामी ग्रह हो तो वक्री ग्रह से पूर्वगामी

ग्रह अधिक हो तो "योग" गत और पूर्व गानीग्रह से नन्दगानी ग्रह अधिक हो तो "योग" भावी जानना ॥ २ ॥ दो (जिन का योग) इसकालिक ग्रहों की अन्तर कला को (एक की कला को दूसरे की कला से घटा कर) अलग अलग अपनी २ गति कला द्वारा गुणा कर, गुणनफल में दोनों सरलगामी या वक्रगामी हों उन की स्फुटगति के अन्तर कला (घटाकर) का भाग देवे। अथ इस में विशेषता यह है कि यदि दोनों ग्रहों में से एक बन्नी हो तो दोनों के गति कला के योग से भाग देवे और अपने २ भागफल कला-दिक की योग गत हो तो सरलगामी ग्रहों से घटावे और योग भावी हो तो दोनों में योग करे और दोनों वक्रगामी ग्रहों के अपने २ भागफल फलादिकों योग गत हो तो जोड़े और भावी हो तो घटावे। दोनों ग्रह में से एक ग्रह बन्नी हो तो दोनों सरलगामी एवं वक्रगामी ग्रहों के अपने २ कलात्मक फलाङ्क को योग और वियोग करे, अर्थात् योग गत होने पर सरलगामी ग्रह से कल को घटावे और वक्रग्रह में फल को जोड़े और यदि योग भावी हो तो वक्री ग्रह से कल को घटावे, एवं सरलगामी ग्रह में जोड़े ॥ ३।४।५॥

समलिप्तौ भवेतां तौ ग्रहौ भगणसंस्थितौ । विवरं तद्व-
दुद्धृत्य दिनादि फलमिष्यते ॥६॥ कृत्वा दिनक्षपामानं
तथा विक्षेपलिप्तिकाः । नतोन्नतं साधयित्वा स्वकाल-
ग्नवशात्तयोः ॥ ७ ॥ विपुवच्छाययाभ्यस्ता द्विक्षेपाद्
द्वादशोद्धृतात् । फलं स्वनतनाडीघ्नं स्वदिनार्थविभा-
जितम् ॥ ८ ॥ उदयं प्राच्यामृणं सौम्याद्विक्षेपात्पश्चिमे
धनम् । दक्षिणे प्राक्पाले स्वं पश्चिमे तु तथा क्षयः ॥९॥
सन्निभग्रहजक्रान्तिभागघ्नाः क्षेपलिप्तिकाः । विकलाः
स्वमृणं क्रान्तिक्षेपयोर्भिन्नतुल्ययोः ॥ १० ॥

भाषानुवाद—वक्र क्रिया पर दोनों ग्रहों की राशि चक्र में संस्थिति (ने-
क्रान्ति) अर्थात् राशि, अंश, कला समान होंगी। "योग" काट इत्यादि हो
तो दोनों ग्रहों की अन्तर कला को पूर्वोक्त शरक द्वारा भाग करने से ऊपर

कल जो दिनादि होया वह समकला काल से इष्ट काल के अन्तर दिनादि होगा ॥६॥ दोनो समकलाकालीन ग्रहो का दिनमान, रात्रिमान और विलेप कला का निश्चय करके, ग्रहस्थानगत छग्न से नत और उन्नत का निश्चय करो ॥७॥

विवरण—अ० ३। श्लोक ४९ के अनुसार ग्रहो के दिनगत, रात्रिगत का निश्चय करे। दिन में जो भाग बीत गया, तथा बीतने वाला है उसके अर्थात् नत और गम्य के अल्प भाग का नाम "उन्नत" और दिन और रात्रि से न्यून अर्थात् दिन के आधे या रात्रि के आधे की ग्रह का "नत" होता है। जिस अंश में ग्रह स्थित है उस के उदय (छग्न) का समय स्थिर करके उस से ग्रह का मध्योदय काल ग्रह का दिनाहुमान योग करने से निकल आता है। मध्योदय काल निपत हो जाने पर इष्टदृष्ट को पृथक्ता से नतोन्नत अभायास ज्ञात हो जाते हैं ॥ ७ ॥

विलेप को विषुवच्छाया से गुणा कर, गुणनफल को १२ से भाग करे, भाग कल को अपने नतदृष्ट से गुणा कर, गुणनफल में दिनाहु (रात्रि में रात्र्यहु से) का भाग देवे, भागफल अक्षदृग् ग्रह होगा। इस कल को उत्तर विलेप होने से पूर्व कपाल में अक्षदृग् ग्रह स्पष्ट से घटावे और पश्चिम कपाल में जोड़े और यदि दक्षिण विलेप हो तो उत्तर भागफल को पूर्व कपाल में योग और पश्चिम कपाल में घटावे ॥८॥ ९॥ तीन राशि मिले हुये ग्रह स्पष्ट के अनुसार छाये हुये क्रान्ति के अंश से विलेप कला को गुणा करे। गुणनफल विफला (आयन दृक्कर्म की) होगी। पूर्वोक्त क्रान्ति और विलेप यदि सिद्ध २ दिशा में हो तो ग्रह में योग करे और यदि दोनो एक दिशा में हो तो ग्रह में घटावे ॥१०॥

नक्षत्रग्रहयोगेषु ग्रहास्तोदयसाधने। ऋद्धोन्नतौ तु चन्द्र-
स्य दृक्कर्मोदाविदं स्मृतम् ॥११॥ तात्कालिकौ पुनः कार्यौ
विक्षेपौ च तथोस्ततः। दिवतुल्ये त्वन्तरं भेदे योगः शिष्टं
ग्रहान्तरम् ॥ १२ ॥ कुजार्किज्ञामरेज्यानां त्रिंशदधार्ध-
वर्धिताः। विष्कम्भाश्चन्द्रकक्षायां भृगोः पट्टिरुदाहृताः
॥ १३ ॥ त्रिचतुष्कर्णयुक्त्याप्राप्ते द्विघ्नास्त्रिज्यया हताः।
स्फटाः स्वकर्णास्तिथ्याप्रा भवेयुर्मानलिप्तिकाः ॥ १४ ॥

भाषानुवाद-नक्षत्र और ग्रह के योग जानने के लिये ग्रहों के उदयास्त के निमित्त चन्द्रमा की गृहोत्थितिके निमित्त नक्षत्रों के उदयास्त निमित्त पूर्व-यत् पहिले आक्षट्क एवं आयन दूकर्म करे । (यहां नक्षत्रों का आयन दूकर्म न करे) ॥११॥ पुनः उसी प्रकार (श्लोक २ । ३ । ६) मध्य और स्पष्टादि क्रिया द्वारा दोनों को तात्कालिक करे, इन के विलेप को भी तात्कालिक करे, यदि इस से भी दोनों ग्रह समकलाफालीन न हों तब अनेक बार इसी प्रकार करता जावे, जब स्थिर हो जावे तो यदि विलेप एक दिशा में हो तो वियोग करे और भिन्न दिशा में हो तब योग करने पर ग्रहान्तर अर्थात् दोनों ग्रहों के बिम्ब और केन्द्र का उत्तर, एवं दक्षिण सिद्ध होगा ॥१२॥ चन्द्रमा की कक्षा में मङ्गल का बिम्ब व्यास ३०, शनि का बिम्ब व्यास ३७, बुध का बिम्ब व्यास ४५, बृहस्पति का बिम्ब व्यास ५२, शुक का ६० बिम्ब व्यास है । इन बिम्ब व्यासों को द्विगुणित त्रिज्या से गुणा कर गुणफल में त्रिज्या और चतुर्थ कर्म में शीघ्र कर्ण में जोड़ कर योगफल से भाग देवे, भागफल स्वस्पष्ट बिम्ब व्यास होगा । इस स्पष्ट व्यास को १५ से भाग करे, भागफल कलादिमान होगा ॥१३॥ ॥१४॥

छायाभूमौ विपर्यस्ते स्वच्छायाग्रे तु दर्शयेत् । ग्रहः
 स्वदर्पणान्तस्यः शङ्कग्रे सम्प्रदृश्यते ॥ १५ ॥ पञ्चहस्तो-
 च्छिद्रौ शङ्कू यथादिग्धमसंस्थितौ । ग्रहान्तरेण वि-
 क्षिप्तावधोहस्तनिखातगौ ॥ १६ ॥ छायाकर्णौ ततो द-
 दाच्छायाग्राच्छङ्कुमूर्धगौ । छायाकर्णाग्रसंयोगे संस्थि-
 तस्य प्रदर्शयेत् ॥ १७ ॥ स्वशङ्कुमूर्धगौ व्योम्नि ग्रहौ वृक्-
 तुल्यतामिति । उल्लेखं तारकास्पर्शाद्वेदे भेदः प्रकीर्त्यते
 युद्धमंशुविमर्दाख्यमंशुयोगे परस्परम् ॥ १८ ॥ अंशादू-
 नेऽपसव्याख्यं युद्धमेकोऽत्र चेद्गुणः । समागमोऽशाद-
 पिके भवतश्चेद्दलान्वितौ ॥ १९ ॥

भाषानुवाद-छाया देने के लिये बराबर कियी हुई भूमि में शङ्कु स्थापन करके यह के दूसरी दिशा में दृग्ज्या से छायाय दिखलावे । छायाय में दर्पण (आइना) रखने से दर्पणान्तर स्थित यह और शङ्कु के आगे सम सूत्र में दिखाई देगा ॥ १५ ॥ पांच २ हाथ की लम्बी (२४ अङ्गुल का एक हाथ) दो शङ्कु (काष्ठ का सकोमल बनाया हुआ दण्ड) को युति फाल में दोनों यह अपने सूर्याग्न से जिघर को हों उसी ओर दक्षिण और उत्तर रेखा के बीच एक अङ्गुल अन्तर में भूमि में एक हाथ गहरा करके गाढ़ देवे । जिस से दोनों शङ्कु चार हाथ ऊपर को खड़ी रहें । छायाय से शङ्कु के ऊर्ध्वाग्र तक दो छाया निर्णय करे । छाया और कर्णाग्र रेखा में स्थित अनुग्रह को यह दिखलावे, वह श्री शङ्कु के आगे यह को देखेगा ॥ १६ ॥ १७ ॥ श्रीमादि (मङ्गल बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर) पांच ग्रहों के परस्पर योग में ग्रहस्पर्श से विम्यनेनि स्पर्शमात्र का नाम "उल्लेख" युद्ध है । दोनों ग्रहों के मान के एक खण्ड के तुल्य दक्षिण और उत्तर में मण्डल भेद होने से "भेद" नामक युद्ध होता है । परस्पर दोनों की किस्में यदि मिलजावें तो "अंगुलमिर्द" नामक युद्ध होता है । दोनों के दक्षिण उत्तर अंश से ६० कलात्मक से एक अंश श्री न्यून पादंका होने पर "अपसव्य" नामक युद्ध होता है । इस अपसव्य युद्ध में दोनों ताराओं में से यदि एक तारा छोटी है तो प्रकाशयुद्ध होता है और दोनों यदि समान हों तो अप्रकाश युद्ध होता है । दक्षिण और उत्तर अन्तर में ६० भाग में से एक भाग अधिक होने पर "समागम" होता है, परन्तु यदि दोनों ग्रह बलवान् (स्थूल मण्डल तथा स्थूल बिम्ब वाले) हों तो समागम प्रकाश होगा और यदि ऐसा न हो तो समागम अप्रकाश होगा ॥ १८ ॥ १९ ॥

अपसव्ये जितो युद्धे पिहितोऽणुरदीप्तिमान् । रक्षोवि-
वर्णो विध्वस्तो विजितो दक्षिणाश्रितः ॥ २० ॥ उद-
क्स्थोदीप्तिमान्स्थूलो जयोयाम्येऽपि योचलो ॥ २१ ॥ आ-
सन्नावप्युभौ दीप्ती भवतश्चेत्समागमः । स्वल्पौ द्वा-
घपि विध्वस्तौ भवेतां कूटविग्रहौ ॥ २२ ॥ उदक्स्थो दक्षि-
णस्थो वा भार्गवः प्रायशोजयी । शशाङ्केनैवमेतेषां

कुर्यात्संयोगसाधनम् ॥ २३ ॥ भावाभावाय लीकानां
कल्पनेयं प्रदर्शिता । स्वमार्गगाः प्रयान्त्येते दूरमन्यो-
न्यमाश्रिताः ॥ २४ ॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

भाषानुवाद—दोनों ग्रहों में से एक दूसरे से विध्वस्त होजावे उस की पराजित जानना । अवसथ्य युद्ध में थोड़ी प्रभावाला ढका हुआ छोटे बिम्ब वाला ग्रह पराजित होता है । यह ग्रह कला, विवर्ण, प्रभारहित और दक्षिणस्थ होता है ॥ २३ ॥ अन्य ग्रह की अपेक्षा उत्तर दिक्स्थ ग्रह प्रकाशयुक्त स्थूल-बिम्ब और जमी होता है । दक्षिण दिशा में चलवान् होने पर ग्रह जमी होता है ॥ २४ ॥ दोनों ग्रह दीप्तिमान् होकर निकट एक भाग में आजायं तो "समागम" युद्ध होता है । जो दोनों ही थोड़ी दीप्ति वाले और विध्वस्त-बिम्ब हों तो "कूटविग्रह" (कूट और विग्रह) नामक युद्ध होता है ॥ २२ ॥ उत्तर दिशा में या दक्षिण दिशा में हो, एक प्रायः उत्तर ग्रहों की अपेक्षा दोनों ही दिशाओं में जमी होता है । मङ्गलादि पांच ग्रहों का चन्द्रमा के साथ संयोग काल पूर्वोक्त रीति से साधन करे ॥ २३ ॥ ग्रहगण परस्पर दूरस्थित अथवा २ कक्षा में चलते हैं । वे कभी २ इकट्ठे चलते दीखपड़ते हैं । इस कारण मनुष्यों के ज्ञान के लिये उन ग्रहों के युतिविषयक नियम दिखलाये गये ॥ २४ ॥

इति भाषानुवादे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥



अथाष्टमोऽध्यायः

प्रोच्यन्ते लिप्तिकाभानां स्वभोगोद्य दशाहतः । भवन्त्य-
तीतधिष्ण्यानां भोगलिप्तिमुता ध्रुवाः ॥ १ ॥ अप्रार्णवाः
शून्यकृताः पञ्चपट्टिर्नगेषवः । आपृथार्था अवध्योऽष्टागा
अङ्गागा मनवस्तथा ॥ २ ॥ कृतेपवो युगरसाः शून्यवाणा
वियद्रसाः । खवेदाः सागरनगा गजागाः सागरर्तवः ॥ ३ ॥
मनवोऽथ रसा वेदा वैश्वमाप्यार्थभोगगम् । आप्यस्यैवा-
भिजित्प्रान्ते वैश्वान्ते श्रवणस्थितिः ॥ ४ ॥ त्रिचतुःपादयोः
संधौ श्रविष्ठा श्रवणस्य तु । स्वभोगतो वियन्नागाः पट्ट-
तिर्यमलाश्विनः ॥ ५ ॥ रन्ध्रादयः क्रमादेयां विक्षेपाः स्वाः पद-
क्रमात् । दिह्मासविषयाः सौम्ये याम्ये पञ्च दिशोनय
॥ ६ ॥ सौम्ये रसाः खं याम्ये गाः सौम्ये स्वाकास्त्रयोदश ।
दक्षिणे रुद्रयमलाः सप्तत्रिंशदथोत्तरे ॥ ७ ॥ याम्येऽध्य-
र्धत्रिककृता नवसार्धशरेषवः । उत्तरस्यां तथा पट्टिस्त्रिं-
शत्पट्टत्रिंशदेव हि ॥ ८ ॥ दक्षिणेत्वर्धभागस्तु चतुर्विंश-
तिरुत्तरे । भागाः पट्टविंशतिः खंच दक्षादीनां यथाक्र-
मम् ॥ ९ ॥

शापानुवाद-उत्तरापादा, अभिजित्, श्रवण और चनिष्ठा, इन चार नक्ष-
त्रों को छोड़ कर अन्योन्य नक्षत्रों की कला संख्या कही जाती है । प्रत्येक नक्षत्र
के वक्ष्यमाण भोगाङ्क को १० से गुणा कर, गुणनफल में अश्विन्यादि गत
नक्षत्रों की भोग कला की समष्टिसंख्या को जोड़े अर्थात् प्रतिनक्षत्र भोग
८०० कला के अनुसार अभीष्ट नक्षत्र (जिस नक्षत्र का भुव जानता हो) प-
र्यन्त जितने नक्षत्र हों उन की समष्टि (योग) जोड़े, पुनः जोड़ने से जो योग
फल हो वही नक्षत्रों का अपना २ भुव (द्वाघिमा) होगा ॥ १ ॥

शापानु०-२-८ लोकतक अर्थ निम्नलिखित चक्रद्वारा लिखा गया है:-

क्रम संख्या	नक्षत्रों का नाम	स्वभोग	ध्रुव			विक्षेप		
			राशि	अंश	कला	अंश	लिखा	
२३	धनिष्ठा	०	८	२०	०	३६	उत्तर	त्रयणा के तृतीय एवं चतुर्थ पादकी सन्धिमें है॥
२४	शतभिषक्	८०	१०	२०	०	३६	द०	
२५	पूर्वाभाद्रपदा	३६	१०	२६	०	५४	उ०	
२६	उत्तराभाद्रपदा	२२	११	३३	०	२६	"	ठीक क्रान्ति वृत्त रेखा पर है यि० शून्य॥
२७	रेवती	५९	११	२९	५०	०		

नक्षत्र योग तारा का कदम्बाभिमुख भोग नक्षत्र योग तारा का कदम्बाभिमुख शः

क्रम संख्या	नक्षत्र	भोग		शरदिशा	शर	
		अंश	कला		अंश	कला
१	अश्विनी	११५	०	उत्तर	८	११
२	भरणी	२४३५		उत्तर	११	६
३	कृत्तिका	३९	८	उत्तर	४	४४
४	रोहिणी	४८	९	दक्षिण	४	५९
५	मृगशीर्ष	६१	३	दक्षिण	८	५९
६	आर्द्रा	६४५०		दक्षिण	८	५३
७	पुनर्वसु	८२५२		उत्तर	६	०
८	पुष्य	१०६	०	उत्तर	०	०
९	आश्लेषा	१०९५९		दक्षिण	६	५६
१०	मघा	१२५	०	उत्तर	०	०
११	पूर्वाफल्गुनी	१३९५	८	उत्तर	११	१९
१२	उत्तराफल्गुनी	१५०	१०	उत्तर	१२	५
१३	हस्त	१७४	२२	दक्षिण	१०	६
१४	चित्रा	१८०४८		दक्षिण	१	५०
१५	स्वाति	१८३	२	उत्तर	३३	५०
१६	विशाखा	२१३	३१	दक्षिण	१	२५
१७	अनुराधा	२२४	४४	दक्षिण	२	५२

म ल सं ख्या	नक्षत्र	भोग		शरदिशा	शर	
		अंश	कला		अंश	कला
१८	ज्येष्ठा	२३०	७	दक्षिण	३	५०
१९	झूल	२४०	१२	दक्षिण	८	४८
२०	पूर्वाषाढा	२५५	३०	दक्षिण	५	२८
२१	उत्तराषाढा	२६०	२३	दक्षिण	४	४८
	अभिजित्	२६४	१०	उत्तर	५८	५८
२२	श्रवण	२८८	२८	०	२८	५४
२३	धनिष्ठा	२९६	४	उत्तर	३५	३३
२४	शतभिषक्	३१८	५०	दक्षिण	०	२८
२५	पूर्वाभाद्रपदा	३३३	२५	उत्तर	२२	३०
२६	उत्तराभाद्रपदा	३४७	२६	उत्तर	१४	१
२७	रेवती	३५८	५०	दक्षिण	०	६

अशीतिभागैर्याम्यायामगस्त्योमिथुनान्तगः । विंशे च
मिथुनस्यांशे मृगश्याधो व्यवस्थितः ॥ १० ॥ विक्षेपो-
दक्षिणे भागैः स्वार्णवैः स्वादपक्रमात् । हुतभुग्नहृदयौ
वृषे द्वाविंशभागौ ॥ ११ ॥ अष्टाभिस्त्रिंशता चैव वि-
क्षिप्तावुत्तरेण तौ । गोलं वदध्वा परीक्षेत विक्षेपं ध्रुवसं-
स्फुटम् ॥ १२ ॥ वृषे सप्तदशे भागे यस्य याम्योऽशक-
द्वयात् । विक्षेपोऽभ्यधिकोऽभिन्दाद्रोहिण्याः शकटं तु
सः ॥ १३ ॥ ग्रहवद्वदुनिशेभानां कुर्याद्वृत्तकर्म पूर्ववत् ।
ग्रहमेकवच्छेपं ग्रहमुक्त्या दिनानि च ॥ १४ ॥

भाषार्थ-श्लोक १० । ११ तत्क फा-

नक्षत्र	प्रुय			विक्षेप			दिशा
	राशि	अंश	कला	राशि	अंश	कला	
१ अगस्त्य	३	०	०	०	८७	०	दक्षिण
२ मृगश्याध	२	२०	०	०	४२	०	दक्षिण
३ अग्नि	१	२२	०	०	८	०	उत्तर
४ ग्रहवद्वदय	१	२२	०	०	३६	०	उत्तर

वक्ष्यमाण गोल घांस आदि की शलाका से बाध कर अर्थात् एक गोल यन्त्र तैयार कर भलीभांति नक्षत्रों के ग्रह तथा विक्षेप की परीक्षा करने से मध्य विषय स्पष्टतया ज्ञात हो जावेगा ॥ १२ ॥ रोहिणी नक्षत्र का आकार शकट की नाई है । जो ग्रह वृष राशि के १७ अंश में अवस्थित, एवं जिस का दक्षिण विक्षेप २ अंश से अधिक होगा, वह ग्रह रोहिणी के शकटाकार संनिवेश में प्रवेश करेगा, अर्थात् शकटाकृति को काट देगा । भेदक ग्रह का विक्षेप रोहिणी के विक्षेप से न्यून होना चाहिये, क्योंकि दक्षिण विक्षेप रोहिणी के विक्षेप से अधिक होने से शकटभेद नहीं होगा । यह रा० २ । अं० १७ वि० ४० वेध द्वारा देख कर सिद्ध किया है ॥१३॥ नक्षत्र के साथ ग्रह योग जानने के लिये अध्याय १ । २ लिखित नियमानुसार नाक्षत्रिक अहोरात्र का परिमाण ठीक कर नक्षत्र की द्राघिमा में आक्षट्कर्म (संस्कार) करे, तदन्तर पहिले जो ग्रहों के विषय में जिस प्रकार कहा गया है, उसी प्रकार यहां भी करना चाहिये । अनन्तर अभीष्ट काल से ग्रहों की दैनिक भुक्ति (गति) से पूर्व रीत्यनुसार "गत" और "गम्य" दिन निश्चय करे ॥ १४ ॥

एष्यो हीने ग्रहे योगो ध्रुवकादधिके गतः । विपर्ययाद्वक्रगते ग्रहे ज्ञेयः समागमः ॥ १५ ॥ फल्गुन्योर्भाद्रपदयोस्तथैवापाढयोर्द्वयोः । विशाखाश्विनिसौम्यानां भोगतारोत्तरा स्मृता ॥ १६ ॥ पश्चिमोत्तरताराया द्वितीया पश्चिमे स्थिता । हस्तस्य योगतारा सा श्रविष्ठायाश्च पश्चिमा ॥ १७ ॥ ज्येष्ठाश्रवणमैत्राणां बार्हस्पत्यस्य मध्यमा । भरण्याग्नेयपित्र्याणां रैवत्याश्चैव दक्षिणा ॥ १८ ॥ रोहिण्यादित्यमूलानां प्राची सार्वस्य चैव हि । यथा प्रत्यक्ष शेषाणां स्थूला स्यादयोगतारका ॥ १९ ॥

भाषार्थ—आक्षट्कर्म संस्कृत नक्षत्र ग्रह से आयनदूकर्मसंस्कृत ग्रह का ध्रुव न्यून होने से नक्षत्र और ग्रह का योग अभीष्ट काल से पीछे होगा और अधिक हो तो नक्षत्रयोग गत (होगया) जानना । परन्तु यकगति ग्रह का वक्र नियम से विपरीत होता है, अर्थात् ग्रह का ध्रुव न्यून हो तो नक्षत्रयोग

अथ नवमोऽध्यायः

अथोदयास्तमययोः परिज्ञानं प्रकीर्त्यते । दिवाकरकरा-
क्रान्तमूर्तीनामल्पतेजसाम् ॥ १ ॥ सूर्यादभ्यधिकाः
पश्चादस्तं जीवकुजार्कजाः । ऊनाः प्रागुदयं यान्ति शु-
क्रज्ञौ वक्रिणौ तथा ॥ २ ॥ ऊना विवस्वतः प्राच्यामस्तं
चन्द्रज्ञभार्गवाः । व्रजन्त्यभ्यधिकाः पश्चादुदयं शीघ्रया-
यिनः ॥ ३ ॥ सूर्यास्तकालिकौ पश्चात् प्राच्यामुदय-
कालिकौ । दिवा चार्कग्रहौ कुर्याद् दृक्कर्माथ ग्रहस्य तु
॥ ४ ॥ ततोऽलग्नान्तरप्राणाः कालांशाः पट्टिभाजिताः ।
प्रतीच्यां पट्टभयुतयोस्तद्वलग्नान्तरासवः ॥ ५ ॥

भाषानुवाद-अथ उदय (धोड़े तेजवाले ग्रह, उपग्रह, नक्षत्रादिक सूर्य से अलग होने पर जितने समय में पहिली बार दीखपड़े) और अस्त (सूर्य से 'दूर होने पर जितने काल में जो ग्रह पहिली बार दीखपड़े') का परिज्ञान (सूझ रीति से) कहा जाता है । पहिले कहा जा चुका है कि जितने ग्रह पदार्थ अर्थात् ग्रह, उपग्रह, नक्षत्रादिक हैं प्रायः सूर्य के किरणों से प्रकाशित होते हैं । उन में बहुत से धोड़े तेजवाले और कतिपय एक की अपेक्षा अधिक तेज वाले हैं । यहां चन्द्रमा, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि और नक्षत्रों का उदयास्त कहा जावेगा ॥ १ ॥ सूर्य स्पष्ट की राश्यादि से (राशि, अंश, कलादि) बृहस्पति, मङ्गल, शनि इत्येक वकी बुध और शुक्र इन पांच ग्रहों की स्पष्ट राश्यादि अधिक होने से इन का अस्त पश्चिमदिशा में होता है । और सूर्य स्पष्ट की राश्यादि से उक्त पांचों ग्रहों की स्पष्ट राश्यादि न्यून होने से इन का उदय पूर्व दिशा में होता है ॥ २ ॥ शीघ्र चलने वाले चन्द्र, बुध और शुक्र की स्पष्ट राश्यादि सूर्य की स्पष्ट राश्यादि से न्यून होने से, इन का अस्त पूर्वदिशा में होता है और उक्त ग्रहों की स्पष्ट राश्यादि सूर्य की स्पष्ट

राश्यादि से अधिक होने से इनका उदयपश्चिम दिशा में होता है ॥ ३ ॥ यदि पश्चिम दिशा में ग्रहों का अस्तोदय ज्ञान करना हो तो अभीष्ट दिन के सूर्य और ग्रह का अस्तकालिक अर्थात् उस समय सूर्य तथा ग्रह किन राशि, अश कलादि को भ्रम कर रहे हैं, गणित द्वारा निश्चय करे । एवं यदि पूर्व दिशा में ग्रहों का अस्तोदय ज्ञान करना हो तो उसी प्रकार सूर्य तथा ग्रह को अभीष्ट दिन के उदयकालिक करके पीछे आक्षट्ठक कर्म करे ॥ ४ ॥ तब पूर्व कपाल में सूर्य और वृष् ग्रह (वेध से देखा हुआ ग्रह) के स्फुट से घटाने पर जो लग्न प्राण हो उस को ६० से भागदेवे, भागफल काळांश होने और पश्चिम कपाल में ६ राशि जाड़ कर सूर्य और वृष्ग्रह के स्पष्ट लग्नान्तर प्राण स्थिर करे ॥ ५ ॥

एकादशामरेज्यस्य तिथिसंख्याकजस्य च । अस्तांशा-
भूमिपुत्रस्य दशसप्ताधिकस्ततः ॥ ६ ॥ पश्चादस्तम-
योष्टाभिरुदयः प्राह्महत्तया । प्रागस्तमुदयः पश्चादल्प-
त्वादशभिर्भृगोः ॥ ७ ॥ एवं युधो द्वादशभिश्चतुर्दशभि-
रंशकैः । वक्रोशीघ्रगतिश्चार्कात्करोत्यस्तमयोदयौ ॥ ८ ॥
एभ्योऽधिकैः कालभागैर्दृश्यान्वनैरदर्शनाः भवन्ति लोके
खचरा भानुभागस्तमूर्तयः ॥ ९ ॥ तत्कालांशान्तरकला
भुक्त्यन्तरविभाजिताः । दिनादि तत्फलं लब्धं भुक्त्यो-
गेन वक्रिणः ॥ १० ॥

भास्वानुवाद-सूर्य के स्पष्ट राश्यादि से ग्रहस्पष्टि का स्फुट ११ अंश से अधिक या न्यून होने से उक्त दिशा में (देखो श्लोक ३) ग्रहस्पष्टि का अस्त वा उदय निश्चय करना चाहिये । १५ अंश अधिक या न्यून होने में शनि का, एवं १७ अंश अधिक या न्यून होने से उक्त अस्तोदय के निकृषित दिशा में गङ्गल का अस्त वा उदय होगा । सूर्य के स्पष्ट से चन्द्रमा का स्पष्ट १२ अंश अधिक होने से पश्चिमदिशा में चन्द्रमा दिखलाई देगा । सूर्य के स्पष्ट से १२ अंश न्यून होने से चन्द्रमा पूर्वदिशा में अस्तमित होगा (नहीं दीखेगा) । यदि वक्रो शुक्र का स्पष्ट सूर्य के स्पष्ट से ८ अंश अधिक हो तो शुक्र पश्चिम

दिशा में अस्तमित, ६ एवं ८ अंश न्यून होने से पूर्व दिशा में उदित होगा और वक्रतारहित शुक्र अब शीघ्रगामी होगा तब यदि सूर्य के स्पष्ट से शुक्र का स्पष्ट १० अंश न्यून हो तो पूर्वदिशा में अस्तमित होगा, एवं १० अंश अधिक होने से उक्त शुक्र पश्चिम दिशा में उदित होगा । इसी प्रकार यदि यक्षी बुध का स्पष्ट सूर्य के स्पष्ट से १२ अंश अधिक हो तो पश्चिम दिशा में अस्त, एवं १२ अंश न्यून होने से पूर्वदिशा में उदित होगा । वक्रगति रहित बुध का स्पष्ट राश्यादि सूर्य के स्पष्ट राश्यादि से १४ अंश न्यून होने से पूर्वदिशा में बुध का अस्त, एवं १४ अंश अधिक होने से पश्चिम दिशा में बुध का उदय होगा ॥ ६ । ७ । ८ ॥ पूर्वोक्त (६ । ७ । ८ श्लोकोक्त) कालांश से अधिक होने पर इष्टकाल में ग्रह दृश्य होने हैं । एवं न्यून होने से सूर्य के निकट होने के कारण सूर्य की प्रसर किरणों से ग्रहों के विन्ध्य धिर कर लीनों का नहीं दीखते ॥ ९ ॥ ग्रहों के पूर्वोक्त अपने २ कालांश से इष्टकालांश घटाकर फला घनावे पुनः उस को सूर्य और ग्रह की दैनिकभुक्ति की जो घटाई हुई कला उस से भाग दे, भागफल दिनादि होगा, परन्तु यक्षी ग्रह की भुक्ति जोड़ कर भाग देने से भागफल दिनादि होगा ॥ १० ॥

विवरण-सूक्त सू० ति० के अनुसार चन्द्रमा १२ अंश, मङ्गल १७ अंश, बुध १३ अंश, बृहस्पति ११ अंश शुक्र ९ अंश और शनि १५ अंश में । आयमह ने भी ऐसा ही लिखा है । एवं आधुनिक पाश्चात्य पण्डितों ने भी ऐसा ही अनुभव किया है । केवल शुक्र का अंग्रेजों ने ८ अंश लिखा है बाकी सब एकमे हैं । श्लोक ६-८ ॥

तल्लगनासुहते भुक्तीअष्टादशशतोद्धृते । स्यातां कालग-
ती ताभ्यां दिनादिगतगम्ययोः ॥ ११ ॥ स्वात्यगस्त्यमृग-
व्याधचित्राज्येष्ठाः पुनर्वसुः । अभिजिद्वंशहृदयं त्रयो-
दशभिर्दशकैः ॥ १२ ॥ हस्तश्रवणफलगुन्यः श्रविष्ठा-
रोहिणीमघाः । चतुर्दशांशकैर्दृश्याविशाखाश्विनिदैव-
तम् ॥ १३ ॥ कृत्तिकामैत्रमूलानि सार्पं रौद्रक्षमेव च ।
दृश्यन्ते पञ्चदशभिरापाढाद्वितयं तथा ॥ १४ ॥ भरणी-
तिष्यसौम्यानि सौहम्यावृत्रिः सप्तकांशकैः । शेषाणि सप्त-

दशभिर्दृश्यादृश्यानि भानि तु ॥ १५ ॥

भाषानुवाद—सूर्य और ग्रहभुक्ति को उस लग्न प्राण से गुणन कर गुणन फल में १८०० का भाग देवे भागफल सूर्य और ग्रह के कालांश के तुल्य फल गति होगी, उन दोनों गतियों से यत और गम्यादि पूर्वप्रक्रियानुसार निश्चय करे ॥ ११ ॥ स्वाति, अगस्त्य, मृगशिरा, चित्रा, ज्येष्ठा, पुनर्वसु, अभिजित, ब्रह्म-हृदय, इन नक्षत्रों का कालांश १३ अंश है अर्थात् ये नक्षत्र १३ अंश में दृश्य होते हैं। इस से न्यून होने से अदृश्य होते हैं ॥ १२ ॥ हस्त, श्रवण, उत्तराफल्गुनी, पूर्वाफल्गुनी, धनिष्ठा, रोहिणी, मघा, विशाखा, अश्विनी, इन का कालांश १४ अंश है अर्थात् ये नक्षत्र १४ अंश में दीख पड़ते हैं इस से न्यून होने से अदृश्य होते हैं ॥ १३ ॥ कृत्तिका, अनुराधा, मूल, आश्लेषा, आर्द्रा, पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा इन के १५ कालांश हैं अर्थात् ये नक्षत्र १५ अंश में दृश्य होते हैं इस से न्यून होने से अदृश्य होजाते हैं ॥ १४ ॥ भरणी, पुष्य और मृगशिरा ये अत्यन्त छोटे हैं अर्थात् इन के विम्ब बहुत छोटे हैं इस कारण २१ अंश दीख पड़ते हैं न्यून होने से अदृश्य होते हैं और शेष नक्षत्र शतभिषक, पूर्वा भाद्रपदा, उत्तरा भाद्र-पदा, रेवती, अग्नि, प्रजापति, अर्षावत्स और आप, इन का कालांश १९ अंश है, ये नक्षत्र १९ अंश दीख पड़ते हैं, इस से न्यून होने से अदृश्य होते हैं ॥ १५ ॥

अष्टादशशताभ्यस्ता दृश्यांशाः स्त्रोदयासुभिः । विभज्य लब्धाः क्षेत्रांशास्तैर्दृश्यादृश्यताथवा ॥ १६ ॥ प्रागेषामु-
दयः पश्चादस्तौ द्वक्कर्म पूर्ववत् । गतैर्ग्यदिवसप्राप्ति-
भानुभुक्त्या सदैव हि ॥ १७ ॥ अभिजिह्वब्रह्महृदयं स्वाति-
वैष्णववासवाः ॥ अहिर्बुध्न्यमुदकस्थत्वान्न लुप्यन्तेऽर्क-
रश्मिभिः ॥ १८ ॥

इति नवमोऽध्यायः ॥ ६ ॥

भाषानुवाद—कालांश को १८०० से गुणन कर गुणनफल को लग्न प्राण

से भाग द्रवे, भागफल क्रान्तिवृत्तस्य अंश होगा अर्थात् उसी अंश से दृश्य और अदृश्य होता है ॥ १६ ॥ इन नक्षत्रों का उदय पूर्वदिशा में एव अस्त पश्चिम दिशा में होता है । और इन का आसदृक् कर्म पूर्ववत् करना चाहिये एव सर्वदा सूर्य की गति से (१० श्लोकोक्त नियम) दिन आदि निर्णय करे ॥ १७ ॥ अभिजित्, ब्रह्महृदय, स्वाति, प्रवण, घनिष्ठा, उत्तराभाद्रपदा, इन नक्षत्रों का उत्तर विक्षेप अधिक होता है इस कारण सूर्य की किरणों से कभी छुप्त नहीं होते अर्थात् इन का कभी अस्त नहीं होता ॥ १८ ॥

इति भाषानुवादे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥



अथ दशमोऽध्यायः

उदयास्तविधिः प्राग्वत्कर्तव्यः शीतगोरपि । भार्गवैर्द्वा-
दशभिः पश्चाद्दृश्यः प्राग्यात्यदृश्यताम् ॥ १ ॥ रवीन्द्रो-
पद्भ्युत्तयोः प्राग्वत्लग्नान्तरासवः । एकराशौ रवीन्द्रो-
श्च कार्या विवरलिप्तिकाः ॥ २ ॥ तज्जाडिकाहते भुक्ती
रवीन्द्रोःप्रष्टिभाजिते । तत्फलान्वितयोर्भूयः कर्तव्या
विधिरासवः ॥ ३ ॥ एवं यावत्स्थिरीभूता रवीन्द्रोरन्तरास-
वः । तैः प्राणैरस्तमेतीन्दुः शुक्लेऽर्कास्तमेयात्परम् ॥ ४ ॥
भगणाहुं रवेर्दत्त्वा कार्यास्तद्विवरासवः । तैः प्राणैः कृ-
ष्णपक्षे तु शीतांशुरुदयं व्रजेत् ॥ ५ ॥

आयानुवाद-पूर्वोक्तप्रकार से (पूर्वोपिकारीत) चन्द्रमा का श्री उदयास्त
आयन करे। १२ अंश दूर होने पर चन्द्रमा पश्चिम दिशा में दिखे देता और पूर्व
दिशा में १२ अंश दूर होने पर अदृश्य होता है ॥ १ ॥ शुक्लपक्ष के असीस दिन के
आयनकाल में सूर्य और चन्द्रमा का आयन दृक्कर्म और आस्तदृक्कर्म करे, पुनः
दृक्कर्म संस्कृतसूर्य और चन्द्रमामें छः राशिभोग करे। पूर्वोक्त रीति से (अ० ३३ ब्र० ४५)
छान्दान्तर प्राणनिश्चय करे और छः राशि मिलाने पर यदि सूर्य और च-
न्द्रमा एक राशि में हों तो छः राशियुक्त सूर्य और चन्द्रमा की अन्तर कला
करे। एवं प्राण और कला की घटिका से प्राण की ३६० से भाग देवे, भाग-
फल घटिका कला उदय प्राण से गुणन कर गुणनफल प्राण में पुनः एक राशि
की कला से भाग देने पर प्राण हो उस को ३६० से भाग देवे भागफल घटिका
होगी। उस से सूर्य और चन्द्रमा की दैनिककलात्मक गति से गुणन कर गुणन
फल में ६० का भाग देवे भागफल को अन्तर छः राशियुक्त सूर्य और चन्द्र-
मा में जोड़कर पुनः पूर्ववत् अन्तर प्राण करे एवं उस घटिका से सूर्यास्त
कालिक छः राशियुक्त संस्कृत सूर्य और चन्द्रमा को बलाकर अन्तर

प्राण स्थिर न हो इसी प्रकार करता जावे । सूर्यास्त के पीछे उक्त प्राणसरूपा काल के बीतने पर चन्द्रमा का अस्त होगा ॥ २ । ३ । ४ ॥ कृष्णपक्ष में सूर्य स्पष्ट में छ राशि मिलाकर चन्द्रमा से अन्तर प्राण का निश्चय करे तन्ही प्राण सरूपाकाल के पीछे कृष्णपक्ष में चन्द्रोदय का काल है ॥ ५ ॥

अर्केन्द्रीः क्रान्तिविश्लेषोदिकूसाभ्ये युतिरन्यथा । त-
ज्येन्दुरकादत्रासौ विज्ञेया दक्षिणोत्तरा ॥ ६ ॥ मध्या-
ह्नेन्दुप्रभाकर्णसङ्गुणा यदि सोत्तरा । तदार्कप्राक्षजीवायं
शोध्या योज्या च दक्षिणा ॥ ७ ॥ शेषं लम्बज्यया भक्तं
लब्धो बाहुः स्वदिङ्मुखः । कोटिशङ्कुस्तयोर्वर्गयुतेर्मूलं
श्रुतिर्भवेत् ॥ ८ ॥ सूर्यो न शीतगोर्लिप्ताः शुल्कं नवशतो-
द्भूताः । चन्द्रविम्बाहुलाभ्यस्तहतं द्वादशभिः स्फुटम् ॥ ९ ॥

भाषानुवाद—यदि सूर्य और चन्द्रमा की क्रान्तिव्या एक दिशा में हो तो इन का अन्तर करे (घटाकर) और यदि दोनों भिन्न दिशा में हो तो योग करे । सूर्य से चन्द्रमा की संक्षिप्ति (रहना) दक्षिण या उत्तर हों उसी के अनुसार क्रान्तिव्या भी (दक्षिणा या उत्तरा) होगी ॥ ६ ॥ उस काल की स्व-
मध्य रेखागत चन्द्रमा की छाया कर्ण को ऊपर कहे हुये फल से गुणन करे गुणनफल यदि दक्षिणा होतो १२ से गुणन किया हुई अक्षर्या में योग, यदि गुणनफल उत्तरा हो तो वियोग करना चाहिये ॥ ७ ॥ यह शेष लम्ब-
ज्या से भाग करे, भागफल स्वदिक् सूक्ष्म बाहु होगा । चन्द्रमा के शङ्कु को (१२ अङ्गुल की कोटि) कोटि जानकर भुज और कोटि के वर्ग का योग करे, वर्गफल मूल निकालने से कर्ण होगा ॥ ८ ॥ चन्द्रमा से सूर्य घटाकर कला करे, इस फल में ८० का भाग देवे, भागफल शुल्काग्र होगा । चन्द्रमा के वि-
म्बाहुल से (चन्द्रग्रहणाधिकारोक्त रीति से) गुणा करे, गुणनफल को १२ से भाग देवे, भागफल स्फुट शुल्क होगा ॥ ९ ॥

दत्त्वा र्कसंज्ञितं विन्दुं ततो बाहुं स्वदिङ्मुखम् । ततः
पश्चान्मुखीं कोटिं कर्णकोट्यग्रमध्यगम् ॥ १० ॥ कोटि-

कर्णयुक्ताद्विन्दोर्विम्बं तात्कालिकं लिखेत् । कर्णसूत्रेण
दिक्सिद्धिं प्रथमं परिकल्पयेत् ॥ ११ ॥ शुल्कं कर्णेन त-
द्विम्बयोगादन्तर्मुखं नयेत् । शुल्काग्रयाम्योत्तरयो-
र्मध्ये मत्स्यौ प्रसाधयेत् ॥ १२ ॥ तन्मध्यसूत्रसंयोगा-
द्विन्दुत्रिस्पृग्लिखेद्गुणः । प्राग्विम्बं यादृगो वस्यात्तादृक् तत्र
दिने शशी ॥ १३ ॥ कोट्या दिक्साधनात् तिर्यक्सूत्रान्ते
शृङ्गमुन्नतम् । दर्शयेदुन्नतां कोटिं कृत्वा चन्द्रस्य साकृ-
तिः ॥ १४ ॥ कृष्णे पङ्क्तयुतं सूर्यं विशोध्येन्दोस्तथा सि-
तम् । दद्याद्द्वामं भुजं तत्र पश्चिमं मण्डलं विधोः ॥ १५ ॥

इति दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

भाषानुवाद-वरावर की हुई भूमि में (अभीष्टस्थान में) दिक्साधन
कारके पूर्वपश्चिम रेखा और दक्षिण उत्तर रेखा खेंचे । वहाँ खेंचे हुए रेखास्थान
में अर्कसंज्ञक बिन्दु (चिन्ह) लिखे । उस बिन्दु से अपनी दिशा के अनुसार
(दक्षिण या उत्तर) भुज अङ्गुल गिनकर (पूर्वसाधित) उस के अनुसार
रेखा खेंचे । उस भुज रेखा के अग्रभाग से पश्चिममुखगामी कोटि (१२ अङ्-
गुल) के परिमाण से रेखा खेंचे । कोटि के आगे से मध्यविन्दु तक की रेखा
ही कर्ण होगी । कोटि और कर्ण रेखा के संयोगस्थान में मध्यविन्दु लिखकर
तात्कालिक साधित चन्द्रमण्डल खेंचे । इस विम्बमण्डल में पहिले कर्ण रेखा
द्वारा दिक्सिद्धि (साधन) दिखलाये । चन्द्रमण्डल में जहाँ कर्ण रेखा लगी
है वही चन्द्रवृत्त में पूर्वदिशा, कर्णरेखा को अपने मार्ग से चन्द्रवृत्त परिधि
में आगे निकाल कर जहाँपर कर्ण रेखा परभाग में लगी है वही पश्चिम
दिशा, उन दोनों मत्स्यद्वारा चन्द्रवृत्त में जहाँ दक्षिण उत्तर रेखा लगी है
वही दक्षिण उत्तर दिशा हैं । शुल्क (पूर्ण साधित) को कर्ण मार्ग द्वारा कर्ण
रेखा और चन्द्रमण्डल की परिधि के संयोग स्थान से वृत्तके केन्द्र की ओर
रेखा खेंचे । चन्द्रवृत्त के भीतर कर्ण रेखा पर पश्चिम से शुल्क की अङ्गुलि
गिन कर चिन्ह करे और चन्द्रवृत्तमें जहाँ शुल्काग्र का चिन्ह है और चन्द्र

यत् परिधि में जहां दक्षिण उत्तर का चिन्ह है इन दोनों के बीच से दो मउली की आकृतिकीरेखा बनावे । शुल्काग्र और दक्षिण चिन्हद्वारा एक मउली, एवं शुल्काग्र और उत्तर चिन्हद्वारा दूसरी मउली बनावे । इन दोनों मउलियों के मुख और पूंछ से निकली हुई रेखा के संयोग (चन्द्रमण्डल के भीतर या बाहर के शुल्काग्र परिचम हो तो पूर्व में "संयोग" और शुल्काग्र पूर्व में है तो पश्चिम में "संयोग" से अपने २ मार्ग से फैली हुई रेखा के सम्पात स्थान से) स्थान को केन्द्र करके त्रिविन्दुस्पृक् (शुल्काग्र विन्दु, दक्षिण विन्दु उत्तर विन्दु, इन तीन विन्दु को छूता हुआ) धनु रेखा खिंचे । पूर्वकाल में लिखित चन्द्रविम्ब जिस प्रकार होगा एवं लिखित धनु द्वारा जैसा पश्चिम काल में होगा उसी प्रकार उस दिन (गृह्णावृत्ति के गणित के लिये अष्टौ दिन संध्यासमय) भी चन्द्रमा आकाश में दिखाई देगा ॥ १० । ११ । १२ । १३ ॥ कोटि रेखा द्वारा चन्द्रवृत्त में कर्ण रेखा ॥ समान दिक्साधन से परिलेख में शुल्क धनु के कोटि अग्रभागतमक कक्षा देख कर दक्षिण उत्तर रेखा के अन्त में उच्यष्टङ्ग दिखलावे, यही आकृति (परिलेख सिद्ध) आकाशस्थ चन्द्रमा का आकार होगी ॥ १४ ॥ कृष्णपक्ष में चन्द्रमा के स्पष्ट से छः राशि-युक्त सूर्य पटावे और शुल्क की माई (पूर्वोक्त प्रकार) अक्षित (कालायन) निर्णय करे और कृष्ण परिलेख में पूर्वोक्त भुज को विपरीत दिखलावे अर्थात् सूर्य चिन्ह से उत्तरभुज को दक्षिण से दिखलावे एवं सूर्यचिन्ह से दक्षिणभुज को उत्तर से दिखलावे और चन्द्रमण्डल को पश्चिम ओर अक्षित दिखलावे ॥ १५ ॥

इति भाषानुवादे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥



ओ३म्

अथैकादशोऽध्यायः

एकायनगतौ स्यातां सूर्याचन्द्रमसौ यदा । तद्भुतौ म-
ण्डलेक्रान्त्योस्तुल्यत्वे वैधृताभिधः ॥ १ ॥ विपरीता-
यनगती चन्द्रार्कौ क्रान्तिलिप्तिकाः । समास्तद्वा व्यतीपा-
तो भगणार्धे तयोर्युतौ ॥ २ ॥ तुल्यांशुजालसंपर्कात्त-
योस्तु प्रवहावृतः । तद्गृह्णन्क्रोधमवो वह्निर्लोकाभावाय
जायते ॥ ३ ॥ विनाशयति पातोऽस्मिंल्लोकानामसकृद्वतः ।
व्यतीपातः प्रसिद्धोऽयं संज्ञाभेदेन वैधृतिः ॥ ४ ॥ सकृष्णो
दाखणवर्णोहिताक्षोमहोदरः । सर्वानिष्टकरोरौद्रो भू-
योभूयः प्रजायते ॥ ५ ॥

भाषानुवाद—सूर्य और चन्द्रमा जब एक अयन (चाहे दक्षिणायन या उत्तर-
रायण) में होते हैं और जब दोनों की स्पष्ट राश्यादिक जोड़ने से १२ राशि
के परिमाण की होती हैं, एवं दोनों की क्रान्ति समान होती हैं, तब “वैधृ-
ति” नामक पात होता है ॥ १ ॥ परन्तु जब सूर्य और चन्द्रमा भिन्न २ अयन
में रहते, एवं वन की क्रान्ति कला समान होती हैं और दोनों की स्पष्ट रा-
श्यादि जोड़ने से ६ राशि के बराबर हो तो “व्यतीपात” नामक पात होता
है ॥ २ ॥ सूर्य और चन्द्रमा के किरणों का परस्पर मिलने से दृग्गृह्य क्रोध से
सहस्रज अग्नि प्रवह वायु से प्रज्वलित होता हुआ लोगों को अशुभ कष्ट
देने वाला होता है ॥ ३ ॥ पूर्वोक्त पात रूप अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा की
क्रान्ति समान होने पर अनेकवार होता है और लोगों का नाश करता है,
इस लिये इस को “व्यतीपात” और “वैधृति” कहते हैं ॥ ४ ॥ * सूर्य और

* श्लोक १ । ४ । ५ का विशेष विवरण देखो, इसी अध्याय की अन्तिम
व्याख्या ॥

चन्द्रमा की क्रान्ति समान होने पर जहां उक्त दोनों नाम का पात होता है, उस का वरुण(रंग)काला, कठिन शरीर, छाल नेत्र, महोदर (बड़ा पेट) सब लोगों को हानि पहुँचाने वाला, एवं नाशकारक बारम्बार होता है ॥ ५ ॥

भास्करेन्दोर्भर्चक्रान्तश्चक्रार्धावधिसंस्थयोः । दृक्तुल्य-
साधितांशादियुक्तयोः स्वावपक्रमौ ॥ ६ ॥ अथौजपदग-
स्येन्दोः क्रान्तिर्विक्षेपसंस्कृता । यदि स्यादधिका भानोः
क्रान्तेः पातो गतस्तदा ॥७॥ ऊना चेत्स्यात्तदा भावी वामं
युग्मपदस्य च । पदान्यत्वं विधोः क्रान्तिर्विक्षेपाच्चेद्वि-
शुध्यति ॥८॥ क्रान्त्योर्ज्यं त्रिज्यया भिन्ने परक्रान्तिज्य-
योद्बधृते । तच्चापान्तरमर्धं वा योज्यं भाविनि शीतगौ ॥९॥
शोध्यं चन्द्राद्गते पाते तत्सूर्यगतिताडितम् । चन्द्रभु-
क्त्या हतं भानौ लिप्तादि शशिवरफलम् ॥ १० ॥

भाषानुवाद—पूर्वोक्त रीति से (अ० १० श्लोक ११) दृक्तुल्य साधित अं-
शादि युक्त संस्कृत चन्द्रमा और सूर्य की स्पष्ट राश्यादि की जोड़ने से जब १२
राशि में या छः राशि के निकट हो क्षी उस समय के सूर्य की क्रान्ति एवं चन्द्रमा की
विक्षेप संस्कृत क्रान्ति नियम करें ॥५॥ औजपद (देखें अ० २ श्लोक ३५) में स्थित
चन्द्रमा की विक्षेप संस्कृत स्पष्ट क्रान्ति सूर्य की क्रान्ति से अधिक हो तो
“पात” गत (साधित क्रान्ति काल से पहिले हो गया) जाने और यदि चन्द्रमा
की स्पष्ट क्रान्ति सूर्य की क्रान्ति से न्यून हो तो “पात” भावी (साधित क्रान्ति
काल में पीछे होगा) जाने और युग्म पदस्य (देखें अ० २ । श्लोक ३४)
चन्द्रमा के होने से उक्त रीति से विपरीत होता है, अर्थात् जब “पात” गत
कहा गया है, उस समय “पात” भावी और जब “पात” भावी कहा गया है,
उस समय “पात” गत जानना । जब चन्द्रमा से विक्षेप क्रान्ति पटाना होती
(चन्द्रमा की स्पष्ट क्रान्ति लाने में) चन्द्रमा अन्य पदस्य हो जाता है (विषम
पदस्य हो युग्म पदस्य हो जायेगा) ॥७॥ ८॥ सूर्य और चन्द्रमा की साधित
क्रान्तिज्या की त्रिज्या से गुणा कर गुणनफल में परम क्रान्तिज्या का दोनों
में भाग दे, भागफल ज्या की अलग २ धनु बनावे । उस धनु का अन्तर वा

अन्तरार्ध (जब अन्तर घोड़ा हो तो "अन्तर" और जब अन्तर अधिक हो तो उस का आधा करे) जब पात भावी हो तो चन्द्रमा की राश्यादि में जोड़े और जब पात गत हो तो चन्द्रमा की राश्यादि से घटावे । उक्त चन्द्रमा के साधन में जो संस्कार किया गया है उस फल की सूर्य की स्पष्ट गति से गुणा कर गुणनफल में चन्द्रमा की स्पष्ट गति से भाग देवे, भागफल चन्द्रमा की नार्द्ध कलादि होगा । पुनः इस को (चन्द्रमा में जैसा योग या वियोग किया गया है) सूर्य में योग वा वियोग करे, फल स्पष्ट सूर्य होगा ॥ ८ ॥ १० ॥

तद्वच्छाङ्कपातस्य फलं देयं विपर्ययात् । कर्मैतदसकृ-
त्तावदावत्क्रान्ती समे तयोः ॥११॥ क्रान्त्योः समत्वे पा-
तोऽथ प्रक्षिप्तान्शोनिते विधौ । हीनेऽर्धरात्रिकादातो
भावी तात्कालिकेऽधिके ॥ १२ ॥ स्थिरीकृतार्धरात्रेन्द्वोर्ध्व-
योर्विवरलिप्तिकाः । पष्टिघ्नाश्चन्द्रभुक्तघाताः पातकालस्य
नाडिकाः ॥ १३ ॥ रवीन्दुमानयोगार्ध पष्ट्यां सङ्गुण्य
भाजयेत् । तयोर्भुक्तचन्तरेणाप्तं स्थित्यर्थं नाडिकादि तत्
॥ १४ ॥ पातकालः स्फुटीमध्यः सोऽपिस्थित्यर्थवर्जितः ।

तस्य सम्भवकालः स्यात्तत्संयुक्तोऽन्त्यसंज्ञितः ॥ १५ ॥

भाषानुवाद-चन्द्रमा के फल कलादि को उक्त प्रकार चन्द्रफल की पात की गति से गुणा कर, गुणनफल में चन्द्रमा की स्पष्ट गति से भाग देवे, भागफल की जिस प्रकार चन्द्रमा में योग वा वियोग (पहिले कहा जा चुका है) किया गया है उस के उल्टे प्रकार से अर्थात् जहां चन्द्रमा में योग कहा गया है वहां पात में वियोग और जहां चन्द्रमा में वियोग कहा गया है, वहां पात में योग करना ॥ ११ ॥ सूर्य और चन्द्रमा की कान्ति जब समान हो तो स्पष्ट पात होता है । प्रक्षिप्तान्श संस्कृत चन्द्रमा मध्यरात्रिक चन्द्रमा से घटाने पर मध्यरात्रि में पात गत और तात्कालिक चन्द्रमा अधिक हो तो पात भावी होता है ॥१२॥ कान्तिसाम्यगत चन्द्रमा और मध्यरात्रिक चन्द्रमा की अन्तर कला को ६० से गुणा कर गुणनफल में अर्धरात्रिक चन्द्रमा की स्पष्ट कलात्मक गति से भाग देवे, भागफल पात काल के स्पष्ट की अन्तर नाड़ी

होगी ॥ १३ ॥ सूर्य और चन्द्रमा के मान को एकत्र जोड़े। पुन इस का आधा करे, इस आधे को ६० से गुणा कर गुणनफल में सूर्य की स्पष्ट गति से चन्द्रमा की स्पष्ट गति को घटाकर शेष अङ्क से भाग देवे, भागफल स्थित्यर्ह दृश्य होगा ॥ १४ ॥ १३ श्लोक द्वारा लाया हुआ पात का मध्य काल है। उस से स्थित्यर्ह वियोग करने पर फल पात का "सम्भव" (आरम्भ) काल है। एवं स्थित्यर्ह योग करने पर फल पात का "अन्त्यकाल" है ॥ १५ ॥

आदान्तकालयोर्मध्यः कालोज्जीयोऽतिदारुणः । प्रज्वल-
ज्ज्वलनाकारः सर्वकर्मसु गर्हितः ॥ १६ ॥ एकायनगतं या-
वदर्केन्द्वोर्मण्डलान्तरम् । सम्भवस्तावदेवास्य सर्वकर्म-
विनाशकृत् ॥ १७ ॥ स्नानदानजपश्राद्धव्रतहोमादिक-
र्मभिः । प्राप्यते सुमहच्छ्रेयस्तत्कालज्ञानतस्तथा ॥ १८ ॥
रवीन्द्रोस्तुत्यता क्रान्त्योर्विपुवत्सन्निधौ यदा । द्विर्भवेद्
द्विस्तदा पातः स्यादभावो विपर्ययात् ॥ १९ ॥

भाषानुवाद-पात में आरम्भ और समाप्ति के बीच का काल अत्यन्त कठिन, देदीप्यमान अग्निस्वरूप सब शुभ कर्मों में वर्जित है ॥ १६ ॥ अतिसत के काल तक सूर्य और चन्द्रमा के मण्डल का कोई अंश एकस्थान (एकमार्ग) में हो तो उस समय पात का आरम्भ सब शुभ कर्मों का नाशकारी होता है ॥ १७ ॥ पातकाल की जानकर स्नान, दान, जप, श्राद्ध, व्रतादि कार्य करने में बड़ा कल्याणकारक होता है ॥ १८ ॥ जब विपुवत् के निकट चन्द्रमा और सूर्य की क्रान्ति समान होती है तो उस समय क्रान्ति के अभाव से दो वैधृति और व्यतीपात नामक पात होते हैं और यदि सूर्य और चन्द्रमा की क्रान्ति तुल्य न हो तो दोनों में से कोई भी पात नहीं होता ॥ १९ ॥

शशाङ्कार्कयुतेर्लिप्ता भभोगेन विभाजिता । लब्धं सप्तद-
शान्तोऽन्यो व्यतीपातरतृतीयकः ॥ २० ॥ सार्येन्द्रपौष्ण-
धिष्ण्यानामन्त्याः पादा भसन्धयः । तदग्रभेष्यादपादो

* श्लोक १६, १७, १८ के लिये देखो इसी अध्याय की अन्तिम व्याख्या ॥

गण्डान्तं नाम कीर्त्यते ॥ २१ ॥ व्यतीपातत्रयं चोरं
गण्डान्तत्रितयं तथा । एतद्भस्मित्रितयं सर्वकर्मसु
वर्जयेत् ॥ २२ ॥ इत्येतत्परमं पुण्यं ज्योतिषां चरितं
हितम् । रहस्यं महदाख्यातं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ २३ ॥

* इति पूर्वखण्डम् *

इत्येकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

भाषानुवाद-अथनाथ संस्कृत चन्द्रना और सूर्य की कला को जीहकर
योगफल में ८०० का भाग देवे, भागफल अन्त में होने पर व्यतीपात नाम
तीसरा पात होता है ॥ २० ॥ आश्लेषा, ज्येष्ठा, रेवती, इन तक्षत्रों का चौथा
चरण "भस्मि" होता है । एवं अश्विनी, मघा और मूल इन तक्षत्रों का
पहिला चरण "गण्डान्त" होता है ॥ २१ ॥ तीन व्यतीपात (दो कालिसाम्य
वाले एवं विषुवत् निकट का) तीस गण्डान्त, तीन तक्षत्रसमि, ये सब शुभ
कर्मों से अतिदूषित होने से त्याज्य हैं ॥ २२ ॥ यह परम पवित्र ग्रह तक्ष-
त्रादिकों की गति आदि का गणितरूप ज्ञान परम हितकर रहस्य कहा ।
अथ आगे क्या हुनने की इच्छा है ॥ २३ ॥

* यह पूर्वखण्ड समाप्त हुवा *

विचारण-पात या योग उस को कहते हैं जब चन्द्रना और सूर्य की
गति का योग १३-२० होता है उसने काल से एक "योग" होता है । ये
योग अश्विनी आदि २७ तक्षत्र में २७ योग होते हैं । कलित वाछो ने २७ योगों
के भिन्न २ नाम रख कर उन से शुभाशुभ फल की कल्पना कियी है, उसी
कलित ज्योतिष में अनुसार यहां भी ३ । ४ । ५ । ६ । १७ । १८ और २१
श्लोक किसी ने मिलाये हैं । इस विचार से कि "सूर्यसिद्धान्त" प्राचीन
ग्रन्थ है । इस कारण "योगफल" कहना इस के अनुसार प्रामाणिक होगा ।
अथ हम आर्यभट्ट एवं बराहमिहिरकृत सिद्धान्तग्रन्थ का प्रमाण देते हैं जिस
से स्पष्ट सिद्ध होगा कि उपरोक्त श्लोक अवश्य किसी ने मिलाये हैं—

रविशशिमक्षगणः सन्मिश्राश्च व्यतीपाताः ॥ २ ॥

(आर्यभट्ट काल-क्रिया पाद)

अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा के नक्षत्र भाग का योग जब समान हो तो "व्यतीपात" योग होता है ॥

अकम्प्रे व्यतीपाता युगशे पञ्चाम्बरहुताशीः ॥ ४ ॥

(पञ्चसिद्धान्तिका अ० १२)

अर्थात् जब युगीय गत व्यतीपात योग जानना हो तो अहर्गण को १२ से गुणा कर गुणनफल में ३०५ का भाग दे, भागफल युग के आरम्भ से घीते हुये व्यतीपात की संख्या होगी । इस के अतिरिक्त व्यतीपात जनित शुभाशुभ फल का वर्णन कुछ श्री वरू दोनों प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है । विष्कम्भ, मीति, आयुष्मान्, सौभाग्य, शोभन, अतिगण्ड, शुक्रार्ता, धृति, शूल, गण्ड, वृद्धि, शुभ, व्यापात, हर्षण, यज्ज, सिद्धि, व्यतीपात, वरीयान्, परिघ, शिव, सिद्ध, साध्य, शुभ, शुक्र, ब्रह्मा, बन्ध, वैधृति ये २३ योग हैं ॥

इति भाषानुवादे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥



अथोत्तरखण्डे द्वादशोऽध्यायः

अथाकांशसमुद्भूतं प्रणिपत्य कृताञ्जलिः । भक्त्या पर-
मयाध्यर्च्यपप्रच्छेदं मयासुरः ॥ १ ॥ भगवन्किम्प्रमाणा
भूः किमाकारा किमाश्रया । किंविभागा कथञ्चात्र
सप्त पातालभूमयः ॥ २ ॥ अहोरात्रव्यवस्थां च विदधाति
कथं रविः । कथं पर्येति वसुधां भुवनानि विभावयन्
॥ ३ ॥ देवासुराणामन्योन्यमहोरात्रं विपर्ययात् । कि-
मर्थं तत्कथं वा स्याद्भानोर्भगणपूरणात् ॥ ४ ॥ पित्र्यं मा-
सेन भवति नाडीपष्टया तु मानुषम् । तदेव किल सर्वत्र
न भवेत्केन हेतुना ॥ ५ ॥ दिनाव्दमासहोराणामधिपा
न समाः कुतः । कथं पर्येति भगणः सग्रहोयं किमाश्रयः
॥ ६ ॥ भूमेरुपर्युपर्यूर्ध्वाः किमुत्सेधाः किमन्तराः । ग्रहर्क्ष-
कक्षाः किम्मात्राः स्थिताः केन क्रमेण ताः ॥ ७ ॥ ग्रीष्मे
तीव्रकरोभानुर्न हेमन्ते तथाविधः । कियती तत्करप्रा-
प्तिर्मानानि कति किञ्च तैः ॥ ८ ॥

भाषानुवाद-तदनन्तर भयनालक असुर ने सूर्य के अंश से उत्पन्न पुरुष
को हाथ जोड़, परम भक्ति से प्रणाम कर यह पूछा कि ॥ १ ॥ हे भगवन् ।
इस पृथिवी का परिमाण क्या है (कितनी परिधि, क्या व्यास क्रम) आकार
कैसा है ? (गोख, चिपटी, दर्पणोदराकार इत्यादि) किस के आश्रय से ठहरी
है ? (शेष नाग पर बैल पर इत्यादि) इस के क्या २ विभाग हैं ? (कितने भागों
में बटी है) और किस प्रकार से इस में सातों पाताल की संस्था है ? (७
पाताल किस क्रम से ऊपर नीचे हैं) ॥ २ ॥ सूर्य किस प्रकार से दिन रात्रि

की व्यवस्था करता है २ और इस पृथिवी तथा अन्यान्य भुवनों को प्रकाश करता हुआ कि १ प्रकार अपनी धुरी पर भ्रमण करता है ? ॥ ३ ॥ उत्तर मेरु निवासी और दक्षिण मेरु निवासियों को दिन रात्रि विपर्यय से क्यों होता है ? और क्यों उन का अहोरात्र सूर्य के १२ राशियों में भ्रमण के समान है ? ॥ ४ ॥ चन्द्रलोक निवासी का हमारे एक महीने के बराबर एक अहोरात्र, मनुष्यों का ६० घड़ी का अहोरात्र होता है । इन प्रत्येक के दिन रात्रि एक से क्यों नहीं होते भिन्न २ क्यों हैं ? ॥ ५ ॥ दिन, वर्ष, मास और " होरा " इन के अधिपति भिन्न २ क्यों हैं ? ग्रहगण किस के आश्रय से ठहरे हुये अपने २ भगवों को पूरा करते हैं ? ॥ ६ ॥ पृथिवी से ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा की कक्षाएँ कितनी दूर ऊपर की हैं ? इन में एक कक्षा से दूसरी कक्षा का अन्तर (फासला) क्या है ? परिमाण क्या है ? (परिधि, व्यास आदि) और वे किस प्रकार स्थित हैं ? (पहिले कौन ग्रह, तदनन्तर कौन इत्यादि क्रम) ॥ ७ ॥ ग्रीष्मऋतु में सूर्य की किरणों की प्रखरता, हेमन्त में किरणों की मन्दता, ऐसा क्यों होता है, क्यों नहीं सब ऋतुओं में सूर्य की किरणें समान होतीं ? सूर्य की किरणों की प्रखरता, मन्दता आदि जानने के क्या २ नियम हैं ? और मान (साधन नाक्षत्र आदि अ० १ में जो कहे गये हैं) कितने और वे कौन कौन से हैं, उन प्रत्येक का क्या २ प्रयोजन है ? ॥ ८ ॥

एतं मे संशयं छिधि भगवन्भूतभावन । अन्योन त्वामृते
छेत्ता विदते सर्वदर्शिवान् ॥ ९ ॥ इति भक्त्योदितं श्रुत्वा
मयोक्तं वाक्यमस्य हि । रहस्यं परमाध्यायं ततः प्राह पुनः
स तम् ॥ १० ॥ शृणुष्वैकमना श्रुत्वा गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
प्रवक्ष्याम्यतिभक्तानां नादेयं विदते मम ॥ ११ ॥ वासु-
देवः परंब्रह्म तन्मूर्तिः पुरुषः परः । अव्यक्तो निर्गुणः
शान्तः पञ्चविंशात्परोऽव्ययः ॥ १२ ॥ प्रकृत्यन्तर्गतो
देवो बहिरन्तश्च सर्वगः । सङ्कर्षणोऽयं सृष्ट्यादौ तासु
वीर्यमवावृजत् ॥ १३ ॥ तदण्डमभवद्गैमं सर्वत्र तमसा
वृतम् । तत्रानिरुद्धः प्रथमं व्यक्तीभूतः सनातनः ॥ १४ ॥

भाषानुवाद—हे भगवन् ! आप मेरे पूर्वोक्त सन्देशों को दूर कीजिये । आप ज्योतिष शास्त्र के सद्य विषयों को जानते हैं और आप को सद्य विषय उपस्थित (याद) हैं । इस कारण मेरे लिये आप के अतिरिक्त दूसरा संशय का दूर करने वाला नहीं है ॥ ९ ॥ इस प्रकार भक्ति भाव से कहे हुये महाश्वर के वचनों को सुनकर सूर्यांश पुरुष पुनः १२ वां अध्याय परम रहस्य कहने लगा ॥ १० ॥ अच्छा तो परम रहस्य अध्यात्मज्ञान कहता हूँ एकाग्र चित्त हो सुनो ! ऐसा कोई पदार्थ मेरे पास नहीं जो मैं तुम्हारे सदृश अपने अतिभक्त को न कह सकूँ, वा न देऊँ ॥ ११ ॥ वासुदेव (जिस में सम्पूर्ण ब्रह्माक्षर जगत् निवास करता है) परब्रह्म उस ही का नाशान्तर, परम पुरुष, अव्यक्त, निर्गुण, शाश्वत, अव्यय और २५ प्रकृत्यादि (१ प्रकृति, २ महत्, ३ अहङ्कार, ४ रूप, ५ रस, ६ गन्ध, ७ स्पर्श, ८ शब्द, ९ वाक्, १० पाणि, ११ पाद, १२ गुदा, १३ उपस्थ, १४ नेत्र, १५ जिह्वा, १६ नासिका, १७ त्वचा, १८ कान, १९ मन, २० पृथिवी, २१ जल, २२ तेज, २३ वायु, २४ आकाश, २५ जीव) से मिलित है ॥ १२ ॥ जगत् के उपादानरूप प्रकृति के बाहर और भीतर अर्थात् सर्वत्र व्यापक सङ्कर्षण (संघर्ष) ने सृष्टि की आदि (कल्प की आदि में, क्योंकि सृष्टि तो प्रधाह से अनादि है) पहिले जल का रचा और उस में अपनी शक्ति विशेष का निक्षेप किया ॥ १३ ॥ वह जल शक्ति विशेष में मिलकर अव्यकार से घिरा हुआ सोने के अण्डे की भाँति होगया । उस में प्रथम सनातन अनिरुद्ध (विराट्) प्रकट हुये ॥ १४ ॥

हिरण्यगर्भाभगवानेपच्छन्दसि पठ्यते । आदित्यो ह्यादिभूतत्वात्प्रसूत्या सूर्यउच्यते ॥ १५ ॥ परं ज्योतिस्तमः पारे सूर्यायं सवितेति च । पर्येति भुवनान्येष भावयन्भूतभावनः ॥ १६ ॥ प्रकाशात्मा तमोहन्ता महानित्येष विश्रुतः । ऋचोऽस्य मण्डलं सामान्युक्ता मूर्तिर्यजूंषि च ॥ १७ ॥ त्रयीमयोऽयं भगवान्कालात्मा कालकृद्विभुः । सर्वात्मा सर्वगः सूक्ष्मः सर्वमस्मिन्प्रतिष्ठितम् ॥ १८ ॥

रथे विश्वमये चक्रं कृत्वा संवत्सरात्मकम् । छन्दोस्यश्वाः
सप्त युक्ताः पर्यटत्येव सर्वदा ॥ १९ ॥

श्रायानुवाद-वेद में उक्त परमेश्वर के नाम हिरण्यगर्भं, सृष्टि की आदिमें प्रकट होने से आदित्य और सृष्टि के निमित्त सूक्ष्म अक्षरस्वरूप से स्फूर्ल (वि-राट्स्वरूप) होने के कारण सूर्य कहे गये हैं ॥ ११ ॥ उक्तगुणविशिष्ट अनिरुद्ध ही परम ज्योतिष्मान् सविता अर्थात् समस्त सूर्यादि प्रकाशकों का भी प्रकाशक है और अन्यकार को नाश कर (प्रलयावस्थारूपी अन्यकार) भूतभावन ज्यो-तिःस्वरूप परमात्मा सब भुवनों (ब्रह्माण्डों) में व्यापक हो रहे हैं ॥ १६ ॥ प्रकाशस्वरूप तिमिरनाशक महान् इत्यादि नामों से वह जगदीश्वर प्रसिद्ध है । उस प्रकाशस्वरूप ईश्वर का ऋग्वेद भगवत्स्वरूप है, सामवेद किरण रूप है और यजुर्वेद मानो उस की मूर्ति है, इस प्रकार वेदत्रयात्मक वह भगवान् काल स्वरूप, काल का कर्ता, अग्निमादि गुण युक्त, सर्वात्मा, सर्वग, और सूक्ष्म होने पर भी इस में सब जगत् अवस्थित है ॥ १३ । १८ ॥ यह कालात्मा परमेश्वर, ब्रह्माण्डरूपी रथ पर, चक्ररूपी चक्र द्वारा, वेद के ३ छन्द स्वरूप (गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, सहस्री, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती, ये सात छन्द हैं) घोड़ों को बन्नाकर, निरन्तर व्यापक हो रहा है (सब लोक लोकान्तों को चला रहा है) ॥ १९ ॥

त्रिपादममृतं गुह्यं पादोऽयं प्रकटोऽभवत् । सोऽहंकारं
जगत्सृष्ट्यै ब्रह्माणभसृजत्प्रभुः ॥ २० ॥ तस्मै वेदान्वरान्
दत्त्वा सर्वलोकपितामहम् । प्रतिष्ठाप्याण्डमधोऽथ स्वयं
पर्यति भावयन् ॥ २१ ॥ अथ सृष्ट्यां मनश्चक्रे ब्रह्माहं-
कारमूर्तिभृत् । मनसश्चन्द्रमा जज्ञे सूर्योऽक्ष्णोस्तेजसां
निधिः ॥ २२ ॥ मनसः खंततोवायुरग्निरापोधरा क्रमात् ।
गुणैकवृद्धा पञ्चैव महाभूतानि जज्ञिरे ॥ २३ ॥ १ अग्नी-
पोमौ भानुचन्द्रौ ततस्त्वद्भारकादयः । तेजोभूखाम्यु-
धातेभ्यः क्रमशः पञ्च जज्ञिरे ॥ २४ ॥ पुनर्द्वादशधात्मानं
विभजद्राशिसंज्ञकम् । नक्षत्ररूपिणं भूयः सप्तविंशात्मकं

वशी ॥ २५ ॥ तैतश्चराचरं विश्वं निर्ममे देवपूर्वकम् ।
ऊर्ध्वमध्याधरेभ्योऽथ स्तोतोभ्यः प्रकृतीः सृजन् ॥ २६ ॥ गुण-
कर्मविभागेन सृष्ट्वा प्राग्वदनुक्रमात् । विभागं कल्पया-
मास यथास्वं वेददर्शनात् ॥ २७ ॥

भाषानुवाद-वेदात्मा परमात्मा के तीन पाद सदैव छिपे रहते हैं, चतुर्थ
पाद में ही यह जगत् प्रकट है, उस अनिरुद्ध ने अपना स्थूल स्वरूप, सृष्टि
काल के समय ब्रह्मा नामधारी होकर वेदानुकूल सृष्टि करने के लिये प्रथम
अहङ्कार स्वरूप (ब्रह्मा की) उत्पत्ति की । और स्थूल स्वरूप से वेद के अनु-
कूल सृष्टि करने लगा, और सम्पूर्ण जगत् के रचयिता होने से पितामह
नाम से प्रसिद्ध होकर ब्रह्माण्ड में व्यापक हो रहा है ॥ २७ ॥ २८ ॥ तब अह-
ङ्काररूप ब्रह्मा के मन से चन्द्रमा और चैत्र से तेजोनिधि सूर्य को उत्पन्न
किया ॥ २९ ॥ पुनः मन से आकाश, पुनः वायु, अग्नि, जल और पृथिवी एक
एक गुण की वृद्धिद्वारा पाँचों महाभूतों को उत्पन्न किया ॥ ३० ॥ प्रकाशात्मा
होने से सूर्य अग्नि स्वरूप, चन्द्रमा जलरूप को रच कर पुनः तेज से मङ्गल,
पृथिवी से बुध, आकाश से बृहस्पति, जल से शुक, और वायु से शनि इन
पाँच यही को उत्पन्न किया ॥ ३१ ॥ पुनः वशी (ब्रह्मा) ने अपनी इच्छा से १२
विभागात्मक राशि चक्र और २७ नक्षत्रादिक की सृष्टि की ॥ ३२ ॥ तदनन्तर
उत्तम, मध्यम, निरुद्ध त्रिगुणात्मक क्रम से देव, मनुष्य, असुर और घराचर
विश्व को निर्माण किया ॥ ३३ ॥ पुनः ब्रह्मा ने गुण (सत्, रज, तम) और कर्म
(पूर्य जन्मार्जित) के अनुसार वेदोक्त रीति से सृष्टि करके विभाग किया व
जगत् का विभाग किया ॥ ३४ ॥

ग्रहनक्षत्रताराणां भूमेर्विश्वस्य वा विभुः । देवासुरमनु-
ष्याणां सिद्धानां च यथाक्रमम् ॥ ३५ ॥ ब्रह्माण्डमेत-
त्सुपिरं तत्रेदं भूर्भुवादिकम् । कटाहद्वितयस्येव सम्पुटं
गोलकाकृति ॥ ३६ ॥ ब्रह्माण्डमध्ये परिधिवर्योमकक्ष-
भिधीयते । तन्मध्ये भ्रमणं मानामघोऽधः क्रमशस्तथा

॥ ३० ॥ मन्दामरेज्यभूपुत्रसूर्यशुक्रेन्दुजन्दवः । परिभ्रम-
न्त्यधोऽधस्थाः सिद्धविद्याधरा घनाः ॥ ३१ ॥ मध्ये समन्ता-
दण्डस्य भूगोलोव्योम्नि तिष्ठति । विभ्राणः परमां शक्तिं
ब्रह्मणो धारणात्मिकाम् ॥ ३२ ॥ तदन्तरपुटाः सप्त नागासुर
समाश्रयाः । दिव्यौषधिरसोपेता रम्याः पातालभूमयः ३३

भाषानुवाद—यह, नक्षत्र, तारा, पृथिवी, देव, अमुर, मनुष्य, मित्र इन के
स्थानों का विभाग किया अर्थात् इन प्रत्येक की संस्था की क्रम से विभाग
किया ॥ २८ ॥ पूर्वोक्त ब्रह्माण्ड में भूर्भुवः (भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, जन-
लोक, महर्लोक, सत्यलोक, तपोलोक) लोक अवस्थित हैं । यह ब्रह्माण्ड दो
कटाह जोड़ने से जैसा गोलाकार होता है, इस प्रकार का है अर्थात् गो-
लाकार है ॥ २९ ॥ ब्रह्माण्ड में परिधि का नाम आकाश कहा है । उस में
सब से ऊपर राशि चक्र, उस के नीचे शनि, उस के नीचे शुकस्पति, उस के
नीचे मङ्गल, उस के नीचे सूर्य, उस के नीचे शुक्र, उस के नीचे बुध, उस के
नीचे चन्द्रमा अमण करता है । उस के नीचे सिद्ध विद्याधरगण के घूमने
का मार्ग अन्तरिक्ष है और सब से नीचे नेत्र नण्डल है ॥ ३० । ३१ ॥ ब्रह्म
की धारणात्मिका परमाशक्ति के ऊपर यह भूगोल अण्ड (ब्रह्माण्ड) के बीच,
आकाश में अमण करता हुआ अवस्थित है ॥ ३२ ॥ उस भूगोल के भीतर नाग
और अमुर आदि मनुष्य विशेष के निवास की ७ पाताल है (अतल, वितल,
सुतल, तल, तलातल, रसातल, पाताल) जिन में अनेक प्रकार स्वप्रकाशयुक्त
रमणीक ओषधि हैं ॥ ३३ ॥

अनेकरत्ननिचयी जाम्बूनदमयोगिरिः । भूगोलमध्यगो
मेरुसभयत्र विनिर्गतः ॥ ३४ ॥ उपरिष्ठात्स्थितास्तस्य
सेन्द्रा देवा महर्षयः । अघस्तादसुरास्तद्वहद्विपन्तोऽन्यो-
न्यमाश्रिताः ॥ ३५ ॥ ततः समन्तात्परिधिः क्रमेणायं महा-
र्षवः । मेखलेव स्थितोधात्र्या देवासुरविभागकृत् ॥ ३६ ॥
समन्तान्मेरुमध्यात्तुल्यभागेषु तोयधेः । द्वीपेषु दिक्षु

पूर्वादिनगर्यां देवनिर्मिताः ॥३७॥ भूवृत्तपादे पूर्वस्यां
यमकोटीति विश्रुता । भद्राश्ववर्षे नगरी स्वर्णप्राकार-
तोरणा ॥३८॥ याम्यायां भारते वर्षे लङ्का तस्मिन्महापुरी ।
पश्चिमे केतुमालाख्ये रोमकख्या प्रकीर्तिता ॥ ३९ ॥

तामानुवाद-भूगोल के बीच और दोनों उत्तर दक्षिण से मेरु के बीच
स्वर्णनय नाना प्रकार के रत्नों से भरा हुआ मेरु नामक पर्वत है ॥३४॥ उत्तर
मेरु के पास इन्द्रादि देवता और महर्षिगण वास करते हैं, एवं दक्षिण मेरु
के निकट अक्षरगण अवस्थित हैं । परस्पर को नीचस्थ समझते हुये दूसरी
दिशा में टहरे हुये हैं ॥३५॥ उस दण्डाकार मेरु दक्ष की चारों ओर यह महा
समुद्र है, जो क्रम से भूगोल में मेखला की नाईं प्रवृत्ता ने देवता और अक्षरों
के स्थानों के विभाग करने वाला पदार्थ रचा है । उक्त समुद्र के उत्तर भूगोल
का आधा भाग भारतवर्षरूपी देवभूमि है (आर्यों के रहने का स्थान)
और उक्त समुद्र के दक्षिण भूगोल के आधे भाग में छः द्वीप और छः समुद्र
अक्षरों के रहने का स्थान हैं ॥३६॥ दण्डाकार मेरु के मध्य प्रदेश से घेरा रूप
समुद्र की चारों दिशाओं में समविभागात्मक देवनिर्मित चार पुरी है ॥ ३७ ॥
भूवृत्त (५०५९ योजन) चतुर्थांश परिमाण व्यवधान में पूर्व की ओर भद्राश्व
वर्ष है । उस में यमकोटि नामक पुरी है, जो सोने की भूत और तोरणों
से घेरी हुई है और भूवृत्त के चतुर्थांश योजन परिमाण व्यवधान में दक्षिण
में भारतवर्ष है । उस के मध्य में लङ्का नामक महापुरी है और भूवृत्त के च-
तुर्थांश योजन परिमाण व्यवधान में पश्चिम में केतुमाल वर्ष है । उस में रो-
मक नामक नगरी है ॥ ३९ ॥

उदकसिद्धपुरी नाम कुरुवर्षे प्रकीर्तिता । तस्यां सिद्धा
महात्मानो निवसन्ति गतव्यथाः ॥ ४० ॥ भूवृत्तपादवि-
वरास्ताश्चान्योन्यं प्रतिष्ठिताः । ताम्यश्चोत्तरगो मेरुस्ता-
वानेव सुराश्रयः ॥४१॥ तासामुपरिगोयातिविपुवत्स्थो
दिवाकरः । न तासु विपुवच्छाया नाक्षस्योन्नतिरिष्यते
॥४२॥ मेरोरुमयतो मध्ये ध्रुवतारे नभःस्थिते । निरक्ष-

दशसंस्थानामुभये क्षितिजाश्रये ॥४३॥ अतो नाक्षोच्छ्रय-
स्तासु ध्रुवयोः क्षितिजस्थयोः । नवतिर्लम्बकांशास्तु मेरा-
वक्षांशकास्तथा ॥४४॥ मेपादौ देवभागस्थे देवानां याति
दर्शनम् । असुराणां तुलादौ तु सूर्यस्तद्विभागसञ्चरः ॥४५॥

भाषानुवाद—उत्तरभाग में कुरुवर्ष में सिद्धपुरी नामक नगरी है, वहाँ
सिद्ध महात्मा लोग सब कष्टों से रहित होकर सुखपूर्वक व्रत करते हैं ॥४३॥
पूर्वोक्त नगरी सब परस्पर भूवृत्त के चतुर्थ अंश के योजन परिमित अन्तर पर
अवस्थित हैं। एवं इन नगरियों के समान अन्तर पर उत्तर मेरु है। जहाँ के
निवासियों की देवसत्ता है ॥४४॥ पूर्वोक्त नगरियों के ऊपर जब सूर्य दीखता है
वही विषुवत् वृत्त है। जब सूर्य विषुववृत्तस्थ होता है तो वहाँ विषुवच्छाया
(पल्लभा) और अक्षोक्षिति (अक्षध्रुव की) नहीं होती ॥४२॥ दोनों मेरु
के मध्य आकाश में ध्रुवतारा अवस्थित हैं। निरक्षदेशस्थ (पूर्वोक्त नगर
स्थित) अनुयो की उत्तर और दक्षिण क्षितिज वृत्त में दोनों ध्रुव तारा हैं
॥ ४३ ॥ इस लिये दोनों (ध्रुवतारा) क्षितिज वृत्त में प्रवीक्ष्य (उन्नति)
नहीं है। दोनों ध्रुव क्षितिज वृत्त में हैं। इस कारण वहाँ का लम्बकांश ९०
और मेरु का अक्षांश ९० है ॥४४॥ जब सूर्य मेपादि (मेघ, वृष, मिथुन, कर्कट,
सिंह, कन्या इन छः राशियों की उत्तर गोलार्द्ध संज्ञा है) अर्थात् उत्तरमेरु
प्रदेश में दीपता है तो उत्तर मेरुनिवासियों को छः मास पर्यन्त दृश्य होता
है और जब तुलादि (तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन इन छः राशियों
की दक्षिण गोलार्द्ध संज्ञा है) राशियों में सूर्य दीपता है तो दक्षिण मेरुवा-
सियों की छः मास तक सूर्य दृश्य होता है ॥ ४५ ॥

विवरण—यद्यपि सिद्धान्त ग्रन्थ में भूगोल का विशेष वर्णन करना प्रकरण
विरुद्ध है, तथापि जितने अंश से गणित का अन्वय है उतने का वर्णन क-
रना आवश्यक है। हमारे संस्कृत ग्रन्थों में प्रायः “सप्तद्वीपा वसुमती”
इत्यादि लिखा है। अर्थात् सात द्वीप और नव खण्ड। परन्तु द्वीप शब्द से
लोग “आइसलैण्ड” (Island) समझते हैं, सो ठीक नहीं। क्योंकि यदि हमारे
ग्रन्थियों को द्वीप शब्द से आइसलैण्ड अभिप्रेत होता तो भारतवर्ष की द्वीप में
गणना न करते। इस से द्वीपशब्द से पेनन्सुला (Peninsula) अर्थात् जिसके

दो ओर पानी हो । (द्वयोः आपोऽयस्य) इस से आधुनिक सात विभाग से ढीक मिलता है । दो अमेरिका, युरोप, एशिया, आफ्रिका, ओशिनीआ और आस्ट्रेलिया ये सात विभाग हैं ॥

संस्कृत-१ जम्बूद्वीप, २ यक्षद्वीप, ३ शल्लोद्वीप, ४ कुशद्वीप, ५ कौश्व द्वीप, ६ शाकद्वीप, ७ पुष्करद्वीप । अथ जम्बूद्वीप के नव खण्ड हैं ॥

१ ज्ञाभि धर्म (भारतवर्ष) समुद्र के	४ इलावृत्त धर्म
उत्तर और हिमालय के दक्षिण	५ रम्यक धर्म
समय से भारतवर्ष कहलाया ॥	६ हिरण्यक धर्म
२ किम्पुरुष धर्म	७ कुहवर्ष
३ हरिवर्ष	८ मन्दाश्रवधर्म
	९ केतुनालधर्म

अत्यासन्नतया तेन ग्रीष्मे तीव्रकरा रवेः । देवभागे सु-
राणां तु हेमन्ते मन्दतान्यथा ॥ ४६ ॥ देवासुरा विपुवति
क्षिविजस्थं दिवाकरम् । पश्यन्त्यन्योन्यमेतेषां वामसव्ये
दिनक्षपे ॥ ४७ ॥ मेषादावुदितः सूर्यस्त्रीनां शीनुद-
गुत्तरम् । सञ्चरन्प्रागहर्मध्यं पूरयेन्मेरुवासिनाम् ॥ ४८ ॥
कर्कादीन्सञ्चरन्स्तद्वदहः पश्चार्धमेव सः । तुलादींस्त्रीन्मृ-
गादीश्च तद्वदेव सुरद्विषाम् ॥ ४९ ॥ अतो दिनक्षपे तेषा-
मन्योन्यं हि विपर्ययात् । अहोरात्रप्रमाणं च भानोर्भ-
गणपूरणात् ॥ ५० ॥ दिनक्षपार्धमेतेषामयनान्ते विप-
र्ययात् । उपर्यात्मानमन्योन्यं कल्पयन्ति सुरासुराः ॥ ५१ ॥

भाषानुवाद-इसी कारण (पूर्वोक्त प्रकार सूर्य के उत्तरायण, दक्षिणायन होने से) सूर्य जब ग्रीष्मऋतु में देवभाग में निकटतर (दूसरे की अपेक्षा) होता है तो वहाँ इस की किरणों की प्रसरता से गरमी अधिक होती और उस समय असुरभाग (दक्षिणमेरु) में गरमी की न्यूनता और शीत की वृद्धि होती है । एवं हेमन्त ऋतु में सूर्य देवभाग से दूर और असुरभाग के निकटतर

होता है तो उस समय देवभाग में सूर्य की किरणों की मन्दता और शीत की वृद्धि होती है और असुरभाग में सूर्य की किरणों की प्रखरता और शीत की मन्दता होती है ॥ ४६ ॥ जिस समय सूर्य ध्रुववृत्त रेखा पर होता है उस समय उत्तर मेरुनिवासी एवं दक्षिण मेरुनिवासी सूर्य की क्षितिज रेखा में देखते हैं । इस प्रकार सूर्य के उत्तरायण दक्षिणायन होने के कारण परस्पर देव और असुरों के दिन रात्रि विपर्यय से (अर अक्षस) होते हैं । अर्थात् सूर्य जब उत्तरायण होता है तो देवों का दिन और उस समय असुरों की रात्रि, एवं सूर्य जब दक्षिणायन होता है तो देवों की रात्रि और असुरों का दिन होता है ॥ ४७ ॥ उत्तर मेरुनिवासियों के भाग में जब सूर्य मेष, वृष, मिथुन राशिरुच्य होता है तो इन का पूर्वार्ध दिन (प्रातःकाल से मध्याह्न तक) होता और उस समय असुरों की आधीरात (सायंकाल से आधीरात तक) होती और जब कर्क, सिंह, कन्या इन तीन राशियों में होता है तो देवभाग में अपराह्न (दिन का पिछला आधा) होता और उस समय असुरभाग में पिछली आधीरात (आधी रात से भोर के पहिले तक) होती है । इसी प्रकार जब सूर्य तुला, वृश्चिक, धनु इन तीन राशियों में होता है तो असुरभाग में दिन का पूर्वार्ध और देवभाग में आधीरात होती है और जब सूर्य मकर, कुम्भ, मीन इन तीन राशियों में होता है तो असुरभाग में अपराह्न और देवभाग में पिछली आधी रात होती है ॥ ४८ ॥ पूर्वोक्तकारण से देव और असुरों का परस्पर अहोरात्र (दिन रात) विपर्यय से होता है । सूर्य के भ्रमणकाल का पूरा होना ही इन दोनों का एक अहोरात्र होता है ॥ ५० ॥ सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने के कारण देवता और असुरों का दिवाह्न और रात्र्यह्न विपर्यय से होता है अर्थात् जब देवों का दिवाह्न, तब असुरों की आधीरात एवं जब असुरों का दिवाह्न तब देवों की आधी रात होती है । देव और असुरगण निज २ स्थान को एक दूसरे की अपेक्षा ऊपर समझते हैं, अर्थात् देवगण असुरों को अपने से नीचस्थ और इसी प्रकार असुरगण देवों को अपने से नीचस्थ समझते हैं ॥ ५१ ॥

अन्येऽपि समसूत्रस्था मन्यन्तेऽधः परस्परम् । भद्राश्व-
केतुमालस्था लङ्कासिद्धपुराश्रिताः ॥ ५२ ॥ सर्वत्रैव मही-
गोले स्वस्थानमुपरि स्थितम् । मन्यन्ते स्वे यतो गोलस्त-

स्य क्रीड्यं कृवाप्यधः ॥ ५३ ॥ अल्पकायतया लोकाः
 स्वस्थानात्सर्वतोमुखम् । पश्यन्ति वृत्तामप्येतां चक्रा-
 कारां वसुन्धराम् ॥ ५४ ॥ सव्यं भ्रमति देवानामपसंद्यं
 सुरद्विपाम् । उपरिष्ठाद्भगोलोऽयं व्यक्षे पश्चान्मुखः स-
 दा ॥ ५५ ॥ अतस्तत्र दिनं त्रिंशन्नाडिकं शर्वरी तथा । हानि-
 वृद्धी सदा वामं सुरासुरविभागयोः ॥ ५६ ॥ मेपादौ तु
 सदा वृद्धिरुदगुत्तरतोऽधिका । देवांशे च क्षपाहानिर्वि-
 परीतं तथासुरे ॥ ५७ ॥ तुलादौ क्षुनिशोर्बामं क्षयवृद्धी
 तयोरुभे । देशक्रान्तिवशान्नित्यं तद्विज्ञानं परोदितम् ५८

वृद्धि होती है ॥ ५६ ॥ सूर्य जब मेघादि अर्थात् मेघ, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या इन छः राशियों में उत्तरायण में होता है तो उत्तर मेरुप्रदेश में दिन की वृद्धि और रात्रि की हानि होती है। और उस असुरभाग में इस के विपरीत होता है अर्थात् दिन का ह्रास और रात्रि की वृद्धि होती है। इसी प्रकार जब सूर्य तुलादि अर्थात् तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन इन छः राशियों में होता है तब असुरभाग में दिन की वृद्धि और रात्रि की हानि होती है और देवभाग में दिन की हानि एवं रात्रि की वृद्धि होती है। हय और वृद्धि (दिन+रात्रि की) सूर्य की क्रान्ति के कारण होती है जिस के विषय में अ० २ में कहा जा चुका है ॥ ५७ । ५८ ॥

भूवृत्तं क्रान्तिभागघ्नं भगणांशविभाजितम् । अवाप्त-
योजनैरर्कोव्यक्षाद्यात्युपरिस्थितः ॥ ५९ ॥ परमापक्रमा-
देवं योजनानि विशोधयेत् । भूवृत्तपादाच्छेपाणि या-
नि स्युर्योजनानि तैः ॥ ६० ॥ अयनान्ते विलोमेन देवा-
सुरविभागयोः । नाडीपट्या सकृदहर्निशाप्यस्मिन्सकृ-
त्तथा ॥ ६१ ॥ तदन्तरेऽपि पट्यन्ते क्षयवृद्धौ अहर्नि-
शोः । परतो विपरीतोऽयं भगोलः परिवर्तते ॥ ६२ ॥ ऊने
भूवृत्तपादे तु द्विज्यापक्रमयोजनैः । धनुर्मृगस्थः सविता
देवभागे न दृश्यते ॥ ६३ ॥ तथा चाऽसुरभागे तु मिथुने
कर्कटे स्थितः । नष्टच्छायामहीवृत्तपादे दर्शनमादिशेत् ॥ ६४ ॥

भाषानुवाद-भूवृत्त (५:५९) की सूर्य की क्रान्ति से गुणा कर गुणफल को ३६० से भाग दे, भागफल योजन संख्या निरक्ष देश से उतने योजन दूर स्थित स्थान में सूर्य मध्याह्न के समय मस्तकीपरि होगा ॥ ५९ ॥ सूर्य की परम क्रान्ति (२४ अंश परिमित) के योजन को भूवृत्त (५:५९) के चौथे भागसे घटाने पर शेष योजन सरूपा रहती है। निरक्षदेश से उतने दूर दक्षिण और उत्तरप्रदेश में विपरीत भाग से ६० घड़ी का दिन और रात होता है अर्थात् अयनान्त । जब मकरराशिस्थ सूर्य उत्तरभाग में होता है उस समय देव-

भागमें ६० घड़ी की रात एवं अक्षराभाग में ६० घड़ी का दिन होता है और जब कर्क राशिस्थ सूर्य होता है तब निरक्ष देश से उत्तर उतने योजनान्तरित देश में ६० घड़ी का दिन एवं दक्षिणभाग में ६० घड़ी की रात्रि होती है ॥६०॥
 ६१ ॥ निरक्ष देश में पूर्वोक्त रीति से जितनी दूर उत्तर और दक्षिण प्रदेश में ६० घड़ी में हानि और वृद्धि कही गयी हैं उस के अनुसार वहां दिन रात होते हैं परन्तु निरक्ष के दक्षिण और उत्तर उक्त अवधि से आगे के देशों में यह भूगोल गणित के विरुद्ध धमन करता है इस लिये उस से परे के देशों में दिन रात्रि की ह्रास वृद्धि नहीं कही गई ॥ ६२ ॥ दो राशि की ज्या के कान्ति के अंश को भूवृत्त (५०५९) से घटाये शेष फल योजन निरक्ष देश से उत्तर उतने दूर प्रदेश में धनु और मकर राशि का सूर्य देवी को नहीं दीखता अर्थात् उन की रात्रि रहती और निरक्षदेश से दक्षिण प्रदेश में उक्त योजन दूर पर मिथुन और कर्क राशि का सूर्य अक्षरों को नहीं दीखता अर्थात् उन की रात्रि रहती है । जिस स्थान में एषिवी की छाया नहीं है वहां सूर्य का दर्शन होता अर्थात् दिन होता है और एषिवी के वृत्त के पतुपांश में सदैव सूर्य दर्शन कहना चाहिये ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

एकज्यापक्रमानीतैर्योजनैः परिवर्जितैः । भूमिकक्षा
 चतुर्थांशे व्यक्षाच्छेषैस्तु योजनैः ॥ ६५ ॥ धनुर्मृगालिकु-
 म्भेषु संस्थितोऽर्को न दृश्यते । देवभागोऽसुराणां तु वृषादे-
 भश्चतुष्टये ॥ ६६ ॥ मेरी मेपादिचक्रार्धे देवाः पश्यन्ति
 भास्करम् । सृष्टदेवोदितं तद्वदऽसुराश्च तुलादिगम् ॥६७॥
 भूमण्डलात्पञ्चदशे भागे देवोऽथवासुरे । उपरिष्ठात्
 ब्रजत्यर्कः सौम्ययाम्यायनान्तगः ॥ ६८ ॥ तदन्तराल-
 योश्छाया याम्योदक् सम्भवत्यपि । मेरोरभिमुखं
 याति परतः स्वविभागयोः ॥ ६९ ॥ भद्राश्चोपरिगः कु-
 र्याद् भारते तूदयं रविः । रात्र्यर्धं केतुमाले तु कुरावस्त-
 मयं तदा ॥७०॥ भारतादिषु वर्षेषु तद्वदेव परिभ्रमन् ।
 मध्योदयार्धरात्र्यस्तकालात्कुर्यात्प्रदक्षिणम् ॥ ७१ ॥

भाषानुवाद—एक राशि की व्या के क्रान्ति अंश के योजन से भूवृत्त के चतुर्थांश योजन के घटाने पर शेष योजन संख्या होगी । उत्तरी दूर निरक्ष देश के उत्तर भाग में वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, राशि स्थित सूर्य तत्रत्य लोगों (देवताओं) को नहीं दीखता । और निरक्षदेश से दक्षिणभाग में उतने योजन अन्तर में वृष, मिथुन, कर्क, सिंह राशिस्थ सूर्य अशुरों को नहीं दीखता । और उत्तर मेरु निवासियों को वृष, मिथुन, कर्कट, सिंह इन राशियों में स्थित सूर्य देवों को दीखता है । एवं वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ राशि में अवस्थित सूर्य अशुरों को दीखता है ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ उत्तर मेरु निवासियों को मेघादि (मेघ, वृष, मिथुन, कर्कट, सिंह, कन्या) चक्रार्धगत सूर्य एक घार उदय हुआ छः महीने तक दृश्य होता है और दक्षिण मेरु निवासियों को तुलादि (तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन) अपर चक्रार्धगत सूर्य एक घार उदय हुआ छः मास तक दीखता है ॥ ६७ ॥ निरक्ष देश से भूवृत्त के १५ भाग (अंश) दूर उत्तर प्रदेश में - (उतने योजन परिमित अन्तर पर) उत्तरायण में देवभाग में सूर्य मस्तकोपरि दीखता है और १५ अंश परिमित योजन अन्तर पर दक्षिणायनसूर्य अशुरभाग में मस्तक के ऊपर दीखता है ॥ ६८ ॥ निरक्ष देश से १५ अंश योजन परिमित अन्तर उत्तर और दक्षिण प्रदेश की अभीष्ट कालिक छाया दक्षिण या उत्तर होती है अर्थात् निरक्ष देश से १५ अंश योजन परिमित अन्तर में उत्तर देश में मध्याह्न नतांश दक्षिण रहने पर छाया उत्तर रहती है । नतांश उत्तर रहने पर छाया दक्षिण होती है । इसी प्रकार निरक्ष देश से १५ अंश योजन परिमित अन्तरदेश में सूर्य के उत्तरस्थ होने पर छाया दक्षिण और सूर्य के दक्षिणस्थ होने पर छाया उत्तर होगी और निरक्ष देश से १५ अंश योजन परिमित उत्तर और दक्षिण प्रदेश से भागे उत्तर और दक्षिण मेरु के सम्मुख छाया पड़ती है ॥ ६९ ॥ भारतवर्ष में जब सूर्य मस्तक के ऊपर होता है तो भारतवर्ष में मध्याह्न, केतुमाल में सूर्योदय, कुरुवर्ष में आधीरात और मद्राक्ष्य वर्ष में सायंकाल होता है । जब केतुमालवर्ष में सूर्य मस्तक के ऊपर होता है तो केतुमाल में मध्याह्न, कुरुवर्ष में सूर्योदय, मद्राक्ष्य वर्ष में आधी रात और भारतवर्ष में सायंकाल होता है और जब कुरुवर्ष में सूर्य मस्तक के ऊपर होता है तो कुरुवर्ष में मध्याह्न, मद्राक्ष्यवर्ष में सूर्योदय, भारतवर्ष में आधी रात और केतुमाल वर्ष में सूर्यास्त

और शुक्र मध्य की कक्षा ४३३१५०० योजन है अर्थात् इन तीनों की कक्षा का परिमाण एक ही है ॥८६॥ मङ्गल की कक्षा ८१४२८०८ योजन, चन्द्रोच्च की कक्षा ३८३१८४८४ योजन है ॥८७॥ बृहस्पति की कक्षा ११३३५१६१ योजन, चन्द्रमा के पात (राहु) की कक्षा ८०५७१८६४ योजन है ॥८८॥ शनि की कक्षा १२७२६८२५५ योजन । भवक्षा २५८२८००१२ योजन है ॥ ८९ ॥ ब्रह्माण्ड की कक्षा १८७१२०८०८६४००००० योजन है, इन का मध्य सूर्य की किरणों का विस्तार है ॥ ८७ ॥

विवरण—आकाश कक्षा जो लिखी है यह वास्तविक आकाश कक्षा नहीं, किन्तु यह कक्षा जानने के लिये आकाशकक्षा मान कर एक प्रकार की सख्या मान ली गई है । भास्कराचार्य ने भी ऐसा ही लिखा है -

ब्रह्माण्डमेतन्मितमस्तु नो वा कल्पे ग्रहः क्रामति योजनानि । यावन्ति पूर्वैरिह तत्प्रमाणं प्रोक्तं खकक्षाख्यमिदं मतं नः ॥ ३ ॥ (सि० शि० कक्षाध्याय)

अर्थात्—ब्रह्माण्ड की इतनी ही कक्षा है, यह ठीक नहीं । परन्तु पूर्वाचार्यों ने इस सख्या से ब्रह्मादि कक्षा का परिमाण निश्चय किया है । पुन -

“कोटिघ्नैर्नखनन्दपट्कनखभू भूभृद्भुजङ्गेन्दुभिर्ज्योतिः
शास्त्रविदो वदन्ति नभसः कक्षामिमां योजनैः ।
तद्ब्रह्माण्डकटाहसम्पुटतटे केचिज्जगुर्वेष्टनं, केचित्
प्रोचुरदृश्यदृश्यकगिरिं पौराणिकाः सूरयः ॥ ६७ ॥

अर्थात्—ज्योतिषशास्त्रवित् पण्डितगण कहते हैं कि आकाश की कक्षा की योजन सख्या १८७१२०८०८६४००००००० । इस को कोई २ ब्रह्माण्ड कटाह के सम्पुटस्थ वेष्टन समझते हैं । एवं किसी २ पौराणिक का अनुमान है कि यह लोफालोक पर्वत का वेष्टन (चेंरा) मात्र है ॥ ६७ ॥

इति भाषानुवादे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अथ गुप्ते शुचौ देशे स्नातः शुचिरलङ्कृतः । सम्पूज्य
भास्करं भक्त्या ग्रहान्भान्यथ गुह्यकान् ॥ १ ॥ पारम्प-
र्योपदेशेन यथाज्ञानं गुरोर्मुखात् । आचार्यः शिष्यवो-
धार्यं सर्वं प्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ २ ॥ भूभगोलस्य रचनां कुर्या-
दाश्चर्यकारिणीम् । अभीष्टं पृथिवीगोलं कारयित्वा तु
दारवम् ॥ ३ ॥ दण्डं तन्नध्यगं मेरोरुभयत्र विनिर्ग-
तम् । आधारकक्षाद्वितयं कक्षा वैपुवती तथा ॥ ४ ॥ भग-
णांशाङ्गुलैः कार्यादलितैस्तिष्ठ एव ताः । स्वाहोरात्रार्धक-
र्णैश्च तत्प्रमाणानुमानतः ॥ ५ ॥ क्रान्तिविक्षेपभागैश्च
दलितैर्दक्षिणोत्तरैः । स्वैः स्वैरपक्रमैस्तिष्ठो मेपादीनामप
क्रमात् ॥ ६ ॥ कक्षाः प्रकल्पयेत्ताश्च कर्कादीनां विपर्ययात् ।
तद्वृत्तिस्तुलादीनां मृगादीनां विलोमतः ॥ ७ ॥

भाषानुवाद-एकान्त पवित्र (साक) स्थान में स्नानादि नित्यक्रिया कर
शुद्धम होकर आचार्य (सूर्याश्वपुरुष) वखादिक पहनकर नूप्य और ग्रहाधि-
ष्ठित नारायण की प्रणाम कर, शिष्य (नयासुर) की मुगमतया धोष के लिये
प्रत्यक्ष करके जिस प्रकार गुरुमुख से एवं परंपरा से ज्ञान प्राप्त किया था, ज्योतिष के
सब विषयों को मय को दिखलाया ॥ १ । २ ॥ शिष्य को ज़लीजांति भूगोल
एवं भगोल विषयक (पूर्वोक्त) ज्ञान हो । गणक को चाहिये कि किसी गोल
विद्यावित् शिल्पज्ञ से अभीष्ट काठ का आश्चर्यकारी भूगोल और जगोल बन-
वाये, उस भूगोल में दोनों ओर (दक्षिण उत्तर) निकला हुआ मेरु दण्ड
आधार की दो कक्षा और दो विपुवद्वृत्त की कक्षा बनाये ॥ ३ । ४ ॥ स्वाहो-
रात्रार्द्ध फेरे परिमाण से व्यास विविष्ट तीन वृत्तों को रेंचे और प्रत्येक वृत्त

मे तीनसीघाट २ भाग चिह्न करे, कान्ति विक्षेपाथ अङ्कित दक्षिणोत्तर रेखा मे मेपादि के अपक्रम के अनुसार अपक्रमाश में उक्त तीनों वृत्तों की संयोग करावे, वे ही विपरीत भाग (यरअवस) से कर्कादि की कक्षा होंगी । उसी प्रकार दक्षिण ओर भी तुलादि की तीन कक्षाओं की संयुक्त करे, वे ही विलोम (उल्टे क्रम) से मकरादि की कक्षा होंगी ॥ ५ । ६ । ७ ॥

याम्यगोलाश्रिताः कार्याः कक्षाधारादुद्वयोरपि । याम्यो-
दगोलसंस्थानां भानामभिजितस्तथा ॥ ८ ॥ सप्तर्षीणा-
मगस्त्यस्य ब्रह्मादीनां च कल्पयेत् । मध्ये विपुवती कक्षा
सर्वेषामेव संस्थिता ॥ ९ ॥ तदाधारयुतेरूर्ध्वमयने वि-
पुवद्वयम् । विपुवत्स्थानतो भागैः स्फुटैर्भगणसञ्चरात् ॥ १० ॥
क्षेत्राण्येवमजादीनां तिर्यग्ज्याभिः प्रकल्पयेत् । अय-
नादयनं चैव कक्षा तिर्यक् तथापरा । क्रान्तिसंज्ञां त-
था सूर्यः सदा पर्येति भासयन् ॥ ११ ॥ चन्द्राद्व्याश्रयकैः
पातैरपमण्डलमाश्रितैः । ततोऽपकृष्टादृश्यन्ते विक्षेपा-
न्तेष्वपक्रमात् ॥ १२ ॥ उदयक्षितिजं लग्नमस्तं गच्छञ्च त-
द्वशात् । लङ्कोदयैर्यथा सिद्धं खमध्योपरि मध्यमम् ॥ १३ ॥

भाषानुवाद—उत्तर, दक्षिण गोलस्थित, अभिजित आदि नक्षत्रगण की कक्षा सब की आधारकक्षा के ऊपर संयुक्त करे । इसी प्रकार सप्तर्षि, अगस्त्य, ब्रह्मरूप्यादि की कक्षा होंगी । सब के बीच के भाग में विपुवती कक्षा रहेगी ॥ ८ । ९ ॥ विपुवती और आधार कक्षा के संयोगस्थान से ऊपर के प्रदेश में दो अयन और दो विपुव का चिह्न करे, उस के बाद विपुव रेखा से राशि अन्तर में मेपादि १२ क्षेत्र तिर्यङ्गनिरूपण करे । एक अयन से दूसरा अयन गत तिर्यङ्ग कक्षा को "कान्तिकक्षा" कहते हैं । इसी कक्षा में सूर्य भ्रमण करते दीखता है । चन्द्रादि अपने पात से आकृष्ट होकर अन्य वृत्त में भ्रमण करता है । उसी प्रकार आकृष्ट होकर अपने अपक्रम से विक्षेपान्त में दृश्य होता है । उदय क्षितिजवृत्त में उन के अश ही उदय लग्न है । एव अस्त में अस्त लग्न है ॥ १०—१३ ॥

मध्यक्षितिजयोर्मध्ये या ज्यां सान्तर्यामिधीयते । ज्ञेया
चरदलज्या च विपुवर्त्क्षितिजान्तरम् ॥ १४ ॥ कृत्वोपरि
स्वक स्थानं मध्ये क्षितिजमण्डलम् ॥ १५ ॥ वस्त्रच्छन्नं
बहिःश्रापि लोकालोकेन वेष्टितम् । अमृतसावयोगेन
कालभ्रमणसाधनम् ॥ १६ ॥ तुङ्गवीजसमायुक्तं गोलय-
न्त्रं प्रसाधयेत् । गोप्यमेतत्प्रकाशोक्तं सर्वगम्यं भवेदिह
॥ १७ ॥ तस्माद्गुरूपदेशेन रचयेद्गोलमुत्तमम् । युगेयुगे
समुच्छिन्ना रचनेयं विवस्वतः ॥ १८ ॥ प्रसादात्कस्यचि-
द्भूयः प्रादुर्भवति कामतः । कालसंसाधनार्थाय तथा
यन्त्राणि साधयेत् । एकाकी योजयेद्गुर्वीजं यन्त्रे विस्मय-
कारिणि ॥ १९ ॥

भाषानुवाद-मध्य और क्षितिज के मध्य में जो ज्या है वही "अन्त्या"
है । विपुवर्त् और क्षितिज के अन्तर को "चरदलज्या" कहते हैं ॥ १४ ॥ काष्ठ
के घनाये हुये लकड़ों में अपने स्थान को सब से ऊपर के मध्य में क्षि-
तिज मण्डल स्थिर करे ॥ १५ ॥ दृष्टान्त गोल के क्षितिज के बाहर वस्त्र से
ढक कर वस्त्र के ऊपर घूर्त्तों को अङ्कन करके जलप्रवाह से कालसाधन करे
॥ १६ ॥ गणक को चाहिये किं पारे के साथ गोलयन्त्र को सिद्ध करे जिस में
६० नाक्षत्रिक घटिकाओं में दृष्टान्त गोल भ्रमण करजावे । यह विषय विषय
भली भाँति प्रत्यक्षतया दिखलाने और स्पष्टतया कहने से तो सब को
समझ में आवेगा ॥ १७ ॥ इस लिये गुरु के उपदेश से गणक उत्तम गोल बनावे ।
यह (सावित्रविद्या) युग २ में लुप्तप्राय हो जाती है, परन्तु ईश्वर की कृपा
से पुनः किन्हीं ऋषिद्वारा प्रकट होती है ॥ १८ ॥ कालसाधन के लिये स्वयं
इस यन्त्र के अतिरिक्त अन्योन्य यन्त्र भी अच्छे शिल्पज्ञ द्वारा बनवावे और
केवल एक पारा आश्चर्यकारी यन्त्रों में मिलवावे ॥ १९ ॥

शङ्खयष्टिधनुश्चक्रैश्छायायन्त्रैरनेकधा । गुरूपदेशाद्विज्ञेयं
कालज्ञानमृतन्द्रितैः ॥ २० ॥ तोययन्त्रकपालादौर्मयूर-

नरवानरैः। ससूत्ररेणुगर्भैश्च सम्यक्कालं प्रसाधयेत्॥२१॥
 पारदाराम्बुसूत्राणि शुल्बतैलजलानि च। बीजानि पांस-
 वस्तेषु प्रयोगास्तेऽपि दुर्लभाः ॥ २२ ॥ तास्रपात्रमध-
 शिच्छिद्रं न्यस्तं कुन्देऽमलाम्भसि । पट्टिर्मज्जत्यहोरात्रे
 स्फुटं यन्त्रं कपालकम् ॥२३॥ नरयन्त्रं तथा साधु दिवा
 च विमले रवौ । छायासंसाधनैः प्रोक्तं कालसाधनमुत्त-
 मम् ॥ २४ ॥ ग्रहनक्षत्रचरितं ज्ञात्वा गोलं च तत्त्वतः ।
 ग्रहलोकमवाप्नोति पर्यायेणात्मवान्नरः ॥ २५ ॥

इति ज्योतिषोपनिषदध्यायस्त्रयोदशः ॥ १३ ॥

भाषानुवाद-निष्कपट तथा चमरहित गुरु के उपदेश से गणक को या-
 हिये कि शङ्ख, घट्टि, धनु, चक्र और अनेक प्रकार के छायायन्त्र द्वारा काल-
 साधन करे अर्थात् कालज्ञान करे ॥ २० ॥ कपालादि जलयन्त्र, सपूर नामक
 स्वयंबह यन्त्र, शङ्खनामक नर या छायायन्त्र, या नरनामक स्वयंबह यन्त्र
 बनावे और सपूरनामक स्वयंबह यन्त्र में इस प्रकार निपुणता से बालु भरे
 जिस में कम २ से ६० घड़ी में सब बालु गिरजाये ॥२१॥ पूर्वोक्त यन्त्र तथा पारे
 से मिलाहुवा जलयन्त्र, मूत्र, शिल्प को निपुणता, तेल मिलाहुवा जल, पारा,
 बालू इन सब का प्रयोग करना (सर्वसाधारण के लिये) बहुत कठिन है ॥२२॥
 निर्मल जल भरे हुये माटी के घड़े में एक तामे का बना हुवा कटोरा जिस
 में नीचे छेद हो, रखे, यह कपालकनामक यन्त्र अहोरात्र में साठ बार जल में
 डूबेगा ॥ २३ ॥ दिन में जब बादलरहित आकाश स्वच्छ हो उस समय सूर्य
 के आतप में छायाद्वारा काल जानने के लिये नरयन्त्र (१२ अंगुल) साधन
 करे ॥ २४ ॥ ग्रह नक्षत्रादि चरित (स्थित्यादि) भूगोल और खगोल को भली
 भाँति जानकर मनुष्य यहादि लोको को यथावत् जानलेता है और आत्म-
 ज्ञानी होजाता है (जिस से मोक्ष होता है) ॥ २५ ॥

इति भाषानुवादे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

ब्राह्मं दिव्यं तथा पित्र्यं प्राजापत्यं गुरोस्तथा । सौर-
ज्ज सावनञ्चान्द्रमार्क्षं मानानि वै नव ॥ १ ॥ चतुर्भिर्व्य-
वहारोऽत्र सौरचान्द्रर्क्षसावनैः । बार्हस्पत्येन पृथ्व्य-
ज्ञेयं नान्यैस्तु नित्यशः ॥ २ ॥ सौरेण द्युनिशोर्मानं पड-
शीतिमुखानि च । अयनं विषुवच्चैव संक्रान्तेः पुण्यका-
लता ॥ ३ ॥ तुलादिपडशीत्यक्षां पडशीतिमुखं क्रमात् ।
तच्चतुष्टयमेव स्याद् द्विस्वभावेषु राशिषु ॥ ४ ॥ पड्विंशे
धनुषो भागे द्वाविंशे निमिषस्य च । मिथुनाष्टादशे भागे
कन्यायास्तु चतुर्दश ॥ ५ ॥ ततः शेषाणि कन्याया या-
न्यहानि तु षोडश । क्रतुभिस्तानि तुल्यानि पितृणां
दत्तमक्षयम् ॥ ६ ॥

आयानुवाद-कालमान नी प्रकार के हैं-ब्राह्म, दैव, पित्र्य, प्राजापत्य,
बार्हस्पत्य, सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र मान हैं ॥ १ ॥ उन में से लोक में
प्रायः चार मानों का नित्य प्रयोजन पड़ता है, ये ये हैं-सौर, चान्द्र, नाक्षत्रिक
और नायन । ६० वर्ष के ज्ञान के लिये बृहस्पतिमान का प्रयोजन होता है ।
एवं शेष ब्राह्म, दैव, पित्र्य, प्राजापत्य इन का प्रयोजन नित्य नहीं होता, परन्तु
कभी २ होता है ॥ २ ॥ अहोरात्र का परिमाण, यहशीति मुख आदि, (सं-
क्रान्ति विशेष) अयन, (उत्तरायण, दक्षिणायन) विषुवत् और संक्रान्ति की
पुण्यकालता ये सब सौरमान से निर्णीत होते हैं ॥ ३ ॥ तुलादि राशि के
आश्रय से ८६ सौर दिन में यहशीति मुख नाम की संक्रान्ति होती है यह
क्रम से चार द्विसप्तत्य वाली राशियों में होती है ॥ ४ ॥ प्रथम यहशीति मुख
धनु राशि के २६ अंश में, दूसरा मीनराशि के २२ अंश में, तीसरा मिथुनराशि
के १८ अंश में, चौथा कन्याराशि के १४ अंश में होता है ॥ ५ ॥ कन्याराशि के
अवशिष्ट १६ अंश (अर्थात् १४ अंश तो यहशीतिमुख शेष १६ अंश) यज्ञकार्य
के लिये अच्छा है, इस समय पितृगण के लिये दिया हुआ अक्षय होता है ॥ ६ ॥

विवरण-सं० ६ इस समय के ज्ञान की प्रशंसापरक वचन की उपयोगिता
समझ में नहीं आती कि क्यों ऐसा लिखा है और न यह सिद्धान्त व्यर्थ
का विषय है । पञ्चसिद्धान्तिका की टीका में भी महामहोपाध्याय य० मुधाकर

वि, वेदी जो इसी विषय पर लिखते हैं कि "तुला आदिर्यस्याः सा तुलादि कन्या नस्या पृथशीतिमुखेषु ये दिवसा योऽहश्चावशेषाः सन्ति ते पितृदिवसास्तत्र पि-
णा दक्षमक्षय स्यादित्यत्र प्राचीनवचनान्येव प्रमाणानीति" अर्थात् उक्त पितृ-
दिवस में दान देने से अक्षय होता है इस की कोई उत्पत्ति नहीं इस में प्राचीन वचन ही प्रमाण हैं ॥

भचक्रनाभौ विषुवद्वितीयसमसूत्रगम् । अयनद्वितयं चैव
चतस्रः प्रथितास्तु ताः ॥ ७ ॥ तदन्तरेषु संक्रान्तिद्वितयं
द्वितयं पुनः । नैरन्तर्यास्तु संक्रान्तेर्ज्ञेयं विष्णुपदीद्वयम्
॥ ८ ॥ भानोर्मकरसंक्रान्तेः पण्मासा उत्तरायणम् । क-
र्कादेस्तु तथैव स्यात्पण्मासा दक्षिणायनम् ॥ ९ ॥ द्वि-
राशिनाथाऋतवस्ततोऽपि शिशिरादयः । मेषादयो द्वा-
दशैते मासास्तैरेव वत्सरः ॥ १० ॥ अर्कमानकलाः पण्ठ्या
गुणिताभुक्तिभाजिताः । तदर्धनाढ्यः संक्रान्तेरर्वाक्प-
र्यं तथापरे ॥ ११ ॥ अर्काद्विनिःसृतः प्राचीं यद्वात्य-
हरह शशी । तच्चान्द्रमानमंशैस्तु ज्ञेया द्वादशभिस्तिथिः ॥

भाषानुवाद-नक्षत्रचक्र की नाभि (बीज) में दो विषुवत् (मेघ और तुला) वि-दु (पिंड) सप्तसूत्रग (बराबर) हैं और उसी प्रकार दो अयन (मकर अयनान्त फकट अयनान्त) भी हैं। ये चार बिन्दु सदा प्रसिद्ध हैं ॥ ७ ॥ पूर्वोक्त दोनों विषुव अयन में निरन्तर दो संक्रान्ति होती हैं और जो चार संक्रान्ति उन के पीछे होती हैं उन को विष्णुपदी कहते हैं ॥ ८ ॥ (शेष संक्रान्ति का नाम पृथशीति है) सूर्य के मकर (मकर, कुम्भ, मीन, मेष, वृष, मिथुन ये छ राशि) संक्रान्ति के पीछे छ मीन मास की उत्तरायण सञ्ज्ञा है और फल्ट की संक्रान्ति (फल्ट सिद्ध कन्या, तुला, श्रद्धिक, धन, छ राशि) के पीछे छ मीनमास की दक्षिणायन सञ्ज्ञा है ॥ ९ ॥ मकर संक्रान्ति के पीछे सूर्य के दो राशि भग काल की शिशिराऋतुसञ्ज्ञा होती है और इस प्रकार १२ महीनों का वष होता है ॥ १० ॥ सूर्यमन्थमान की कला की ६० में गुणा कर गुणन फल में सूर्य की दैनिकभुक्ति से भाग देते भागफल कलादि का आधार परिमित समय संक्रान्तिकाल में घटाने या जोड़ने से जो वियोगफल और योगफल रूप में समय होगा उस का अन्तर (भूधर) अतिपुण्यप्रद होता है ॥ ११ ॥ सूर्य का साध जोड़ कर प्रतिदिन चन्द्रमा पूर्वदिशा में जाता है, उष

के लिये सूर्य से ११ अंश जाने की जितना समय लगता है उतने समय की एक तिथि सप्ता है ॥ १२ ॥

तिथिः करणमुद्राहः क्षौरं सर्वक्रियास्तथा । व्रतोपवासयात्राणां क्रिया चान्द्रेण गृह्यते ॥१३॥ त्रिंशता तिथिभिर्मासश्चान्द्रः पित्र्यमहः स्मृतम् । निशा च मासपक्षान्तौ तयोर्मध्ये विभागतः ॥१४॥ भचक्रभ्रमणं नित्यं नाक्षत्रं दिनमुच्यते । नक्षत्रनाम्ना मासास्तु ज्ञेयाः पर्यान्तयोगतः ॥ १५ ॥ कार्तिक्यादिषु संयोगे कृत्तिकादिद्वयं द्वयम् । अन्त्योपान्त्यौ पञ्चमश्च त्रिधा मासत्रयं स्मृतम् ॥ १६ ॥ वैशाखादिषु कृष्णे च योगः पञ्चदशे तिथौ । कार्तिकादीनि वर्षाणि गुरोरस्तोदयात्तथा ॥१७॥ उदयादुदयं भानोः सावनं तत्प्रकीर्तितम् । सावनानि स्युरेतेन यज्ञकालविधिस्तु तैः ॥ १८ ॥

भाषानुवाद—तिथि, करण (अ० २ देखो) विवाह क्षौरादि (चील कर्मे) व्रत, उपवास (किसी यज्ञ या वैदिक संस्कार तिमित) यात्रा (कहीं जाना, उस की तारीख मालूम करना) ये सब चान्द्रमान द्वारा निर्धारित किये जाते हैं ॥१३॥ १० चान्द्र दिन का एक चान्द्रमास होता है । एवं इसी की पित्र्य अहीरात्र भी कहते हैं । चान्द्रमास दो प्रकार का होता है । एक अमायास्या से अमायास्या तक । दूसरा पूर्णमासी से पूर्णमासी तक । पहिले को अमान्त और दूसरे को पूर्णिमान्त चान्द्रमास कहते हैं । चान्द्रमास से १५ दिन का पित्र्य दिन और १५ दिन की पित्र्य रात्रि होती है ॥ १४ ॥ वैदिक मन्त्रब्रह्म के समयाकाल का नाक्षत्रिक अहीरात्र होता है, और पूर्णमासी के अन्त में जो मन्त्र होता है उसी के नाम से महीने का नाम होता है ॥१५॥ कार्तिकादि मास की पूर्णमासी से दो २ त्रयत्रो में एक एक मास होता है, परन्तु आश्विन, आद्रपद और फाल्गुन इन तीन मासों में तीन २ नखव होते हैं ॥१६॥ जिस प्रकार वैशाखादि मास में पूर्णमासी की तिथि के तक्षत्र के नामसे महीने का नाम होता है, उसी प्रकार वृहस्पति के अस्त और उदय समय कृष्णपक्ष की अमायास्या तिथि के नक्षत्र के नाम से वर्ष का नाम होता है ॥ १७ ॥ एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक के मध्यवर्ती काल को 'सावन' दिन कहते हैं । इसी सावन मान से यज्ञकाल विधि निर्धारित होता है ॥ १८ ॥

सूतकादिपरिच्छेदो दिनमासाव्दपास्तथा । मध्यमा
ग्रहभुक्तिस्तु सावनेनैव गृह्यते ॥१९॥ सुरासुराणामन्योन्य-
महोरात्रं विपर्ययात् । यत्प्रोक्तं तद्वभवेद्विव्यं भानोर्भ-
गणपूरणात् ॥ २० ॥ मन्वन्तरव्यवस्था च प्राजापत्यमु-
दाहृतम् । न तत्र द्युनिशोर्भेदो ब्राह्मं कल्पः प्रकीर्त्ति-
तम् ॥ २१ ॥ एतत्ते परमाख्यातं रहस्यं परमाद्भुतम् ।
ब्रह्मैतत्परमं पुण्यं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ २२ ॥ दिव्यं
चार्क्षं ग्रहाणां च दर्शितं ज्ञानमुत्तमम् । विज्ञायार्कादि-
लोकेषु स्थानं प्राप्नोति शाश्वतम् ॥ २३ ॥

भाषानुवाद-सूतक (जन्म मरण सम्बन्धी) आदि (वैद्यकशास्त्र द्वारा
रोगियों को उपवास कराने की, विधि चान्द्रायण ग्रत) आशीष, दिन, मास
और वर्ष के अधिपति (अ० २ देखो) यहाँ की दैनिक वा धार्मिक गति इन
सब का गणित सावममान से होता है ॥१९॥ उत्तर मेरु निवासी और दक्षिण
मेरु निवासियों का अहोरात्र विपरीतभाव से होता है (देखो अ० १२) और सूर्यके
भगण(१२राशि)पूर्ण कालकाही दिव्यदिनहोताहै॥२०॥ मन्वन्तरकीव्यवस्था पहिले
कही जा चुकीहै(देखोअ०१)वही "प्राजापत्यमान" है इस में अन्यान्यमान की तरह
दिनरात्रि का भेद नहीं और कल्पही "ब्राह्म मान" है॥२१॥ हे भग । यह परम
रहस्य ज्योतिष शास्त्र मेने कहा । खगोल विद्या होने से अन्यान्य विद्याओं
से यह अद्भुत है । ज्योतिषसम्बन्धी अविद्यारूपी पापों का नाश करने वाला
अतिपवित्र है, मानो ब्रह्म ही है । (सृष्टिसम्बन्धी यथावत् ज्ञान होने से
ब्रह्म की प्राप्ति होती है)॥२२॥ यह और नक्षत्रादिक आकाशस्थ पदार्थसम्बन्धी
उत्तम ज्ञान मैंने तुम से कहा है । उस का यथावत् जानने से अमृतम सुख
प्राप्त होता है । एवं ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है॥२३॥

यहाँ २३ वें से आगे निम्नलिखित २१ श्लोक किसी २ पुस्तक में पाये जाते
हैं, जिन को रङ्गनाथ टीकाकार ने लिखा है कि ये श्लोक किसी श्रुत ने प्रक्षिप्त
किये हैं । इन भी भूलनात्र धार्ये देते हैं । यथा-

“यथा शिक्षा मयूराणां नागानां मणयो यथा । तद्वदेवाङ्ग-
शास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम् ॥ १ ॥ न वेयं तत् कृतमप्य

वेदविप्लायकाय च । अर्थलुब्धाय मूर्खाय साहड्काराय पापिने
 ॥ २ ॥ एवंविधाय पुत्रायाप्यदेयं सहजाय च । दत्तन वेदमार्गस्य
 समुच्छेदः कृतो भवेत् ॥ ३ ॥ व्रजतामन्धतामिस्रं गुरुशिष्यौ
 सुदारुणम् । ततः शान्ताय शुचये ब्राह्मणायैव दापयेत् ॥ ४ ॥
 चक्रानुपातजो मध्यो मध्यवृत्तांशजः स्फुटः । कालेन दृक्समो
 न स्यात् ततो बीजक्रियाञ्च्यते ॥ ५ ॥ राश्यादिरिन्दुरङ्गुलं भक्तो
 नक्षत्ररक्षया । शेषं नक्षत्ररक्षायास्त्यजेच्छेषकयोस्तयोः ॥ ६ ॥
 यदल्पं तद्भजेद्भानां कक्षया तिथिनिघ्नया । बीजं भागादिकं तत्
 स्यात् कारयेत् तद्धनं न्वौ ॥ ७ ॥ त्रिगुणं शोभयेदिन्दौ जिनघ्नं
 भूमिजे क्षिपेत् । दृग्यमग्रामृणं जोज्जे खरामघ्नं गुरावृणम् ॥ ८ ॥
 ऋणं ऋषोमनवघ्नं स्याद्दानवेज्याचलोञ्चके । धनं सप्ताहतं मन्दे
 परिधीनामथोच्यते ॥ ९ ॥ युग्मान्तोक्ताः परिधयो चे ते नित्यं
 परिस्फुटाः । भोजान्तोक्तास्तु ते ज्ञेयाः परधीजेन संस्कृताः ॥ १० ॥
 यत्किमिर्बीजकानोजपदान्ते वृत्तभागकान् । सूर्येन्दोर्मनवो वन्ता
 धृतितत्त्वकलोनिताः ॥ ११ ॥ चाणतर्का महीजस्य सौम्यस्या-
 चलाबाहवः । चाक्पतेरष्टनेत्राणि व्योमशीतांशवोभृगोः ॥ १२ ॥
 शूयर्तवोऽर्कपुत्रस्य बीजमेतेषु कारयेत् । बीजं खान्युद्धृतं शोध्यं
 परिध्यंशेषु भास्यतः ॥ १३ ॥ इनाप्तं योजयदिन्दोः कुजस्याश्वहतं
 क्षिपेत् । विदश्चन्द्रहतं वाज्यं सूररिन्द्रहतं धनम् ॥ १४ ॥ धनं
 भृगांभुवा निघ्नं रविघ्नं शाधयेच्छनः । एवं मान्दाः परिध्यंशाः स्फुटाः
 स्युर्वक्षि शोघ्रकान् ॥ १५ ॥ भौमस्याश्वगुणाक्षीणि बुधस्याब्धि-
 गुणेन्दवः । चाणाक्षा देवपूज्यस्य भार्गवस्यन्दुपट्यमाः ॥ १६ ॥
 शनैश्चन्द्राज्ययः शोघ्रा भोजान्ते बीजवर्जिताः । हिघ्नं स्वं कुज-
 भागेषु बीजं हिघ्नमृणं विदः ॥ १७ ॥ अत्यष्टिघ्नं धनं सूररिन्दुघ्नं

शोभयेत् कवेः । चन्द्रमृणमार्कस्य स्युरेभिर्दृक्स्तथा ग्रहाः ॥१८॥
 एतद्बीजं मया ख्यातं प्रीत्या परमया तव । गोपनीयमिदं नित्यं
 नोपदेश्यं यतस्ततः ॥ १९ ॥ परीक्षिताय शिष्याय गुरुभक्त्या
 साधवे । देयं विप्राय नान्यस्मै प्रतिकुचुककारिणे ॥ २० ॥
 बीजं निःशेषतिष्ठान्तरहस्यं परमं स्फुटम् । यात्रापाणिग्रहादीनां
 कार्याणां शुभतिद्धिदम् ॥ २१ ॥

इत्युक्त्वा मयमामन्त्र्य सम्यक् तेनाभिपूजितः । दिवमा-
 चक्रमेऽर्कांशःप्रविवेश स्वमण्डलम् ॥ २४ ॥ मयोऽथ दिव्यं
 तज्ज्ञानं ज्ञात्वा साक्षाद्विवस्वतः । कृतकृत्यमिवात्मानं
 मेने निर्धूतकलमपम् ॥ २५ ॥ ज्ञात्वा तमृषयश्चाथ सूर्य-
 लब्धवरं मयम् । परिवत्रुरुपेत्यार्थो ज्ञानं पप्रच्छुराद-
 रात् ॥ २६ ॥ स तेभ्यः प्रददौ प्रीतो ग्रहाणां चरितं महत् ।
 अत्यद्भुततमं लोके रहस्यं ब्रह्मसम्मितम् ॥ २७ ॥

इति सूर्यसिद्धान्ते मानाध्यायश्चतुर्दशः ॥ १४ ॥

भाषानुवाद—इस प्रकार मयासुर को सूर्यांश पुरुष अच्छे प्रकार ज्योतिष
 का उपदेश कर अपने स्वर्गतुल्य सूर्यमण्डल में प्रवेश कर गया ॥ २४ ॥ सूर्यांश
 पुरुष के अन्तर्धान होने पर मयासुर ने सूर्यांश पुरुष से ज्ञान पाने पर भी
 अपने को साक्षात् सूर्य ही से ज्ञान पाया जाना । इस विचार से पापरहित और
 कृतकार्य समझने लगा ॥ २५ ॥ सूर्य के वरदान से ज्योतिष का ज्ञान मयासुर
 को प्राप्त हुआ । ऐसी जनश्रुति सुन कर मुनिगण उस के पास आकर आदर-
 सहित ज्योतिषसम्बन्धी ज्ञान पूछने लगे ॥ २६ ॥ और मयासुर ने भी ऋषियों
 के सत्कार से प्रसन्न होकर उन को ज्योतिष का ज्ञान ग्रहादिकों की स्थित्यादि
 अतिअद्भुत और रहस्य मानो मोक्षशास्त्ररूप का उपदेश किया ॥ २७ ॥

इति सूर्यसिद्धान्ते भाषानुवादे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

समाप्तश्च सूर्यसिद्धान्तः ॥

विशेष ध्यान देने योग्य बात

पृष्ठ १३ की २३ वीं पंक्ति से २४ वें पृष्ठ की प्रथम पंक्ति तक जो विवरण लिखा गया है, उस की अब आवश्यकता नहीं रही, कारण यह है कि ग्रन्थ छपने के पूर्व यह विचार था कि अनुवाद के साथ उदाहरण और चित्र भी दिये जावें परन्तु अनेक कारणों से इस आवृत्ति में चित्र नहीं दिये गये द्वितीय आवृत्ति में आवश्यक चित्र और उदाहरण और मत्पुदाहरण भी दिये जावेंगे ।